पावन स्मरण

साहित्यकारों, मनीषियों और महापुरुषों से संबंधित
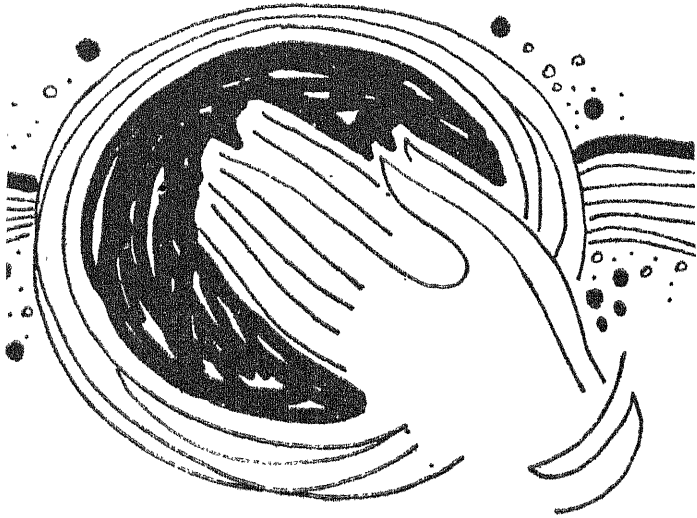
श्रीनारायण चतुर्वेदी

अपने

अनुज तुल्य

स्वर्गीय सुहृद मित्रों

रायबहादुर

श्री भैरवनाथ झा

उपकुलपति, इलाहाबाद, गोरखपुर एवं जोधपुर विश्वविद्यालय

पद्मविभूषण

श्री भोलानाथ झा

आई० सी० एस०

मुख्य सचिव , उत्तर प्रदेश, गृह सचिव, भारत सरकार

और

परम धार्मिक उदारमना

पंडित विष्णुनारायण भार्गव

एवं

अपने स्नेहभाजन शिष्यों

डॉ० सत्यनारायण पांडेय

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, वि० सनातन धर्म कालिज

तथा

पंडित कान्तानाथ पांडेय, 'राजहंस'

प्रिंसिपल, हरिश्चन्द्र कालेज, वाराणसी

की

कटु-मधुर स्नेहपूर्ण स्मृति में

भूमिका

मैंने 'सरस्वती' का साढ़े बीस वर्ष संपादन किया। इस अवधि में हिंदी के जिन उल्लेखनीय हिंदी साहित्यकारों तथा देश और विदेश के विभिन्न क्षेत्रों के मनीषियों और महापुरुषों का स्वर्गवास हुआ, उनमें से कुछ पर मैंने श्रद्धांजलियां लिखीं। हिंदी की साहित्यिक पत्रिका होने के कारण अधिकांश श्रद्धांजलियां हिंदी साहित्यकारों और कार्यकर्ताओं पर थीं; किंतु हिंदी का दृष्टिकोण सदैव उदार और व्यापक रहा है इसलिए अन्य भारतीय भाषाओं के मनीषियों तथा कुछ विदेशी महापुरुषों को भी श्रद्धांजलियां अर्पित की गयीं।

ये टिप्पणियां सामान्यत: औपचारिक शोक-संवाद के रूप में, या लोगों के दिवंगत होने पर केवल शोक-प्रकाश के लिए नहीं लिखी गयीं, प्रत्युत उनका एक उद्देश्य उनके द्वारा संक्षेप में पाठकों को उनके जीवन, महत्व और कृतित्व का परिचय देना भी था।

इस बीच अनेक महापुरुषों की जयंतियां भी मनायी गयीं जिनका उद्देश्य उन महापुरुषों के व्यक्तित्व और कृतित्व का स्मरण करना तथा उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करना था। कुछ महत्वपूर्ण संस्थाओं की भी शतियां मनायी गयीं। उन पर जो टिप्पणियां लिखी गयीं, वे भी एक प्रकार की श्रद्धांजलियां ही हैं।

मेरे अनेक प्रबुद्ध पाठकों और मित्रों की दृष्टि में इनमें से अनेक श्रद्धांजलियां स्थायी महत्त्व की थीं। उनकी सम्मति थी कि वे 'सरस्वती' की पुरानी (और सामान्यत: अनुपलब्ध) फाइलों ही में बंद रखकर भुला देने योग्य नहीं हैं। अतएव जब नेशनल पब्लिशिंग हाउस के उत्साही, सहृदय, जागरूक और साहित्यप्रेमी स्वामी श्री कन्हैयालाल मलिक ने उनका एक संकलन प्रकाशित करने का प्रस्ताव किया तब मैं इसके लिए तुरंत सहमत हो गया।

इन साढ़े बीस वर्षों में मैंने दिवंगत मनीषियों और महापुरुषों पर साढ़े तीन

सौ से अधिक, और शतियों और जयंतियों पर साठ से अधिक टिप्पणियां लिखी थीं। 'सरस्वती' के इतने दिनों के संपादकीयों के दो हजार के लगभग पृष्ठों से इनको छांटना कठिन काम था। संभव है कि कुछ टिप्पणियां मेरी निगाह से छूट गयी हों क्योंकि मुझमें उन्हें दुबारा देखने का धैर्य नहीं था। इनमें से मुझे तीन-साढ़े तीन सौ डिमाई आकार की टिप्पणियां चयन करनी थीं। अतएव उनको चुनते समय मैंने एक तो यह ध्यान रखा कि कोई महत्वपूर्ण मनीषी न छूटे, दूसरे कुछ सामान्य साहित्यकारों पर लिखी टिप्पणियां भी सम्मिलित की जायें जिससे मालूम हो कि मैं केवल बहुप्रचारित और प्रसिद्ध लोगों की ओर ही ध्यान नहीं देता था। भारतीय भाषाओं के कुछ मनीषियों और विदेशी महानुभावों की श्रद्धांजलियों और जयंतियों पर लिखी कुछ टिप्पणियों के नमूने भी देना मैंने आवश्यक समझा। यह भी ध्यान रखा कि जिन विभिन्न शैलियों में टिप्पणियां लिखी गयी हैं, उनका भी कुछ प्रतिनिधित्व हो जाये।

नियतकालिक हिंदी पत्र या पत्रिका के लिए ऐसी टिप्पणियां लिखना कठिन काम है, और मेरे लिए तो और भी कठिन है क्योंकि मैं शौकिया (ऐमेच्योर) लेखक हूं, पेशेवर साहित्यकार या पत्रकार नहीं हूं जिन्हें शीघ्र और अधिक लिखने का अभ्यास तथा लेखनकला पर अधिकार होता है। दूसरे, कभी-कभी लोगों के स्वर्गवास का समाचार पत्रिका प्रकाशित होने के पांच-सात दिन पहले ही मिलता था और अगले अंक मे उन पर टिप्पणी देना आवश्यक समझा जाता था। मेरे लखनऊ में रहने, और 'सरस्वती' के प्रयाग में छपने से समय और भी कम उपलब्ध होता था। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि संपादकीय कम्पोज होने के बाद शोक-संवाद मिला है, और किसी कम महत्त्वपूर्ण टिप्पणी को निकालकर, निकाली हुई टिप्पणी के आकार की श्रद्धांजलि लिखनी पड़ी है। इसलिए टिप्पणियों के गुण और आकार में अंतर आ गया है। कभी-कभी तो समयाभाव और स्थान की कमी के कारण केवल दस-बारह पंक्तियां लिखकर ही संतोष करना पड़ा है। एक तीसरी बड़ी कठिनाई यह भी थी कि हिंदी में लेखकों और महापुरुषों के संदर्भ-ग्रंथों का बड़ा अभाव है। जो एक-दो हैं, वे प्रायः अधूरी जानकारी देते हैं, अद्यतन नहीं हैं। कभी-कभी उनमें दिये तथ्यों की प्रामाणिकता पर भी संदेह होने लगता है। बहुतों की जानकारी मिलती ही नहीं। अंग्रेजी के संदर्भ-ग्रंथ सामान्यतः भारतीय भाषाओं के लेखकों की उपेक्षा करते हैं, और यदि उनके बारे में कुछ दिया भी, तो अत्यंत सूक्ष्म। इसके अतिरिक्त, वे अंग्रेजी ग्रंथ इतने महंगे हैं कि न तो 'सरस्वती' ऐसी घाटे पर चलनेवाली पत्रिका ही उन्हें क्रय कर सकती थी और न मेरा ऐसा पेंशनर ही उन्हें खरीद सकता था।

अतएव मुझे अधिकतर अपनी जानकारी पर, तथा यदि काफी समय मिल जाता तो प्रयास करके जो जानकारी प्राप्त हो जाती उसी पर निर्भर रहना

पड़ता था। किंतु भरसक मैं तथ्यों की विविध स्रोतों या जानकार मित्रों से पुष्टि करके ही उन्हें टिप्पणियों में सम्मिलित करता था, और यह प्रयत्न करता था कि संबंधित महापुरुषों की विशेषता उजागर हो जाय। किंतु उनके संबंध में जो विचार दिये जाते थे वे मेरे अपने होते थे।

परिचित मनीषियों के दिवंगत होने के समाचार से मुझ पर जो तात्कालिक प्रतिक्रिया होती थी, कभी-कभी वह भी शीघ्रता में लिखी टिप्पणियों में परिलक्षित हो गयी है। उदाहरण के लिए, दिनकरजी की मृत्यु पर मेरी टिप्पणी पढ़कर भाई बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने मुझे लिखा था कि वह 'बहुत emotional है।' सेठ गोविन्ददास संबंधी टिप्पणी पढ़कर मेरे एक आदरणीय वरिष्ठ कथाकार मित्र ने कहा था,'यह तो आपने मेरी औपन्यासिक शैली में लिखी है।' वास्तव में श्रद्धांजलियां तात्कालिक प्रतिक्रिया और मनःस्थिति (मूड) पर बहुत कुछ निर्भर होती हैं। मैं इसे अनुभव करता हूं कि घनिष्ठ मित्रों पर तटस्थ भाव से अपनी कल्पना की श्रद्धांजलि लिखना मेरे लिए बहुत कठिन है।

अब जब कभी किसी कारणवश मैं अपनी लिखी कोई श्रद्धांजलि पढ़ता हूं तो वह मुझे 'पावन स्मरण' मालूम होती है। इसलिए मैंने इस छोटे-से संकलन का नाम 'पावन स्मरण' रखा है।

पुस्तक के अंत में मैंने साढ़े बीस वर्ष में 'सरस्वती' में लिखी अपनी श्रद्धांजलियों की एक सूची भी दे दी है जिससे पाठकों को विदित होगा कि दिवंगत हिंदी साहित्यकारों को श्रद्धांजलियां देने में मैंने शालिग्राम की मूर्तियों की तरह छोटे-बड़े का भेद न करके सब का आदर करने का प्रयत्न किया है। इससे यह भी ज्ञात होगा कि मैंने हिंदीतर मनीषियों एवं महापुरुषों के प्रति यथाशक्ति अपनी श्रद्धा के शब्द-सुमन चढ़ाने का प्रयास किया है।

पत्रकारिता का एक अंग शोक-संवाद और स्वर्गवासी व्यक्तियों पर टिप्पणी (ऑबिच्युरी) लिखना भी है। हिंदी-पत्रकारिता के इतिहास में यह इस प्रकार का पहला संकलन है।

यदि हिंदी-प्रेमी और पाठकों को यह रुचिकर या उपादेय मालूम हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

लखनऊ

दीपावली, १९७६

श्रीनारायण चतुर्वेदी

अनुक्रम

श्रद्धांजलियां

जयंतियां

पावन स्मरण

श्रद्धांजलियाँ

(बाबू) अन्नपूर्णानन्दजी

काशी के प्रसिद्ध लेखक बाबू अन्नपूर्णानन्दजी का स्वर्गवास हो गया, यह समाचार सुनकर हमें बड़ा दुःख हुआ। इधर कई वर्षों से बाबू अन्नपूर्णानन्द जी ने साहित्य से संन्यास ले लिया था और वे एकांतवास किया करते थे। वे कुछ दिनों से अस्वस्थ थे और अपने बड़े भाई, राजस्थान के राज्यपाल, डॉ० सम्पूर्णानन्दजी के पास चले गये थे। वहां उनकी दशा बिगड़ गयी और वे वहां के अस्पताल में भर्ती हो गये। उनकी चिकित्सा बड़े मनोयोग से की गयी, किंतु मृत्यु का कोई इलाज नहीं है। वहीं उनका स्वर्गवास हुआ। वे तीन साहित्यिक भाइयों में मध्यमणि के समान थे। बड़े भाई दार्शनिक और गंभीर साहित्य में रुचि लेते थे। दर्शन और साहित्य के प्रकांड पंडित थे। छोटे भाई श्री परिपूर्णानन्दजी आंकड़ों, तथ्यों, अपराध, समाज और आर्थिक जगत् की समस्याओं में उलझे रहते थे। किंतु बाबू अन्नपूर्णानन्दजी पर काशी का चोखा रंग चढ़ा था। उन्होंने हास्य और व्यंग्य के क्षेत्र में यश उपार्जन किया। हिंदी में काशी ही को हास्य और व्यंग्य के लेखक उत्पन्न करने का सबसे अधिक श्रेय है। आज भी बेढब, चोंच, बेधड़क, भैयाजी बनारसी आदि के जोड़ के लेखक अन्य स्थानों में न मिलेंगे। किंतु हास्य रस के लेखक के रूप में हास्य और व्यंग्य की उस नगरी में भी बाबू अन्नपूर्णानन्द का स्थान विशिष्ट और ऊंचा था। उनकी हास्यरस की कहानियां सामयिक विषयों को लेकर नहीं चलतीं, किंतु उन विषयों को लेकर लिखी गयी हैं जिनमें पाठकों की रुचि सदैव बनी रहेगी। उन्होंने हास्यरस की कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं जिनमें 'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला', 'मंगलमोद', 'महाकवि चच्चा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनकी कोई-कोई कहानी तो उनके जीवन-काल ही में 'क्लासिक' हो गयी थी, जैसे 'अकबरी लोटा'। उनकी भाषा बड़ी प्रवाहशील, सरल और चुटीली होती थी। यद्यपि वे कवि होने का दावा नहीं करते थे, तथापि

कभी-कभी छंद भी बना लेते थे। उनकी कहानियों में इन छंदों से विशेष निखार आ जाता था। जो लोग स्वयं कुछ नहीं हैं, किंतु अपने पूर्व पुरुषों की महत्ता का बखान करके अपने निरुद्यम और अयोग्यता पर पर्दा डालना चाहते हैं, उन पर इस छंद में उन्होंने कैसा चुटीला व्यंग्य किया है :

वीर रहे, रणधीर रहे, बलवान रहे, बहु संगर मारे,
पूरन पुण्य प्रताप रहे, सद्ग्रंथ रचे, बहु पंथ सँवारे।
धाक रही अवनीतल में, नर-पुंगव हे पुरुषारथ धारे—
बाप के बाप के बाप के बाप के बाप के बाप के बाप हमारे !

हमें उनके परिचय का सौभाग्य प्राप्त था। वे काशी के कर्ण स्वर्गीय बाबू शिवप्रसाद गुप्तजी के निजी सचिव थे। गुप्तजी हम पर मित्र भाव रखते थे, और काशी में यदि हम कहीं अन्यत्र ठहरते तो जाकर हमें जबर्दस्ती पकड़ लाते थे। गुप्तजी के यहां श्री अन्नपूर्णानन्दजी से हमारा परिचय बढ़कर मित्रता के रूप में आ गया। वे बड़े ही हंसमुख और शालीन सज्जन थे। बहुत-से साहित्यिकों में कार्यकुशलता की कमी होती है। किंतु वे बड़े दक्ष और कुशल कार्यकर्त्ता थे। उनकी सुरुचि भी प्रशंसनीय थी। उनसे मिलकर काशी की संस्कृति और सुरुचि का अच्छा परिचय मिलता था। उनकी कहानियां और कृतियां भावी पीढ़ी के पाठकों का भी मनोरंजन करती और उन्हें आनंद देती रहेंगी।

(मौलाना) अबुल कलाम आजाद

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के एक प्रमुख सेनानी माननीय मौलाना अबुल कलाम आजाद के सहसा देहांत से सारा देश शोकसागर में डूब गया। मौलाना साहिब उन मुसलमानों में अग्रणी थे जिन्होंने 'मनसा वाचा कर्मणा' भारत से प्रेम किया, उसके लिए त्याग किया, कष्ट झेले और यातनाएं सहीं। उनके हृदय में भारत की स्वतंत्रता के लिए कभी न बुझनेवाली प्रचंड आग थी। उनकी राष्ट्री-

यता खरा सोना थी। वे अरबी भाषा और साहित्य के बेजोड़ विद्वान थे। इस्लामी धर्मग्रंथों का उनका ज्ञान अपार था। अपने आरंभिक जीवन में वे पत्रकार थे, और कलकत्ते से उन्होंने 'अल हिलाल' नाम का पत्र निकाला था जिसने मुसलमानों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में बड़ा काम किया था। वे उर्दू के विद्वान और लेखक थे। उनका उर्दू-गद्य आधुनिक युग का 'टकसाली' गद्य माना जाता था। भाषा पर तो उनका अधिकार था ही, साथ ही उनकी शैली बड़ी प्रभावोत्पादक होती थी। उर्दू के इतने बड़े प्रेमी, विद्वान और लेखक होते हुए भी वास्तविकता को स्वीकार कर उन्होंने संविधान सभा में हिंदी को भारत की राजभाषा मान लिया था। उन्हें अपने धर्म पर अडिग आस्था थी, किंतु उनमें धर्मांधता न थी। इसी कारण वे हिंदुओं का विश्वास पा सके। यही कारण था कि क्रिप्स मिशन से कांग्रेस की ओर से वार्तालाप करने के लिए एकमात्र वे ही प्रतिनिधि चुने गये थे। स्वतंत्रता के बाद वे केंद्रीय मंत्रिमंडल में सम्मिलित हुए और उन्हें शिक्षा विभाग मिला। यह उनकी प्रतिभा और योग्यता का जीवित प्रमाण है कि उनके समय में उस विभाग का काम अप्रत्याशित रूप से बढ़ा और उसका व्यय दो करोड़ से तीस करोड़ हो गया। कांग्रेस के वे सुदृढ़ स्तंभ थे और उसकी नीति के निर्माण तथा निर्णयों में उनका पूरा हाथ रहता था। कांग्रेस में उनका प्रभाव सदा रचनात्मक होता था। वे धैर्य किंतु दृढ़ता से तथा उदारता से काम करना पसंद करते थे, और वे अपने मीठे शब्दों से अधीर सुधारकों को काबू में रखते थे। उनके व्यक्तित्व के कारण भारत को पश्चिमी एशिया के देशों से मैत्री-संबंध स्थापित करने में बड़ी सहायता मिली थी। उनकी शिष्टता प्राचीन युग की याद दिलाती थी, और उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व में गौरव, गुरुता और गंभीरता एकसाथ द्योतित थीं। वे आरंभ से ही 'राष्ट्रीय' थे और यही कारण है कि वे केवल पैंतीस वर्ष की अवस्था में कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। न तो उनके पहले और न उनके बाद, इस छोटी अवस्था में कभी कोई व्यक्ति कांग्रेस-अध्यक्ष की गद्दी पर बैठ सका। जितने दिनों वे कांग्रेस के अध्यक्ष रहे, उतने अधिक दिनों और कोई व्यक्ति उस पद पर नहीं रहा। उनसे देश के आंतरिक मामलों में तो मार्ग-दर्शन मिलता ही था, किंतु अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भी उनकी सलाह बड़ी मूल्यवान होती थी। मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल ६९ वर्ष की थी। उनके निधन से देश की अपार क्षति हुई है। किंतु मौलाना आजाद भारत के इतिहास में और कृतज्ञ भारतीयों के हृदयों में सदैव जीवित रहेंगे।
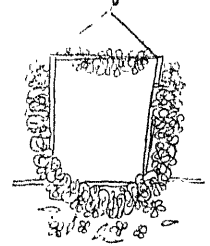
(उस्ताद) अलाउद्दीन खां

११० वर्ष की परिपक्व आयु में भारतीय संगीत के पितामह उस्ताद अलाउद्दीन खां का निधन हो गया। उनके साथ इस देश का एक महान संगीतज्ञ ही नहीं चला गया, प्रत्युत संगीत के एक युग की भी समाप्ति हो गयी। उनके पूर्वज त्रिपुरा के रहनेवाले थे और किसी कारण से हिंदू धर्म को छोड़कर मुसलमान हो गये थे। बचपन ही से उन्हें संगीत से इतना प्रेम था कि वे पढ़ाई छोड़कर घर से भाग गये और कलकत्ते, रामपुर आदि में बड़े-बड़े उस्तादों से उन्होंने नाना प्रकार के वाद्य यंत्रों का बजाना सीखा और बीसियों वर्ष की अनवरत एवं कठिन साधना के बाद वे संगीत-शास्त्र में पारंगत हो गये। अंत में मैहर-नरेश के आमंत्रण पर वे मैहर चले गये और वहीं बस गये। यों तो वे उच्च श्रेणी के गायक और सभी वाद्य यंत्रों को बजाने में पटु थे किंतु सरोद-वादन में वे बेजोड़ थे। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कलाकार ही नहीं थे, उन्होंने सैकड़ों युवकों को संगीत की शिक्षा दी जिनमें मैहर के महाराज ब्रजेन्द्रसिंह भी थे। वे यह नहीं भूले थे कि उनके पूर्वज हिंदू थे, इसलिए उनमें हिंदू धर्म के प्रति आदर-भाव था। उनमें सांप्रदायिक कट्टरता बिलकुल नहीं थी। वे मैहर की प्रसिद्ध शारदा देवी के भक्त थे और उन्होंने अपनी एक लड़की का नाम अन्नपूर्णा रखा था जिसका विवाह प्रसिद्ध सितार-वादक प० रविशंकर से कर दिया। उनकी पत्नी का नाम भी मंजरी था। महान् संगीतज्ञ होने और अपने हृदय की विशालता और उदारता के कारण वे बड़े लोकप्रिय थे। उनके ऊपर अनेक राजाओं ने सम्मान की वर्षा की और भारत सरकार ने भी उन्हें 'पद्मभूषण' से अलंकृत किया था। उनके सुपुत्र अली अकबर खां भी इस समय चोटी के गायक हैं। उनकी मृत्यु से भारतीय संगीत का एक अपूर्व प्रेरणास्रोत सूख गया।

(श्री) कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

हमें अत्यंत दुःख है कि हिंदी साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष, गुजराती के यशस्वी लेखक, भारतीय विद्या भवन के संस्थापक, बंबई सरकार और भारत सरकार के भूतपूर्व मंत्री, हैदराबाद के भूतपूर्व प्रशासक, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल, साहित्यवाचस्पति श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु बंबई में मलाबार स्थित अपने निवास-स्थान पर ८ फरवरी, १९७१ को हुई।

उनका जन्म १८८७ में हुआ था और उन्होंने शिक्षा बड़ौदा में पायी। बी० ए० और एल-एल० बी० करने के बाद वे बंबई में वकालत करने लगे और उसमें वे इतने सफल हुए कि शीघ्र ही उनकी गणना बंबई के प्रमुख वकीलों में होने लगी। किंतु उनकी बहुमुखी प्रतिभा केवल सफल वकालत से संतुष्ट नहीं रह सकती थी। उनमें कल्पना, दूरदर्शिता और अपनी संस्कृति और साहित्य के प्रति अगाध निष्ठा थी। उनमें बड़ी उच्च कोटि की साहित्यिक प्रतिभा थी, उनमें उद्दाम राष्ट्रप्रेम था। अतएव उनका जीवन विविध क्षेत्रों में ठोस काम करते हुए बीता।

साहित्य में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। गुजराती भाषा के वे अपने समय के प्रमुख लेखकों में गिने जाते थे। उनके उपन्यास अधिकतर ऐतिहासिक हैं और गुजरात के अतीत गौरव का हृदयग्राही चित्रण करते हैं। उनके उपन्यास बड़े लोकप्रिय हुए और उनका अनुवाद अनेक भाषाओं में हुआ है। हिंदी में भी उनके उपन्यासों का अनुवाद हो चुका है। उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने इतिहास और भारतीय संस्कृति पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। यदि उन्होंने और कुछ न किया होता तो भी उच्चकोटि के साहित्यकार के रूप में उनका यशःशरीर चिरजीवी रहता।

कुछ तो देश की अखंडता के लिए एक भारतीय भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने

की आवश्यकता का अनुभव करके, और कुछ महात्माजी के प्रभाव से वे हिंदी के समर्थक हो गये थे, और वे हिंदी में इतनी रुचि लेने लगे थे कि हिंदी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन ले सभापति चुने गये थे। उनका अध्यक्षीय भाषण उनके अनुरूप विद्वत्तापूर्ण तथा प्रभावशाली था। वह हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापतियों के भाषणों में अपना विशेष स्थान रखता है। संविधान सभा में भी हिंदी को राजभाषा बनाने के लिए उन्होंने राजर्षि टंडन के साथ सहयोग किया था। किंतु इधर विशेषकर जब से वे विद्या भवन की स्थापना और उसकी उन्नति में लग गये और स्वतंत्र पार्टी में सम्मिलित हो गये तब से वे हिंदी के प्रति उदासीन-से हो गये थे।

उनका राजनीतिक जीवन भी बड़ा सफल रहा। वे अपने समय के राष्ट्रीय प्रेमियों की तरह गांधीजी के प्रभाव में आये और खादी के इतने हिमायती थे कि अंत तक खादी के परिधान ही पहनते रहे। जब वे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे तब भी वे सदैव शुभ्र खादी की धोती, लंबा बंद गले का कोट और ऊंची टोपी धारण करते थे। राज्यपाल होने पर उन्होंने अन्य राज्यपालों की तरह अंग्रेजी कपड़े या मुस्लिम युग का चूड़ीदार पायजामा और शेरवानी पहनना आवश्यक नहीं समझा। यह उनके खादी-प्रेम और सांस्कृतिक चेतना का प्रत्यक्ष परिचायक था। खादी ही नहीं, उन्होंने कांग्रेस के अन्य कार्यक्रमों में भी भाग लिया और १९२७ में वे तत्कालीन बंबई लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्य चुने गये। तब से उनका वैधानिक और राजनीतिक जीवन आरंभ हुआ। वे कई वर्ष बंबई राज्य के गृहमंत्री रहे। जब संविधान सभा बनी तब वे उसके सदस्य चुने गये। वे उस समिति के सदस्य भी थे जिसने भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार किया। और अपनी संवैधानिक सूझ-बूझ के कारण वे उसके प्रभावशाली सदस्यों में थे। इस प्रकार भारत का संविधान बनाने में उनका बड़ा सहयोग था। बाद में वे केंद्रीय सरकार के मंत्रिमंडल में आ गये और खाद्य एवं कृषि मंत्री हो गये। उन्होंने वनों की आर्थिक महत्ता, राष्ट्रीय जीवन में उनकी उपयोगिता एवं अपनी सुरुचि और सांस्कृतिक दृष्टिकोण के कारण ठीक तरह से समझा। इस देश में दिनों-दिन वनों के कम होते जाने से वे चिंतित थे और उन्होंने उनकी वृद्धि के लिए बड़ा प्रयत्न किया। उन्होंने देखा कि वनों की सुरक्षा और विस्तार तभी संभव है जब जनता में उनके प्रति चेतना हो, इस उद्देश्य से उन्होंने 'वन-महोत्सव' का आयोजन किया जिसका मुख्य कार्य अधिकाधिक लोगों के द्वारा वर्ष में एक बार एक नये पौधे को लगाना था। इससे जनता पेड़ों और वनों के महत्त्व को समझने लगी, किंतु कितनी भी अच्छी योजना क्यों न हो वह सरकारी तंत्र के द्वारा परिचालित होने पर प्राणहीन होकर यंत्रवत् चलती रहती है और एक सरकारी 'रोटीन' बनकर रह जाती है। वन-महोत्सव में लगाये गये पौधों की दो-तीन वर्ष देखभाल करनी पड़ती है। उसके अभाव में अधिकांश पौधे कुछ

ही दिनों में नष्ट हो जाते हैं। मुंशीजी के कृषि मंत्री के पद से हटने के बाद भी वह अत्यंत कल्पनाशील और उपयोगी योजना प्राणहीन हो गयी। किंतु इसके कारण मुंशीजी की योजना की मौलिकता और उपयोगिता में कमी नहीं हुई। इस अत्यंत उपयोगी कार्य के लिए वे सदैव याद रखे जायेंगे।

मुंशीजी एक सत्र के लिए उत्तर प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त हुए। वहां उन्होंने अनेक सांस्कृतिक और शैक्षणिक कामों में रुचि ली। अंग्रेजी ढंग से बने और सजे राजभवन में उन्होंने भारतीय संस्कृति की याद दिलाने के लिए एक 'गुप्त कक्ष' बनाया जो गुप्तकालीन ढंग से सजाया गया है, जिसमें उनकी मुद्राओं पर अंकित समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उभरे हुए सुनहले चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए उन्होंने आगरे में, विश्वविद्यालय के अंग के रूप में, के० एम० मुंशी हिंदी इंस्टिट्यूट की स्थापना की जो उत्तर प्रदेश में उनका स्थायी स्मारक है।

किंतु उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बंबई में भारतीय विद्या भवन की स्थापना थी। उनके जीवन का अंतिम भाग उसकी एकनिष्ठ सेवा में व्यतीत हुआ। उनकी यह संस्था विश्वविद्यालयीय स्तर की है और इसका उद्देश्य शिक्षा और साहित्य के द्वारा भारतीय संस्कृति और विद्या का उन्नयन है। भारत तभी अपनी आत्मा पहचान सकेगा और जीवन के मूल्यों को विवेक के साथ ग्रहण कर सकेगा जब भावी पीढ़ी को भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप समझा दिया जाय और उसमें उन परिवर्तनों को करने की रुचि और क्षमता उत्पन्न कर दी जाय जो उसके आधारभूत सिद्धांतों को क्षति पहुंचाये बिना किये जा सकते हैं। इसी उद्देश्य से महामना मालवीयजी ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी, किंतु जो बाद में अपने मूल उद्देश्य को भुलाकर अन्य आधुनिक पाश्चात्य ढंग के विश्वविद्यालयों का अनुसरण करने लगा। श्री मुंशी का कार्य भी वैसा ही है, किंतु अधिक व्यावहारिक होने और ऐसी अन्य उच्च शैक्षणिक संस्थाओं के उत्थान-पतन के निरीक्षण से लाभ उठाकर उन्होंने भारतीय विद्याभवन को ऐसे ढंग से निर्मित और संगठित किया कि पुरानी भूलें न दुहरायी जा सकें। वे उसके मृत्यु-पर्यंत कुलपति रहे, और उसके संचालन के लिए उन्होंने सुदृढ़ एवं स्वस्थ परंपराएं डालीं। इस प्रकार वे भारत के स्मरणीय शिक्षाशास्त्रियों में गिने जायेंगे। किंतु उन्होंने अनुभव किया कि केवल शिक्षा संस्थाओं से ही काम न चलेगा। शिक्षित व्यक्तियों को भी प्रबुद्ध करने की आवश्यकता है। इसके लिए उन्होंने भारतीय विद्या भवन के द्वारा भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य पर प्रामाणिक, सुपाठ्य और आकर्षक पुस्तकों और पुस्तक-मालाओं के प्रकाशन का भी आयोजन किया। इन पुस्तकों का काफी प्रचार हुआ और वे आज के भारतीयों को ही नहीं, भावी पीढ़ियों को भी ज्ञान और प्रेरणा देती रहेंगी।

श्री मुंशी के निधन से भारत ने अपना एक महान सपूत खो दिया। भारतीय संस्कृति का ऐसा दूसरा निष्ठावान प्रचारक इस समय कोई दूसरा नहीं दीखता। यह क्षति अपूरणीय है। हम उनकी विदग्ध सहधर्मिणी श्रीमती लीलावती मुंशी तथा उनके परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति हार्दिक और विनम्र समवेदना व्यक्त करते हैं।
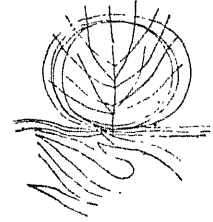
(सेठ) कन्हैयालाल पोद्दार

साहित्य वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के निधन से हमारी साहित्यिक परंपरा की एक श्रृंखला समाप्त हो गयी। सेठ जी ने भारतेन्दु-युग के उत्तरार्द्ध में साहित्य-सेवा आरंभ की थी। उनका पहला लेख हिंदी के प्रथम दैनिक पत्र 'हिंदोस्थान' में निकला था। उस समय इस पत्र के संपादक महामना पंडित मदनमोहन मालवीय थे। 'सरस्वती' के निकलने पर सेठ जी ने उसके प्रथम वर्ष में ही उसमें लिखना आरंभ किया था। अभी तक 'सरस्वती' के उन लेखकों में वे ही जीवित थे जिन्होंने उसके प्रथम वर्ष में उसमें लेख लिखा था। इस कारण 'सरस्वती' को उनके निधन से परिवार के सबसे बूढ़े व्यक्ति के दिवंगत हो जाने का दुःख है। सेठ जी कवि, लेखक, अलंकार और पिंगल के प्रकांड पंडित तथा उच्च श्रेणी के आलोचक थे। वे ब्रजभाषा-काव्य के बड़े प्रेमी थे और ब्रजभाषा में कविता भी करते थे। किंतु जब खड़ी बोली का युग आरंभ हुआ तब सबसे पहले उन्होंने 'भर्तृहरिशतक' का खड़ी बोली में अनुवाद करके 'हिंदोस्थान' में प्रकाशित कराया। 'सरस्वती' में भी उन्होंने खड़ी बोली की कविताएं प्रकाशित कीं। और उनकी कोयल नाम की कविता तो कुछ वर्षों पहले तक मिडिल कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में होने के कारण बहुत प्रचारित हो गयी थी। उनसे पहले हिंदी में काव्यशास्त्र के ग्रंथ कविता में ही लिखे जाते थे, और काव्य ग्रंथ रूपी सोपान का निर्माण कर पुराने समय के विद्वान आचार्यत्व पद पर पहुंचा करते थे। खड़ी बोली गद्य का विकास हो जाने पर सबसे पहले सेठ जी ने ही काव्यशास्त्र पर हिंदी गद्य में पहली

सांगोपांग पुस्तक लिखी जो आज भी प्रामाणिक मानी जाती है। काव्यशास्त्र का विषय इतना गंभीर और जटिल है कि साधारण विद्वान उस क्षेत्र में जाने का साहस नहीं करता। इस संबंध में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि अलंकारों के मरकहा बैल के सींग पकड़ कर उसे सीधा कर लेना, हम सचमुच सेठ जी का साका कहेंगे। सेठ जी अलंकार के विषय को अपने साहित्यिक आंगन में कलोर बछड़े की तरह खेलते हुए पा सके, यह उनकी जन्मान्तर-सिद्धि है। सेठ जी के बाद तो कितने ही विद्वानों ने इस विषय पर गद्य में पुस्तकें लिखीं किंतु जो मौलिकता, ताजगी और स्पष्टता सेठ जी की पुस्तक में है वह अन्यत्र देखने को नहीं मिली। सेठ जी ऊंचे दर्जे के समीक्षक भी थे। उनके समीक्षा संबंधी लेख विद्वत्तापूर्ण और पैनी सूझ के कारण सदैव रुचि और आदर के साथ पढ़े जायेंगे। उनका 'मेघदूत-विमर्श' बड़ा अनोखा ग्रंथ है और उसमें उनके गहन अध्ययन, साहित्यिक पैठ और मौलिक सूझ का पग-पग पर प्रमाण मिलता है। आधुनिक हिंदी गद्य और पद्य तथा समीक्षा के विकास में सेठ जी की सेवाएं हिंदी के इतिहास में अमर रहेंगी। सेठ जी का सारा अध्ययन अपने शौक के कारण था, इस दृष्टि से वे सच्चे साहित्य-सेवी थे। जब उनकी अवस्था केवल बारह साल की थी, तभी उनके पिता और पितामह का देहांत हो गया था और पैतृक व्यापार का बोझ उनके ऊपर आ गया था। अध्ययन करने की न तो उन्हें कोई आवश्यकता थी और न उसके लिए उनके ऊपर कोई दबाव था। किंतु फिर भी विद्या से स्वाभाविक अनुराग और अपूर्व प्रतिभा होने के कारण उन्होंने स्वयं संस्कृत साहित्य का सांगोपांग अध्ययन किया। वह अध्ययन कितना गहरा था, इसका प्रमाण उनके लेखों और ग्रंथों में पग-पग पर मिलता है। साहित्य-सेवी होने पर भी उन्होंने व्यापार में बड़ी सफलता प्राप्त की और कलकत्ते के व्यापारी वर्ग में भी उन्होंने सुसम्मानित स्थान बना लिया। दो-तीन वर्ष पहले ब्रज-साहित्य मंडल ने उन्हें एक बृहत् अभिदननं-ग्रंथ भेंट करके उनका साहित्यिक समादर किया था। इस ग्रंथ के संपादकों में प्रमुख थे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल। यह ग्रंथ सेठ जी की विद्वत्ता और साहित्य-सेवा के सर्वथा अनुरूप था। हिंदी में अभी तक इतना सर्वांगीण सुंदर अभिनंदन-ग्रंथ नहीं निकला। सेठ जी वैष्णव थे, मथुरा में उनका मुख्य निवास-स्थान था और ब्रज से उनका प्रगाढ़ प्रेम था। इस ग्रंथ में ब्रज-साहित्य और संस्कृति की अभूतपूर्व सामग्री एकत्र और सुसंपादित करके प्रस्तुत की गयी है। इधर हिंदी में अभिनंदन-ग्रंथों और अभिनंदन-समारोहों की बाढ़ आयी है, और साधारणतः उनके प्रति समझदार लोग उदासीन रहते हैं। किंतु यह ग्रंथ और यह समारोह अपवाद थे। उनकी साहित्यिक सेवा के उपलक्ष्य में हिंदी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया था। सेठ जी विनम्रता और सौजन्य की मूर्ति थे। हम जब-जब उनसे मिले

तब-तब हमें यह अनुभव हुआ कि हम एक साहित्यिक तपस्वी के दर्शनों का लाभ उठा रहे हैं। साहित्यिक चर्चा के साथ उनका आग्रहपूर्वक जलपान और बम्बई के आमों का स्वाद कभी नहीं भूलेगा। 'मेघदूत-विमर्श' का अंतिम संस्करण समाप्त हो गया था, और उन्होंने आग्रह किया था कि मैं उसके दूसरे संस्करण का शीघ्र प्रबंध कर दूं। खेद है कि वह दूसरा संस्करण उनके जीवनकाल में प्रकाशित न हो सका। हिंदी के निष्काम सेवक, ऊंचे विद्वान, सफल व्यवसायी के अतिरिक्त सरस्वती के सबसे पुराने जीवित लेखक होने के कारण हमारी उन पर अपार श्रद्धा थी, और उन्होंने भी अपना स्निग्ध नेह देकर हमें गौरवान्वित किया था। उनके निधन पर उनके प्रति विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हम हार्दिक संवेदना प्रकट करते हैं। किंतु सेठ जी का यशःशरीर अमर है। वे हिंदी-साहित्य के इतिहास में नक्षत्र के समान सदैव चमकते रहेंगे और हिंदी-सेवियों को प्रेरणा देते रहेंगे।
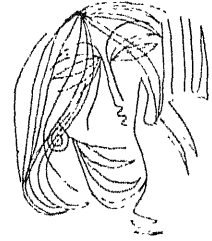
(डॉक्टर) कर्वे

१०४ वर्ष की परिपक्व अवस्था में भारतरत्न डॉ० धोंडो केशव कर्वे का देहांत हो गया। उनके उज्ज्वल चरित्र और प्रशंसनीय कार्यों के कारण लोग उन्हें श्रद्धा से 'महर्षि कर्वे' कहा करते थे। वे दरिद्र ही नहीं, अत्यंत दरिद्र परिवार में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने अपने अध्यवसाय और एकांत लगन से उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। देश की दुर्दशा का मुख्य कारण उन्हें शिक्षा की कमी मालूम हुई, इसलिए उन्होंने अपना जीवन शिक्षा के प्रचार में लगा दिया। स्त्रियों की शिक्षा को वे बहुत महत्त्व देते थे और समाज में विधवाओं, विशेषकर बाल-विधवाओं की दुर्दशा देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था। विधवाओं की अवस्था सुधारने के लिए वे उन्हें स्वावलंबी बनाना चाहते थे, और विधवा-विवाह के पक्षपाती भी थे। किंतु वे केवल वाक्शूर ही नहीं थे। जब उनकी

पहली पत्नी का देहांत हो गया तो उन्होंने जान-बूझकर एक विधवा से विवाह किया। उस युग में, विशेषकर पुरानी चाल के महाराष्ट्र-ब्राह्मण परिवारों में, यह काम बड़े साहस का था। किंतु कर्वे जी ने समाज के विरोध की परवाह न करके अपने विश्वासों के प्रति निष्ठा दिखलाने में तनिक भी हिचक न की। दम्भ से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। एक बार महाराष्ट्र के एक बहुत बड़े नेता किसी सभा के सभापति हुए। वे भी अपने को समाज-सुधारक कहते थे, किंतु पहली पत्नी की मृत्यु पर उन्होंने एक कुमारी से विवाह कर लिया था। कर्वेजी को भी उस सभा में बोलने को कहा गया। कर्वेजी उस समय साधारण हैसियत के व्यक्ति थे, किंतु उन्होंने भरी सभा में सभापतिजी की कथनी और करनी के अंतर की बड़ी कड़ी आलोचना की। पूना के पास हिंगने में उन्होंने विधवाओं के लिए एक आश्रम खोला जिसमें हस्तकला के अतिरिक्त उन्हें सामान्य शिक्षा भी दी जाती थी। कर्वेजी उसे चलाने के लिए अपनी अल्प आय उसमें लगा देते थे। धीरे-धीरे उनकी सदाशयता और सफलता का कुछ और लोगों पर भी प्रभाव पड़ा और वह आश्रम एक विद्यालय हो गया। स्त्रियों को वे जैसी शिक्षा देना चाहते थे वह सरकारी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम से भिन्न थी। इसलिए उन्होंने अपने विद्यालय का पाठ्यक्रम स्वतंत्र रखा और आश्रम ही परीक्षा लेने और प्रमाणपत्र देने लगा। आज उनका विद्यालय सरकार से मान्य विश्वविद्यालय है। उन्होंने अकेले स्त्री-शिक्षा और स्त्री-जागृति के लिए जो कार्य किया है उसका उदाहरण देश में अन्यत्र नहीं मिलता। महाराष्ट्र में स्त्रियों की जागृति में उनका प्रमुख हाथ था। वे स्वभाव के बड़े सरल थे और बनावट उनको छू तक नहीं गयी थी। उन्होंने कितने ही लोगों को प्रेरणा दी और यह उनकी तपस्या का ही फल है कि महाराष्ट्र का स्त्री-समाज आज इतना उन्नत है। भारत सरकार ने इस महान पुरुष को 'भारत-रत्न' के सर्वोच्च सम्मान से सम्मानित किया था। भगवान की कृपा से उन्हें अपने लगाये पौदे को पल्लवित, कुसुमित और सफल होते देखने का संतोष प्राप्त हुआ। उनकी स्मृति अनेक पीढ़ियों को समाज-सेवा, शिक्षा और स्त्री-समाज की उन्नति के लिए प्रेरित करती रहेगी। हम उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तरह ही कर्वेजी का ध्यान हिंदू महिलाओं—विशेषकर हिंदू विधवाओं—की दुर्दशा की ओर गया। अनुपम साहस, त्याग और लगन के साथ एकनिष्ठ होकर उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा का कार्य आरंभ किया और विधवा-विवाह का प्रचार किया। विधवा-विवाह के प्रचार में उन्हें जो भी सफलता मिली हो, किंतु महाराष्ट्र में स्त्री-शिक्षा के प्रचार में उन्होंने जो काम किया वह देश में बेजोड़ है। महाराष्ट्र में स्त्री-शिक्षा की नींव तो उन्होंने डाली ही, उस नींव को सुदृढ़ करके उस पर विशाल भवन का निर्माण भी किया।

उनका स्थापित किया हुआ पूना का एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय आज देश की मान्य, प्रतिष्ठित और अत्यंत उपयोगी संस्था है। उनकी स्थापित की हुई दूसरी संस्था, हिंगने आश्रम, स्त्रियों के लिए महत्त्वपूर्ण आश्रय है। विरोधों और तरह-तरह की कठिनाइयों से उन्हें संघर्ष करना पड़ा, किंतु सच्चे महान पुरुष होने के कारण न तो वे उनसे विचलित हुए और न छोटे आदमियों की तरह उनका कभी उन्होंने रोना ही रोया। आज देश में जो महिला-जागृति और महिला-शिक्षा का प्रसार है, उसका बहुत कुछ श्रेय कर्वेजी को है। व्यक्तिगत जीवन में वे बड़े सादे और सरल थे। सौ वर्ष की अवस्था में भी उनकी बुद्धि तीव्र थी, वे काफी चलते-फिरते और जीवन का रस लेते थे। प्रधान मंत्री नेहरू ने उनको संबोधन करते हुए ठीक ही कहा था कि "आप जीवन के रस (निमक) हैं।"

भारत सरकार ने उन्हें 'भारत-रत्न' की उपाधि से विभूषित किया और उनके सम्मान में एक विशेष डाक-टिकट भी प्रसारित किया। हम नहीं जानते कि इससे पहले कभी किसी अराजनीतिक महापुरुष के जीवन-काल में इस प्रकार डाक-टिकट निकालकर उसका सम्मान किया गया है।

भारत में अतीत काल से सौ वर्ष जीने का आशीर्वाद दिया जाता रहा है— जीवेम शरदः शतं। शायद प्राचीन आर्यों की दीर्घायु होती थी, किंतु इधर सदियों से सौ वर्ष की आयु बिरलों को ही मिलती है। हमारे सौभाग्य से महाराष्ट्र के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और समाज-सुधारक श्री कर्वे ने अपने जीवन के एक सौ चार वर्ष पूरे किये।
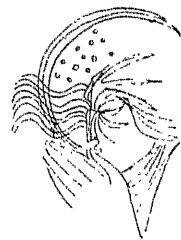
(श्री) कान्तानाथ पांडेय

काशी का राजहंस उड़ गया!

हमें रेडियो से यह संवाद सुनकर असह्य वेदना हुई कि २२ नवम्बर, १९७२ को हमारे स्नेहभाजन पं० कान्तानाथ पांडेय का हृदयगति के रुक जाने से काशीवास

हो गया। सन् १९३४ में जब हम फैजाबाद और गोरखपुर डिवीजनों के इंस्पेक्टर आफ स्कूल्स थे, तब हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि पूर्वी जिले होने पर भी गोंडा, बहराइच, गोरखपुर आदि नगरों के तथाकथित पढ़े-लिखे लोगों में उर्दू का काफी प्रचार है और उनके कारण विद्यार्थियों के हिंदी संस्कार भी ठीक तरह से नहीं बन पाते। इसलिए हमने दो काम किये। एक तो हिंदी प्रचार के लिए कवि-सम्मेलनों के आयोजन किये और दूसरे, विद्यार्थियों में हिंदी अंत्याक्षरी की प्रतिस्पर्द्धाएं आरंभ कीं। ये दोनों आयोजन बहुत सफल हुए। कवि-सम्मेलनों के आयोजित करने में हमें गोरखपुर के तत्कालीन इनकम टैक्स आफिसर (जो बाद में सेंट्रल बोर्ड ऑफ रेवेन्यू के चेयरमैन और भारत सरकार के संयुक्त वित्त सचिव के पदों से सेवामुक्त हुए) स्व० ठाकुर जमुनाप्रसादसिंहजी का पूरा सहयोग मिला। किंतु उनकी सफलता का मुख्य श्रेय उन कवि मित्रों को था जो हमारे अनुरोध से उनमें बराबर सम्मिलित होते थे—और वह भी हिंदी प्रचार के लिए अपना मार्ग-व्यय देकर और बिना कोई फीस लिये। उनमें निरालाजी, पं० सोहनलाल द्विवेदी, पं० श्यामनारायण पांडेय, डॉक्टर सत्यनारायण पांडेय, श्री रामचन्द्र द्विवेदी प्रदीप, कानपुर के मिलिन्दजी, आशुकवि पं० जगमोहननाथ अवस्थी प्रमुख थे। किंतु इनमें हास्यरस का कोई कवि नहीं था और हमें उस रस के कवि का अभाव खटकता था। संयोग से हमें काशी के 'चोंच' कवि का पता चला और हमने उन्हें एक बार आग्रहपूर्वक निमंत्रित किया। वे हमारे शिष्य श्री रामबहोरी शुक्ल (जो उस समय क्वीन्स कालिज, बनारस में प्राध्यापक थे) के विद्यार्थी थे। इसलिए उनका सहयोग हमें सहज ही मिल गया। बाद में हमारे मित्र स्व० बेढबजी और स्व० पंडित रामचरित्र पांडेय भी हमारी मंडली में सम्मिलित हो गये। इन कवि-सम्मेलनों ने तीन-चार वर्षों ही में उन जिलों में जो हिंदी-प्रेम जाग्रत किया और उसका जो प्रचार किया उसे वहां के पुराने लोग भली भांति जानते हैं।

'चोंचजी' तब विद्यार्थी थे। उनका नाम कान्तानाथ पांडेय था। बाद में उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से एम० ए० किया और हमने उन्हें गोरखपुर के इस्लामिया इंटर कालिज में हिंदी का प्राध्यापक नियुक्त करा दिया। किंतु उनका काशी-प्रेम इतना प्रबल था कि उनका मन गोरखपुर में नहीं लगा और प्रयत्न कर वे भारतेन्दु द्वारा स्थापित हरिश्चन्द्र कालिज में प्राध्यापक होकर काशी लौट गये और उन्नति करते-करते उसके प्रिंसिपल हो गये। वे कवि होते हुए भी बड़े अनुशासन और नियम-प्रिय थे। आजकल के अराजक युग में ये गुण भयंकर हैं। ठीक शिक्षक-दिवस के दिन कुछ असंतुष्ट विद्यार्थियों ने रास्ते में (जब वे रिक्शा पर घर लौट रहे थे) उन पर घातक आक्रमण किया। उनके पेट में छुरा भोंक दिया और दाहिने पैर पर लाठी का ऐसा प्रहार किया कि वह टूट गया।

जब हमने यह समाचार सुना तब हम उन्हें देखने विश्वविद्यालय के अस्पताल गये। हमने उनके सिर पर हाथ फेरकर उनका हाल पूछा। वे इतने सहृदय थे कि हमारे जाने और स्नेह-प्रदर्शन से अभिभूत होकर बच्चों की तरह स्नेहातिरेक से रो पड़े। अक्टूबर, १९७२ के मनोरंजक संस्मरण में हमने उस घटना का दूसरे ढंग से वर्णन किया है। उनका घाव भर गया था, पर टांग ठीक तरह से नहीं जुड़ पायी थी। उसमें समय की अपेक्षा थी। डाक्टरों ने उन्हें घर जाने की सलाह दी। वे घर चले गये। किंतु मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मफलों के अनुसार अपनी आयु लेकर आता है। वे उस घातक आक्रमण से तो बच गये किंतु उन ऐसे सहृदय और संचेत्य व्यक्ति के हृदय पर उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। अंत में हृदय ने जवाब दे दिया। वह रुक गया। 'यद् यद् भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।'

कान्तानाथजी ने हास्यरस के द्वार से काव्य-जगत् में प्रवेश किया था। हमने (जब हम स्वयं विद्यार्थी थे) स्वयं हास्यरस में लिखा था—यद्यपि पद्य में। हमने अपने लेखों के संग्रह का नाम 'चोंच महाकाव्य' रखा था और वह छद्मनाम से छपा था। उस समय विद्यार्थियों में उसकी बड़ी चर्चा रही। उस युग में भी जब हिंदी पुस्तकें कम बिकती थीं, उसके दो संस्करण हुए। उसी से प्रेरित होकर कान्तानाथ ने अपना उपनाम 'चोंच' रख लिया था। किंतु वे गंभीर कविताएं भी लिखते थे जिनके संबंध में हम आगे बतायेंगे। जब वे प्रोफेसर हो गये तब हमने उन्हें अपना उपनाम बदलने को कहा और उन्होंने अपना उपनाम 'राजहंस' रख लिया, किंतु 'चोंच' नाम इतना प्रचलित हो गया था कि उसने अंत तक उनका पीछा नहीं छोड़ा। 'टाइम्स आफ इंडिया' ने भी उनकी मृत्यु के समाचार में उनके 'चोंच' उपनाम का ही प्रयोग किया था।

कान्तानाथ पांडेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विद्यार्थी थे। उनकी पैनी दृष्टि ने उन्हें ठीक तरह से परखा। उन्होंने एक जगह लिखा है—"इनकी अवस्था अभी थोड़ी है। अपनी प्रफुल्लता की उमंग में पहले इन्होंने जीवन के हास्यजनक पक्ष को देखा; अब धीरे-धीरे ये उसके गंभीर मार्मिक पक्षों का भी साक्षात्कार करते जा रहे हैं। इनमें दृष्टि की स्वच्छता है, अनेक रूपात्मक विश्वकाव्य के अनुशीलन की क्षमता है और सदा जागती रहनेवाली प्रतिभा है जो कुछ कर दिखाने के लिए हरदम तैयार रहती है। छेड़े जाने पर इनकी कल्पना पंख फड़फड़ाकर उड़ पड़ती है और 'चोंच' चलाने लगती है। संस्कृत-साहित्य के सम्यक् अध्ययन, हिंदी-काव्य-परंपरा के पूर्ण परिचय और अंग्रेजी की उच्च शिक्षा के प्रभाव से इनकी दृष्टि विस्तृत, भावना पुष्ट और भाषा परिष्कृत है।" आचार्य शुक्ल के इस मूल्यांकन के बाद हमें कान्तानाथजी की विद्वत्ता और प्रतिभा एवं स्वभाव के संबंध में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

जैसा कि हमने कहा है, उन्होंने काव्यजगत् में हास्य-रस के कवि के रूप में

प्रवेश किया और इतनी ख्याति पायी कि कवि-सम्मेलनों में लोग उनसे हास्यरस की कविता ही सुनाने का आग्रह करते और उन्हें अपनी गंभीर कविताओं को पढ़ने का अवसर ही न देते थे। गोष्ठियों में भी बहुधा यही होता था। गंभीर कविताओं में पहले वे 'नाथ' और बाद में 'राजहंस' के उपनाम की छाप लगाने लगे थे। उनका ब्रजभाषा और खड़ीबोली पर समान अधिकार था—जो कम ही कवियों में देखा जाता है। चूंकि उन्होंने हास्यरस से कवि-जीवन आरंभ किया था, अतः हम आरंभ में उनकी कुछ इसी रस की कविताओं के नमूने देते हैं। कुछ में विशुद्ध हास्य है और कुछ में व्यंग्य। वे पैरोडियां भी बहुत अच्छी किंतु सार्थक और व्यंग्यात्मक लिखते थे। कभी उर्दू बहर में भी लिख जाते थे। जैसे—

कल जो गया पार्क में मैं उस मिस से मिलने
देखा कि बेंच पर अब्बा हमारे बैठे हैं।

रसखान के एक छंद की 'पैरोडी' देखिए—

मानुष हौं तौ वहै कवि 'चोंच'
बसौं सिटी लंदन के किसी द्वारे।
जौ पशु हौं तौ बनों बुलडॉग
चलौं चढ़ि 'कार' में पूँछ निकारे।
पाहन हौं तौ थिएटर हॉल कौ
बैठें जहाँ 'मिस' पाँव पसारे।
जो खग हौं तो बसेरो करौं
चढ़ि 'ओक' पै 'टेम्स' नदी के किनारे।

पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित और अंग्रेजी सभ्यता का अंधानुकरण करने-वालों पर यह तीखा व्यंग्य है। इसी रंग का एक और छंद देखिए—

'लोटस' ऐसे हैं लोचन लोल त्यों
ग्रीवा मनोहर 'जार' (jar) सरीखी।
मोहक 'माउथ' 'मून' सा मंजुल,
है कटि त्यों 'थिन' तार सरीखी।
बाले! तुम्हारी बड़ी द्रुत चाल है
हैनरी फोर्ड की 'कार' (Car) सरीखी।
हार गया करके मैं सिफारिश,
तू न हुई मुझे हार सरीखी।

ये तो उनके हास्य और व्यंग्य के कुछ अत्यंत सामान्य उदाहरण हैं। यहां उनके उत्कृष्ट—किंतु लंबे—हास्य और व्यंग्य के नमूने देने का अवकाश नहीं है। 'स्थाली पुलाक न्याय' से इस समय इतना ही पर्याप्त है। किंतु उनकी प्रतिभा का वास्तविक दर्शन उनकी गंभीर कविताओं में होता है। यहां हम केवल दो

उदाहरण देंगे—एक ब्रजभाषा का, और एक खड़ीबोली का। ब्रजभाषा में उन्होंने शिव के तांडव नृत्य का बड़ा ओजपूर्ण और मौलिक वर्णन किया है। उसके दो छंद देखिए—

चमकत जमकत कर-त्रिशूल दमकत दिनकर सम,
जटा-मुकुट महँ लटकि अटकि भुवि अटत भुजंगम,
उछरत छहरत बार-बार बारन महँ फहरत,
लसत हँसत उझकत झिझकत सिर सुरसरि लहरत
सुनि डम-डम डमरू-नाद-कल सकल भुवन महँ भय भरत।
सोइ गिरिजापति मंगल करैं सहित-मोद आनंद निरत।

घोर सोर सुनिके सुमेर बेरि बेरि ह्यलै,
बंक लखि लोचन सशंक सुर जकि जायँ,
खोलि खोलि मुख आगि उगलि फनिन्द डारैं,
डोलि डोलि कोल दिगपाल सबै थकि जायँ।
बार बार गंग बार पकरि उछरि परैं,
ललित ललाट तें सुधाकर चपकि जायँ।
ठौरि ठौरि नाचत महेस बौरि-बौरि देखि;
दौरि कैं गनेश गोद गौरि के दबकि जायँ।

इसके काव्य-सौष्ठव की व्याख्या करने की यहां आवश्यकता नहीं। सहृदय और मर्मज्ञ पाठक उसे स्वयं ही अनुभव करेंगे। अंत में उनकी 'स्वदेश-वंदना' देखिए, हमारी सम्मति में इस भारत-वंदना के समकक्ष हिंदी में दो-तीन से अधिक कविताएं न मिलेंगी, वह यह है—

हे विश्व-वन्द्य भारत-भूतल !
हे तपोभूमि ! हे पुण्य-प्रबल !
लेकर हीरक हारावलियाँ करता सागर तव पद वन्दन,
बरसा कर नव किसलय, कलियाँ द्रुमदल करते हैं अभिनन्दन,
स्वर्णिम किरणों से बालारुण करता है तव शृंगार सघन,
राका हिमकर कमनीय तरुण करता है तेरा नीराजन।
तेरा वर वेष अमित उज्ज्वल,
हे तपोभूमि ! हे पुण्य प्रबल !
महिमा तेरी सुरबालाएँ गाती हैं आनन्दित होकर,
गरिमा की मंजुल गाथाएँ पूजित हैं संवर्धित होकर,
तेरा आलोक अमित अद्भुत, प्राचीन, चिरन्तन है नूतन,
तेरा अक्षय सौन्दर्य सरल करता है कैसा सम्मोहन !

हे अचल-मुकुट, हे मुकुट अचल !
हे तपोभूमि ! हे पुण्य प्रबल !
सीता सी सतियों के स्वदेश, राघव से पतियों के स्वदेश !
यादव से यतियों के स्वदेश, शुक से सद्व्रतियों के स्वदेश !
गंगा-यमुना की धाराएँ करती हैं तब अभिषेक सरल,
मलयानिल है इतना सुरभित, पाकर तेरे यश का परिमल !
हे चिर विजयी, हे वीर विमल !
हे तपोभूमि ! हे पुण्य प्रबल !
तूने प्रकाश की एक किरण दे किया विश्व-अज्ञान ध्वस्त
तेरे चरणों पर बार-बार झुकता है भूमंडल समस्त !
किसका भय है ? तू है निर्भय, तू है अजेय, अनिवार्य भूमि !
औदार्य भूमि ! सत्कार्य भूमि ! आचार्य-भूमि ! हे आर्य-भूमि !
हे धैर्य-धाम, हे धर्म-धवल !
हे तपोभूमि ! हे पुण्य-प्रबल !

कितनी उदात्त, भारतीय संस्कृति के गर्व से कितनी ओत-प्रोत यह वंदना है। भाषा-सौष्ठव और कवित्व की उत्कृष्टता का कहना ही क्या है ! यह हमारा राष्ट्र-गान होने योग्य है।

हम अभी अस्सी वर्ष के हुए ही थे कि दुर्भाग्यवश हमारे सामने ही हमारे कनिष्ठ मित्र और स्नेहभाजन दिवंगत हो गये। जिनसे हमें अपनी मृत्यु पर प्रतिभापूर्ण श्रद्धांजलियां अर्पित करने की आशा थी, उन्हीं की मृत्यु पर हम टूटे हृदय से अपनी व्यथा भी व्यक्त करने में असमर्थ रहे। हम कितने हतभागी हैं !

कबीर ने आत्मा को हंस कहा था जो अपने देश जाने को उत्सुक था। सच-मुच काशी का हंस ही नहीं, राजहंस अपने देश को आजीवन हिंदी की सेवा करके और शिक्षा के आदर्शों के पालन में शहीद होकर उड़ गया।

(श्री) कार्बुसियर

फ्रांसीसी अभियंता की अत्येष्टि में गंगाजल !

पंजाब की राजधानी चंडीगढ़ की रूपरेखा बनानेवाले तथा उसका निर्माण करनेवाले प्रसिद्ध अभियंता श्री लि कार्बुसियर का देहांत सितंबर, १९६५ में हुआ। 'कार्बुसियर' उनका वास्तविक नाम नहीं था। उनका नाम था चार्ल्स ऐडवर्ड जीनरेट, और उनका जन्म स्विट्जरलैंड में हुआ था। उनके परिवार में घड़ी बनाने का काम होता था किंतु उन्हें बाल्यावस्था ही से कला में रुचि थी। इसलिए वे अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर कलाकार हो गये। किंतु चित्रकला से उनको संतोष नहीं हुआ और वे भवन-निर्माण कला में रुचि लेने लगे। उन्होंने 'स्थापत्य कला की ओर' नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें अपना असली नाम न देकर 'लि कार्बुसियर' का उपनाम दिया। यह नाम उन्हें ऐसा चिपका कि वे बाद में इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये। उनका कहना था कि वास्तव में घर वह 'मशीन' है जिसमें मनुष्य रहता है। उसे ऐसा होना चाहिए जिसमें इतना प्रकाश, वायु और स्थान हो कि उसमें रहनेवाला अपने को मुक्त समझ सके। बर्लिन में वे वहां के एक अभियंता के संपर्क में आये जो भवनों को 'क्रियात्मक' (Functional) बनाने पर बल देते थे। यहीं उनमें ज्यामिति की रेखाओं और आकारों में रुचि उत्पन्न हुई। परिणामस्वरूप वे भवनों में क्रियात्मक रेखाओं (Functional lines) के प्रचारक हो गये। उनके भवनों के प्रारूप प्राचीन भवनों से एकदम भिन्न थे। इनका विरोध भी हुआ, किंतु उनमें अदम्य साहस था। उन्होंने यूरोप और दक्षिणी अमरीका में कई सार्वजनिक भवनों का अपनी कल्पना के अनुसार निर्माण किया। जब पंजाब की नई राजधानी चंडीगढ़ का निर्माण होने लगा तो उसकी योजना बनाने और भवनों का प्रारूप बनाने के लिए भारत सरकार ने लि कार्बुसियर को चुना। चंडीगढ़ के निर्माण में उन्हें अपनी कल्पना को कार्यान्वित

करने की पूरी छूट मिली। कुछ लोग चंडीगढ़ को बिल्कुल पसंद नहीं करते, किंतु कुछ लोग उसे आधुनिक नगर और भवन-निर्माण कला का श्रेष्ठतम उदाहरण मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनमें गजब की मौलिकता और कल्पना थी, और अनेक विरोधों के बावजूद उनके विरोधी भी उनके महत्त्व को स्वीकार करते थे।

अगस्त १९६५ के अंतिम सप्ताह में वे फ्रांस के प्रसिद्ध समुद्रतटीय क्षेत्र रिवियरा छुट्टी बिताने गये थे। वहां समुद्र में तैरते समय हृदय की गति रुक जाने से उनकी मृत्यु हो गयी। उनकी अंत्येष्टि पेरिस के प्रसिद्ध लूव्र (Louvre) उद्यान में की गयी। फ्रांस के सांस्कृतिक मामलों के मंत्री श्री ऐण्ड्री मालरो उनके बड़े भक्त हैं। उन्होंने उनकी अंत्येष्टि का प्रबंध किया था। उन्होंने पेरिस-स्थित भारतीय राजदूत श्री राजेश्वरदयाल से प्रार्थना की कि वे लि कार्बुसियर की अंत्येष्टि के लिए थोड़े से गंगाजल का प्रबंध कर दें। संयोग से पेरिस में रहनेवाले एक हिंदू परिवार के पास थोड़ा-सा गंगाजल था। श्री दयाल ने उससे उसे लेकर श्री मालरो को दिया। श्री मालरो उसे बड़े सम्मान और औपचारिक रीति से अंत्येष्टि स्थान तक ले गये और वहां उन्होंने उसे लि कार्बुसियर की अर्थी पर छिड़का। श्री दयाल ने चंडीगढ़ के निर्माता के प्रति सम्मान दिखाने के लिए भारत और पंजाब सरकार की ओर से उनके शव पर फूल-मालाएं चढ़ायीं। द्विजेन्द्रलाल राय ने अपनी एक कविता में गंगाजी को संबोधन करते हुए कहा है :

> परिहरि भव-सुख-दु:ख जेखाने माँ ! शायित अंतिम शयने,
> बरषि श्रवणे तव जल कलरव बरषि शुप्ति मम नयने।
> बरषि शांति मम शंकित प्राने, बरषि अमृत मम अंगे,
> माँ भागीरथि ! जाह्नवि ! सुरधुनि ! कल-कल्लोलिनि गंगे !

'बरषि अमृत मम अंगे'—हिन्दू की यही कामना रहती है कि मृत्यु के समय या उसके बाद उसका शरीर गंगाजल से पवित्र हो। लि कार्बुसियर साधारण अर्थ में 'धार्मिक' प्रवृत्ति के नहीं थे, किंतु फ्रांस के सांस्कृतिक मामलों के मंत्री उनका भारत से संबंध जानते थे, और यह भी जानते थे कि भारत के हिन्दुओं में शव के लिए गंगाजल का क्या महत्त्व है। भारत के साथ सांस्कृतिक संबंधों को दृढ़ करने के लिए उनका यह संकेत कितना हृदयस्पर्शी था ! उनकी इस भावना की हम हृदय से सराहना करते हैं।
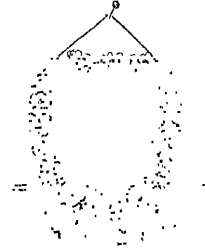
(श्री) गजानन माधव मुक्तिबोध

सितंबर, १९६४ को दिल्ली में लंबी बीमारी के उपरांत मध्य प्रदेश के प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार श्री गजानन माधव मुक्तिबोध का देहांत हो गया। श्री मुक्ति-बोध भूतपूर्व मध्यभारत के एक महाराष्ट्र परिवार में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने ग्वालियर और इंदौर में शिक्षा पायी थी। वे कुछ दिनों अध्यापक रहे, किंतु बाद में वे साहित्य-क्षेत्र में आ गये। यद्यपि उनकी मातृभाषा मराठी थी तथापि आरंभ ही से उन्हें हिंदी से प्रेम था और उन्होंने जीवन के मुख्य कार्य के लिए हिंदी साहित्य की सेवा को ही वरण किया। वे नयी पीढ़ी के कवियों की प्रथम पंक्ति में गिने जाते थे। उन्हें मस्तिष्क का मैनेंजाइटिस नामक भयंकर रोग हो गया था जिसके कारण वे कई महीने संज्ञाहीन रहे। मध्यभारत सरकार की ओर से भोपाल के मेडिकल कालिज में उनकी चिकित्सा होती रही, किंतु बाद में प्रधान मंत्री के आदेश से वे दिल्ली पहुंचाये गये। वहां उनकी चिकित्सा देश के सर्वोत्तम अस्पताल में की गयी। किंतु इससे भी कोई लाभ नहीं हुआ, और संज्ञाहीन अवस्था ही में उनका स्वर्गवास हो गया। श्री मुक्तिबोध की अकाल मृत्यु से हिन्दी ने एक प्रतिभाशाली कवि और साहित्यकार खो दिया। वे उन उदार मराठी-भाषी साहित्यकारों की माला के एक चमकते हुए मणि थे जिन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा का व्रत लिया था। हम उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं। इस समय 'तार सप्तक' में प्रकाशित उनकी 'मृत्यु और कवि' नामक कविता हमें रह-रहकर याद आती है जिसमें मृत्यु के प्रति उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो गया है। हम इस अवसर पर उनका यह 'मरण-गीत' यहां उद्धृत कर रहे हैं :

घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर,
व्यापक अन्धकार में सिकुड़ी सोई नर की बस्ती, भयंकर।

है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता धार चली घहराती,
जीवन-लीला को समाप्त कर मरण सेज पर है कोई नर।
बहुत संकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुँधला,
वधू मूर्च्छिता, पिता अर्द्धमृत, दुखिता माता स्पन्दनहीना।
घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक कवि का मन गीला,
"यह सब क्षणिक, क्षणिक जीवन है, मानव जीवन है क्षणभंगुर।"
ऐसा मत कह मेरे कवि, इस क्षण संवेदन से हो आतुर,
जीवन चिन्तन में निर्णय पर अकस्मात् मत आ, ओ निर्मल।
इस वीभत्स प्रसंग में रहो तुम अत्यंत स्वतंत्र निरालो,
भ्रष्ट न होने दो युग-युग की सतत साधना महाराधना।
इस क्षण भर के दु:खभार से, रहो अविचलित, रहो अचंचल,
जीवन के इस गहन अतल के लिए मृत्यु का अर्थ कहो तुम।
क्षणभंगुरता के इस क्षण में जीवन की गति, जीवन का स्वर,
दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर?
इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर,
सृजनशील स्वर में—बन जाओगी मरण-गीत तुम सुंदर।
तुम कवि हो, ये फैल चलें मृदु गीत निबल मानव के घर घर
ज्योतित हों मुख नव आशा से, जीवन की गति, जीवन का स्वर।

(पंडित-प्रवर) गंगाशंकर मिश्र

पाठकों को यह स्मरण कर अत्यंत दुख होगा कि मई १९७२ को हिंदी के अद्वितीय विद्वान् और लेखक पं० गंगाशंकर मिश्र का स्वर्गवास काशी में हो गया था। 'सरस्वती' पर उनकी विशेष कृपा अंतिम समय तक रही। उनके लेख 'सरस्वती' में 'मण्डन मिश्र' के उपनाम से छपते थे। 'आज' तथा अन्य कितने

ही पत्रों में वे 'किताबी कीड़ा' के नाम से लेख लिखा करते थे। मृत्यु के समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्ष की थी। वे अपने परम मित्र श्री श्रीप्रकाश जी से एक-दो वर्ष ही छोटे थे। उनका जन्म एक कान्यकुब्ज परिवार में हरदोई जिले में हुआ था, किंतु उनकी शिक्षा सेंट्रल हाईस्कूल और सेंट्रल हिंदू कालिज में हुई। उस समय सेंट्रल हिंदू कालिज अपने चरम उत्कर्ष पर था। श्री रिचर्डसन उसके प्रिंसिपल, सर्वश्री अरंडेल, तैलंग, डा० भगवानदास, श्रीप्रकाश, संजीव राव आदि उसके अध्यापक थे। इतिहास में एम० ए० करके वे हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गये। जब वहां सर सयाजीराव गायकवाड़ पुस्तकालय की स्थापना हुई तो वे उसके पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हुए और उसी पद से कार्यकाल समाप्त होने पर सेवामुक्त हुए। उन्हें आरंभ ही से अध्ययन का शौक था—विशेषकर भारतीय संस्कृति, इतिहास और हिंदू धर्म का। इनके अतिरिक्त उन्हें पुरातत्व, समाज-शास्त्र में भी रुचि थी। उन्होंने अपने विशाल पुस्तकालय की अधिकांश पुस्तकों का अध्ययन ही नहीं किया था, वे उसकी सभी पुस्तकों से परिचित थे, और किसी पुस्तक के मांगने पर वे मांगनेवाले को बतला देते थे कि वह अमुक अलमारी के अमुक खाने में अमुक क्रम पर रखी हुई है। यदि उनसे उस पुस्तक के किसी विशेष विषय के बारे में पूछा जाता तो वे यहां तक बतला देते थे कि वह विषय अमुक अध्याय में मिलेगा। यदि कोई विद्यार्थी या शोधकर्ता किसी विषय की पुस्तकें चाहता तो वे उनकी तालिका भी बनाकर दे देते थे, तभी उसके अध्ययन में सहायता भी करते थे। वे आदर्श पुस्तकालयाध्यक्ष थे। उन्हें पुस्तकों के गुण-दोषों और महत्त्व का पूरा ज्ञान था।

उनका अध्ययन इतना विस्तृत था कि वे जीवित विश्वकोश थे। किसी भी विषय पर वे विस्तृत जानकारी दे सकते थे। उन्होंने विविध विषयों पर सैकड़ों बड़े सारगर्भित और ज्ञानवर्द्धक लेख लिखे। जो काम मराठी में प्रोफेसर गोडे ने किया, वही हिंदी में मिश्रजी ने किया। गत वर्ष उन्होंने हमें एक पत्र में लिखा था कि ज्ञानमण्डल ने उनके लेखों का संग्रह प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया है। हमें यह नहीं मालूम था कि वह संग्रह प्रकाशित हो गया है, किंतु हमारे मित्र श्री अशोक जी ने बताया कि वह नौ खंडों में प्रकाशित हो गया है। इस समय वह उनके पास यहां न था। अतएव हमें उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। किंतु अवश्य ही वह संग्रह अत्यंत महत्त्वपूर्ण होगा, इसमें हमें संदेह नहीं।

मिश्रजी बड़े आस्तिक, भारतीय संस्कृति के हार्दिक प्रशंसक और सनातन धर्म के कट्टर अनुयायी थे। वे भारत सरकार की धार्मिक नीति और हिंदू धर्म की उपेक्षा से बहुत दुखी और असंतुष्ट थे। उन्होंने 'सिद्धांत' नामक एक मासिक पत्र निकाला जो गत वर्ष तक चलता रहा। उसमें उनके गहन ज्ञान और गंभीर विचारों की छटा देखने को मिलती है। उसमें कभी-कभी वे भारत सरकार की

आलोचना भी कर दिया करते थे, किंतु उनकी आलोचना बड़ी संयत भाषा में और तर्कपूर्ण ढंग से होती थी। किंतु हमारी सरकार 'धर्मनिरपेक्षता' के गलत अर्थ लगाकर हिंदू धर्म के हिमायती पत्र की आलोचना से अप्रसन्न थी, अतएव उसे भारत सरकार के विज्ञापन नहीं दिये जाते थे। सरकार की अप्रसन्नता प्रकट करने का यही सबसे बड़ा हथियार है। इस पर श्री श्रीप्रकाश जी ने तत्कालीन सूचना मंत्री श्री केसकर को लिखा था कि मैं 'सिद्धांत' को बराबर रुचि और ध्यान से पढ़ता हूं। वह बड़ी उच्चकोटि का पत्र है और उसमें सरकार की जो आलोचना की जाती है वह संयत और तर्कपूर्ण होती है। यह आपत्तिजनक बात है कि इसके लिए उस जैसे पत्र को सरकारी विज्ञापन न दिये जायं। श्री श्रीप्रकाश ऐसे प्रभावशाली नेता के व्यक्तिगत पत्र का प्रभाव हुआ और उसे सरकारी विज्ञापन मिलने लगे।

'सिद्धांत' उन लोगों के लिए अनुपम निधि है जो भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म के मर्मों को समझना और उनका अध्ययन करना चाहते हैं। यदि उन्होंने और कुछ लेखन या संपादन कार्य नहीं किया होता तो केवल 'सिद्धांत' ही उनकी कीर्ति को अक्षय रखने के लिए पर्याप्त था।

उन्हें हिंदुओं के बिखराव और असंगठित होने का हार्दिक क्षोभ था। महामना मालवीयजी उस समय हिंदुओं के एकमात्र नेता थे। वे वृद्ध और अशक्त हो चले थे। मिश्रजी भविष्य की बात सोच रहे थे। वे चाहते थे कि उनके बाद कोई तेजस्वी पुरुष उनका स्थान लेने को तैयार रहे। संयोग से उन दिनों करपात्री जी संन्यासी होकर साधना के लिए काशी आये हुए थे और एकांतवास करते थे। संयोगवश उनसे उनका परिचय हो गया और वे उनके गहन पांडित्य, स्पष्ट चिंतन और उच्च चरित्र तथा कर्मठता से बहुत प्रभावित हुए। उन दिनों करपात्रीजी को राजनीति में बिलकुल रुचि न थी। बहुत कम लोग यह बात जानते हैं कि मिश्रजी ने धीरे-धीरे उन्हें राजनीति की ओर प्रवृत्त किया क्योंकि उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि अपने पांडित्य, वाग्मिता, कर्मठता, चरित्र और तेजस्विता के कारण वे ही मालवीयजी की जगह हिंदुओं का नेतृत्व कर सकते हैं। करपात्रीजी अपने गुणों और वैराग्य तथा वाग्मिता के कारण काफी क्रियाशील हो गये। उन्होंने धर्मसंघ की स्थापना की और मिश्रजी के सुझाव से 'सन्मार्ग' दैनिक पत्र का प्रकाशन किया। 'सन्मार्ग' शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया और उसका एक संस्करण कलकत्ते से भी निकलने लगा जो कलकत्ते के हिंदी दैनिकों में आज प्रमुख समझा जाता है। मिश्रजी ने बड़ी योग्यता से उसका संपादन कर उसे एक प्रतिष्ठित पत्र बना दिया।

मिश्रजी को पढ़ने और लिखने का व्यसन था। वह उनके जीवन का अभिन्न अंग था। विगत ४० वर्षों से उनका स्वास्थ्य खराब रहता था और कभी-कभी तो

वह बहुत बिगड़ जाता था, किंतु उनका अध्ययन-प्रेम इतना प्रबल था कि उस अवस्था में भी उनके अध्ययन और लेखन में वह व्यतिक्रम नहीं कर सकता था। बाद में उनकी आंखों की ज्योति भी मंद हो गयी थी और वे बोलकर लेख लिखवाया करते थे। हमें प्रायः प्रत्येक लेख के साथ लिखते थे कि हमने इसे बोल-कर लिखाया और टाइप कराया है, इसका संशोधन कर लेना। पर हम ऐसे अल्पज्ञ का साहस नहीं था कि उनके लेख पर कलम चलावें।

'सरस्वती' का सौभाग्य है कि उनके दो अंतिम लेख जनवरी-फरवरी १९७२ के संयुक्त अंक में निकले थे।

उनकी मृत्यु से हिंदी की पुरानी शैली के उन लेखकों की पीढ़ी समाप्त हो गयी जो केवल विद्याव्यसनी ही नहीं थी, प्रत्युत जो हिंदी और हिंदू धर्म की निष्काम सेवा करना अपना पवित्र और सर्वोच्च कर्त्तव्य समझती थी। हिंदी साहित्य के इतिहास में बड़े-बड़े धुरंधर लेखक और विद्वान हुए हैं किंतु पं० गंगा-शंकर मिश्र अपने ढंग के एकमात्र विद्वान और लेखक थे। वास्तविक खेद तो यह है कि हिंदी संसार ठीक तरह से यह अनुभव भी नहीं करता कि उसने कितने महान लेखक, विद्वान और हिंदी की बहुमुखी सेवा करनेवाली विभूति को खो दिया। हम इसे अपना परम सौभाग्य समझते हैं कि उन ऐसे निःस्पृह विद्वान और महापुरुष के हम कृपापात्र थे। हम अपनी हार्दिक भावना को निर्जीव शब्दों में व्यक्त करने में असमर्थ हैं।
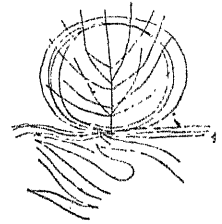
(पंडित) गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'

जुलाई, १९७१ को झालरापाटन में राजस्थान के वयोवृद्ध विद्वान और हिंदी के पुराने लेखक पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' का प्रायः ८१ वर्ष की आयु में स्वर्गवास हुआ। नवरत्नजी मूल रूप से गुजराती भाषा-भाषी परिवार के थे और उनके पूर्वज झालावाड़ में बस गये थे। वहां के स्वर्गीय महाराज और उनके दीवान

पं० परमानंद चौबे बड़े विद्याव्यसनी थे। वे पंडितों का बड़ा सम्मान करते थे। गिरिधरजी के पांडित्य से प्रभावित होकर झालावाड़ नरेश ने उन्हें 'नवरत्न' की उपाधि दी थी। वे संस्कृतज्ञ होते हुए भी आरंभ ही से हिंदी के प्रेमी रहे, और खड़ी बोली के आरंभिक युग में ही वे उसके समर्थक हो गये। उनकी कविताएं द्विवेदीजी के संपादन-काल में बहुधा 'सरस्वती' में प्रकाशित होती थीं। उन्होंने हिंदी में अनेक मौलिक ग्रंथ लिखे, और कितने ही गुजराती, बंगला आदि से अनुवाद किये। वे केवल साहित्य-सेवी ही नहीं थे, हिंदी भाषा के बड़े प्रबल समर्थक भी थे। कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में हिंदी विषयक जो प्रस्ताव पारित हुआ था, उसके संबंध में नवरत्नजी ने महात्माजी को बहुत प्रभावित किया था। राष्ट्रीय एकता के लिए वे हिंदी का उपयोग अनिवार्य समझते थे। राजस्थान के राज्यों में पहले उर्दू राजभाषा थी। नवरत्नजी के प्रयत्न से कई राज्यों ने अपनी राजभाषा हिंदी कर दी थी। उनकी हिंदी साहित्य और हिंदी भाषा की सेवा के उपलक्ष्य में हिंदी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य-वाचस्पति' की सर्वोच्च पदवी देकर उन्हें सम्मानित किया था। इधर प्रायः बीस वर्ष से उनकी आंखों की ज्योति जाती रही थी और उनका लेखन-कार्य कम हो गया था। किंतु उनका संस्कृत का अध्यापन-कार्य बराबर चलता रहता था। वे अपने घर पर ही, प्रायः सारे दिन, विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। उनके जीवन का आदर्श विद्याध्ययन, विद्यादान, सादगी और त्याग था। हमने इन ऋषिकल्प सज्जन के दर्शन अंतिम बार १९५४ में झालरापाटन में किये थे। इस शती के प्रथम दशक में हमारे पूज्य पिता प्रयाग से निकलनेवाले 'राघवेन्द्र' नामक मासिक पत्र का संपादन करते थे। 'नवरत्न' जी उसमें भी लिखा करते थे। उन्होंने हमें 'राघवेन्द्र' और 'सरस्वती' से संबंधित अनेक मनोरंजक संस्मरण सुनाये। उनकी स्नेहसिक्त सरलता मानो "विद्या ददाति विनयम्" की जीवित टीका थी। गहन पांडित्य, सरल जीवन और समयानुकूल जागरूकता का ऐसा संयोग बिरले ही पंडितों में देखने को मिला। क्षोभ का विषय यही है कि उनका अंतिम जीवन आर्थिक कष्ट में बीता। इस प्रकार के युग में— जिसमें पुरातन पांडित्य की कद्र नहीं है, और जिसमें बधिर और अंधे जनतंत्र को जोर से चिल्लाकर या चिकोटी काटकर ही स्थिति का ज्ञान कराया जा सकता है—मूल्य बदल गये हैं। नवरत्नजी को इस बदले हुए युग में कष्ट ही मिला। किंतु उनकी स्वाभिमानी और अल्पसंतोषी आत्मा ने कभी संतुलन नहीं खोया। वे एक युग के प्रतीक थे। उनके निधन से खड़ीबोली के आरंभिक काल की एक बची हुई स्वर्ण-शृंखला टूट गयी।
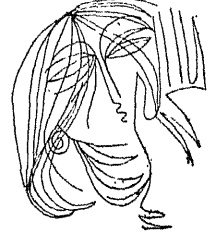
(महामहोपाध्याय पं०) गिरिधर शर्मा

काशी में ८६ वर्ष की आयु में पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का स्वर्गवास हो गया। उत्तर भारत की संस्कृत विद्या की एक प्रखर ज्योति सदा के लिए बुझ गयी।

शर्माजी का जन्म जयपुर में हुआ था। वहां उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और बाद में वे कुछ दिनों के लिए लाहौर चले गये। जयपुर में उस समय स्वामी लच्छीरामजी, मधुसूदन झा आदि प्रकांड पंडितों का युग था। लाहौर में महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त जी की तूती बोलती थी। वाराणसी के बाद, उत्तर भारत में जयपुर और लाहौर ही संस्कृत के महत्त्वपूर्ण केंद्र थे। शर्माजी ने जयपुर के महाराजा संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन कार्य आरंभ किया। बाद में वे उसके प्रधानाचार्य हो गये। बीच में कुछ दिनों के लिए लाहौर और हरिद्वार में भी उन्होंने अध्यापन कार्य किया। उनके पांडित्य और वाग्मिता से प्रभावित होकर महामनाजी ने उन्हें हिंदू विश्वविद्यालय में बुला लिया तथा उन्हें विश्वविद्यालय के संस्कृत कालिज का प्रधानाचार्य नियुक्त किया। वहां से सेवा-निवृत्त होने पर वे वर्णाश्रम संघ के शिक्षा-विभाग का काम देखने लगे थे और वहीं रहने भी लगे थे।

शर्माजी का मुख्य विषय भारतीय दर्शन था, किंतु संस्कृत पांडित्य की प्राचीन परंपरा के अनुसार संस्कृत साहित्य, व्याकरण, न्याय आदि सभी शाखाओं में उनकी अच्छी गति और उनका अच्छा अधिकार था। वे उत्तर भारत के इने-गिने संस्कृत के चोटी के विद्वानों में थे। वास्तव में इस कोटि के नये विद्वान पैदा ही नहीं होते।

वे केवल संस्कृत के ही विद्वान न थे और न अधिकांश संस्कृत के पंडितों की तरह वे हिंदी से उदासीन थे। वे हिंदी के बड़े अच्छे वक्ता तथा लेखक थे। इस

मामले में वे म० म० पंडित सुधाकर द्विवेदी, पं० चंद्रधर गुलेरी आदि की परंपरा में थे। उन्होंने हिंदी में कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। उनकी 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' नामक पुस्तक पर साहित्य एकादमी का पुरस्कार मिला था। हिंदू विश्वविद्यालय में उन्होंने मालवीयजी के अनुरोध पर गीता पर एक व्याख्यानमाला दी थी। विश्वविद्यालय ने उसे प्रकाशित कर दिया है और उत्तर प्रदेश सरकार ने उसे पुरस्कृत किया है। सब मिलाकर उन्होंने दस से अधिक पुस्तकें हिंदी में लिखीं। उनकी अन्य पुस्तकें 'प्रमेय पारिजात', 'महाकाव्य संस्कृति', 'चातुर्वर्ण्य', 'वेद विज्ञान विंदु', 'पुराण पारिजात', 'दर्शन-अनुचिंतन' आदि हैं। उन्होंने संस्कृत और हिंदी के कई पत्रों का भी संपादन किया जिनमें 'संस्कृत-रत्नाकर', 'संस्कृत' और ऋषिकुल, हरिद्वार का 'ब्रह्मचारी' प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में भी वे हिंदी में लेख लिखते रहते थे। 'सरस्वती' पर उनकी विशेष कृपा थी। सरस्वती-हीरक जयंती के अवसर पर 'सरस्वती' के प्रतिष्ठित और पुराने लेखक होने के कारण उनका विशेष सम्मान किया गया था।

अंग्रेजी राज्यकाल में उनकी विद्वत्ता के लिए उन्हें महामहोपाध्याय की पदवी से सम्मानित किया गया था। हिंदी साहित्य-सम्मेलन ने 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से उन्हें विभूषित किया था। स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रपति ने जब संस्कृत-विद्वानों का सम्मान करने की प्रथा आरंभ की तब सबसे पहले उन्हें ही सम्मानित किया था। उनके निधन से भारत के संस्कृत-विद्वत्समाज की तथा हिंदी की अपार क्षति हुई है।

(ठाकुर) गोपालशरण सिंह

अक्टूबर, १९६० में प्रयाग में ६८ वर्ष की आयु में, हिंदी के प्रसिद्ध कवि ठाकुर श्री गोपालशरणसिंह का स्वर्गवास हो गया। वे उन कवियों में थे जो 'द्विवेदी-युग' के कवि कहे जाते हैं। 'सरस्वती' में उनकी पहली कविता

पहली बार सन् १९१२ में छपी थी। उसी वर्ष श्री जयशंकर प्रसादजी, श्री मुकुटधर पांडे और श्री सियारामशरण गुप्त की कविताएं भी सरस्वती में पहली बार छपी थीं। तब से ठाकुर साहब 'सरस्वती' पर बराबर कृपा करते रहते थे। भूतपूर्व रीवां राज्य में 'नई गढ़ी' नामक एक ठिकाना है। वे उसके अधिपति थे। बाद में वे प्रयाग में ही रहने लगे थे। आरंभ ही से साहित्य में उनकी रुचि थी। कविता से उन्हें विशेष प्रेम था और उसी को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। आरंभ में उन्होंने ब्रजभाषा में लिखा, किंतु अंत में वे खड़ीबोली में कविता करने लगे, यद्यपि वे धनाक्षरी, सवैया आदि पुराने छंदों का प्रयोग भी खड़ी बोली में सफलतापूर्वक कर लेते थे। उनके काव्य के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'जगदालोक' नामक उनका काव्य ग्रंथ महात्मा गांधी के ऊपर है और उसका बड़ा सम्मान हुआ। वे एक सफल कवि और सहृदय सज्जन थे। स्वभाव के वे अत्यंत सरल और निरभिमानी थे। जो एक बार भी उनसे मिलता था वह उनकी आभिजात्य शालीनता से प्रभावित हो जाता था। 'सरस्वती' से उनका संबंध बहुत पुराना और अत्यंत घनिष्ठ था। इस कारण 'सरस्वती' को उनके निधन से विशेष दुःख हुआ है। हिंदी ने एक प्रतिभाशाली कवि और समर्थ समर्थक खो दिया। हम दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं।

(सेठ) गोविन्ददास

हिंदी का अन्तिम पुराना प्रहरी भी गया!

गहरी अंधेरी रात। दुर्ग के बाहर एक प्रहरी सतर्कता से पहरा दे रहा है। किसी की पदचाप सुनायी पड़ी। संतरी ने कड़ी आवाज में पूछा—

"कौन है? रुको! शत्रु या मित्र?"

पदचाप रुक गयी। अंधेरे को चीरकर आवाज आयी।

"मैं हूं मित्र ! तुम्हारी स्वामिनी माता हिंदी रानी।" प्रहरी ने सैनिक ढंग से अभिवादन किया। प्रहरी से अंधेरे में छिपी मूर्ति ने पूछा—

"सब ठीक है ?"

"हां देवी ! किंतु विरोधी गड़बड़ी मचाने और दुर्ग पर अधिकार करने के अनेक प्रकार से प्रयत्न कर रहे हैं।"

"तो तुमने प्रतिरोध के लिए क्या किया ?"

"मैं सतत सतर्क हूं। विरोधियों की चालों पर और मित्र-रूपी शत्रुओं के कार्य-कलापों पर भी बराबर निगाह रखता हूं और जहां और जब भी आवश्यकता होती है मैं आपके रक्षकों को सजग कर देता हूं।"

"शाबाश ! ईश्वर तुम्हारी सहायता करें !"

आगंतुक की पदचाप के लौटने की ध्वनि धीरे-धीरे कम होती गयी और फिर नीरवता छा गयी। बीच-बीच में प्रहरी की चेतावनी देनेवाली आवाज 'जागते रहो' अंधकार को चीरकर दूर-दूर तक पहुंच जाती थी।

वह प्रहरी था सेठ गोविन्ददास, और वह दुर्ग था देश की राष्ट्रभाषा का, जिस पर बहुत दिन पूर्व गैरों ने अधिकार कर लिया था और जिसे उनके पंजों से छुड़ाने के लिए भारतेन्दु ने अभियान चलाया था। उस अभियान में भूदेव मुकर्जी, महाराज प्रतापसिंह, महाराज रामपालसिंह, रामदीनसिंह, तोताराम, श्यामसुन्दरदास, मदनमोहन मालवीय आदि कितने ही सेनानियों ने जमकर संघर्ष किया था और धीरे-धीरे उस दुर्ग के कुछ भागों पर अधिकार भी कर लिया। अंत में महात्माजी ने उसे सहयोग देकर उसमें नवीन प्राण फूंके। संविधान सभा में समस्त भारतीय सदस्यों ने एकमत से हिंदी को उस दुर्ग में प्रतिष्ठित किया जिसका मुख्य श्रेय राजर्षि और उनके सहकारी सेठ गोविन्ददास, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', वेंकटेशनारायण तिवारी, रघुनाथ विनायक धुलेकर आदि के अविश्रांत परिश्रम को था। राजर्षि के बाद मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर और सबसे अधिक सेठ गोविन्ददास उस दुर्ग की रक्षा में लगे, क्योंकि अपदस्थ अंग्रेजी और उर्दू को हिंदी का यह गौरव नहीं सुहाया। राजर्षि के बाद उस दुर्ग के सबसे बड़े, सबसे सचेत, सबसे परिश्रमशील, सबसे जागरूक प्रहरी थे गोविन्ददास। अंग्रेजीपरस्तों ने उस महान् पुरुष का—जो भारतीय संसद् का पिता था—अवमूल्यन करने में कोई कसर नहीं की। उनका मजाक उड़ाने का शायद ही कोई मौका छोड़ा हो। उन्हें उन लोगों ने, जो स्वयं परले दर्जे के अंग्रेजी फैनेटिक हैं, हिंदी फैनेटिक कह के बदनाम किया। तथाकथित 'प्रोग्रेसिव' उनकी गोसेवा का मखौल उड़ाते रहे। उन्हीं दिनों उन पर व्यक्तिगत पहाड़ टूट पड़ा। उनके प्रिय पुत्र जगमोहनदास का अचानक देहांत हो गया। हमें उनकी करुण मानसिक व्यथा का कुछ ज्ञान है

क्योंकि उन्होंने कई बार भरे कंठ और डबडबाई आंखों से हमें अपने मनोभावों का थोड़ा-सा पट खोलकर दिखलाया था। किंतु उस अवस्था में भी, जब उनका हृदय हाहाकार कर रहा था, उन्होंने हिंदी के हितों की रक्षा में कभी शिथिलता नहीं आने दी।

अभी दिनकर और सुधांशु के स्वर्गवास की व्यथा से हम संभल नहीं पाये थे कि हिंदी पर यह अनभ्र वज्रपात हुआ। इससे हम इतने विचलित हो गये हैं कि हमारे लिए विचार और संतुलन के साथ सेठजी के बारे में कुछ कहने की सामर्थ्य नहीं है। उनका जीवन औपन्यासिक था। शायद स्वतंत्रता-संग्राम में इतने वैभव में पले और इतने धनी परिवार के और किसी व्यक्ति ने भाग लेने का साहस नहीं किया जितना सेठ गोविन्ददासजी ने। उन्होंने गांधीजी का नेतृत्व राजनीतिक तो सोलहों आने स्वीकार करके अपने वैभवशाली जीवन पर लात मार दी, किंतु उनकी अनन्य वैष्णवता में कभी रंचमात्र भी कमी नहीं हुई। उन्होंने लगातार ५१ वर्ष भारत की केंद्रीय विधान सभा, जिसे अब लोकसभा कहते हैं, की सदस्यता की। त्याग और तपस्या में उनके समकक्ष कांग्रेस में कितने थे? किंतु अपनी हिंदी-निष्ठा, गोभक्ति और विचार-स्वातंत्र्य के कारण वे लोकसभा के सदस्य मात्र रहे। वे साहित्यकार भी थे। उन्होंने १०९ नाटक, उपन्यास, आत्मकथा, गांधी पुराण (१२ खंडों में) तथा अनेक अन्य ग्रंथ और लेख लिखे। किंतु उनके बारे में कुछ कहने की इस समय हमारी मानसिक अवस्था नहीं है।

जो समस्या हमारे सम्मुख मुंह फाड़े खड़ी है वह यह है कि हिंदी के इस अंतिम एकनिष्ठ, सजग और कर्मठ प्रहरी के स्थान की पूर्ति किस प्रकार होगी। सेठजी अनन्य वैष्णव थे, उन्हें जीवन से मोह नहीं रह गया था और अवश्य ही उन्हें गोलोक मिला होगा। किंतु भारत की राष्ट्रभाषा और भारत की गऊ से उन्हें इतना गहरा प्रेम था कि गोलोक में भी वे इन दोनों के लिए चिंतित होंगे।

चित्त स्थिर हो जाने पर हम उनके संबंध में कुछ विस्तार से लिखेंगे। इस समय तो हम उनके वियोग से दुःखी हिंदी माता की करुण चीत्कार की केवल प्रतिध्वनि ही को व्यक्त कर सकते हैं।
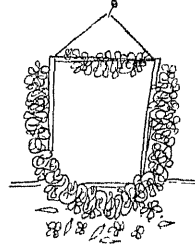
(पंडित) गोविन्दवल्लभ पंत

सारा प्रदेश उन्हें 'पंतजी' के नाम से ही जानता था। उत्तर प्रदेश में जो लोग चालीस वर्ष की अवस्था से अधिक के नहीं हैं, वे अपने होश संभालने के बाद से बराबर पंतजी का नाम सुनते आये थे। मालवीयजी और मोतीलाल नेहरू की पीढ़ी के बाद की पीढ़ी के तीन प्रमुख लोगों में जवाहरलालजी और राजर्षि टंडन अखिल भारतीय व्यक्ति हो गये। पंतजी में प्रतिभा की कमी नहीं थी, किंतु वे उत्तर प्रदेश में सीमित रहने में ही संतुष्ट थे। परिणाम यह हुआ कि प्रदेश के प्रशासन और राजनीति के वे पिछले तीस-चालीस वर्ष तक स्थायी अवयव रहे। इस बीच प्रदेश के राजनीतिक और प्रशासकीय मंच पर कितने ही लोग आये और गये, किंतु वे हिमालय की भांति अटल और अचल बने रहे। उत्तर प्रदेश से वे इतने अभिन्न और एकरस हो गये थे कि लोग विनोद में यू०पी० का अर्थ 'अंडर पंत' बतलाया करते थे। वे पहाड़ी प्रदेश के थे, और इसका उन्हें बड़ा गर्व था। इसीलिए कुछ लोगों ने उन्हें 'बोलंद बद्रीनाथ' का स्नेहपूर्ण उपनाम दे रखा था। वास्तव में उन्हें उत्तर प्रदेश से इतना प्रेम था कि उसे छोड़कर बाहर नहीं जाना चाहते थे, और अंत में जब प्रधान मंत्री ने केंद्रीय गृह मंत्रित्व संभालने का बहुत आग्रह किया तो वे कर्त्तव्य समझकर वहां चले गये, पर बड़ी अनिच्छा से। उनका शरीर दिल्ली में था, पर हृदय उत्तर प्रदेश में।

पंतजी सबसे पहले मालवीयजी के संपर्क में आये, और उनके ऊपर महामना का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। व्यवहार की मृदुता, विरोधियों से भी मधुर संबंध, भाषण में नर्मी, विरोधी तत्त्वों और विचारों में सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति आदि कितने ही गुण (यहां तक कि देर से पहुंचने की आदत भी) शायद उन्होंने महामना से ही सीखे। किंतु मालवीयजी का सबसे बड़ा प्रभाव उनके दृष्टिकोण पर पड़ा। वे कभी क्रांतिकारी (रिवोल्यूशनरी) नहीं हुए। वे विकास (एवोल्यूशन)

और विधान-नियम में हृदय से विश्वास करते थे। मालवीयजी की तरह ही वे कभी जल्दबाजी नहीं करते थे। मोतीलालजी नेहरू और गोपालकृष्ण गोखले का भी उन पर प्रभाव पड़ा था। बारीक विवरण में जाना, आंकड़ों तथा नजीरों का सूक्ष्म अध्ययन इसके प्रमाण हैं। किंतु इन प्रभावों से जो व्यक्तित्व विकसित हुआ, उसका मूलाधार अपना स्वतंत्र था। इन प्रभावों ने उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को विकसित होने में केवल सहायता अवश्य दी, किंतु उनकी महानता, उनकी कुशाग्र बुद्धि और सहृदयता उनकी अपनी चीजें थीं। संसदीय मामलों में वे बेजोड़ थे। अवश्य ही उनके पहले मोतीलालजी, भूलाभाई देसाई, सत्यमूर्ति आदि कितने ही संसदीय अखाड़िये हो चुके हैं जिनका सुयश बहुत दिनों तक रहेगा। किंतु वे सब विरोधी पक्ष में ही चमके। यह कहना कठिन है कि वे शासकीय पक्ष का संसदीय कार्य करने में कैसे उतरते। पंतजी के संबंध में ऐसी शंका की गुंजाइश नहीं है। आज इसे सारा देश एक स्वर से स्वीकार करता है कि वे महान् संसदवादी थे।

पंतजी हिंदी प्रदेश के थे और उन्हें हिंदी से प्रेम था। उन्हें साहित्य में रस मिलता था किंतु उन्हें स्वयं पढ़ने-लिखने का समय नहीं मिलता था। फिर भी वे कभी-कभी लेख आदि लिखा करते थे। यह बात बहुत कम लोगों को मालूम है कि उन्होंने 'सरस्वती' में पहला लेख १६०८ में लिखा था, और वह लेख किसानों की दशा के ऊपर था। उनका यह लेख 'सरस्वती' के हीरक जयंती अंक में प्रकाशित हुआ था। हिंदी साहित्य सम्मेलन के बंबई अधिवेशन का उद्घाटन करते समय उन्होंने जो भाषण दिया था वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण था और उनके हिंदी-संबंधी विचारों का दर्पण है। उत्तर प्रदेश में हिंदी को राजभाषा घोषित करने का श्रेय भी उन्हीं को है। वे कई वर्ष से मृत्युकाल तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति रहे। गृहमंत्री होने के कारण प्रथम हिंदी आयोग के प्रतिवेदन पर कार्यवाही करने का भार उन्हीं के ऊपर पड़ा। विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित करने की नीति के कारण वे केंद्र में हिंदी का विशेष हित नहीं कर पाये। यह उनकी विवशता थी।

पंतजी की मृत्यु से उत्तर प्रदेश की राजनीति में एक अंक का पटाक्षेप हो गया। भारत का एक अत्यंत कुशल संसदवादी राजनीतिज्ञ और चतुर प्रशासक उठ गया। उनके निधन से देश को जो क्षति हुई है उसका अनुमान लगाना कठिन है। इसका पता तो धीरे-धीरे ही लगेगा। सारे देश ने एक स्वर से उनके प्रति जो श्रद्धांजलि अर्पित की है उससे स्पष्ट है कि देशवासियों के हृदयों में उन्होंने कैसा स्थान बना लिया था। हम भी उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

(पंडित) चन्द्रबली पांडे

जनवरी १९५८ में लंबी बीमारी के बाद काशी में हिंदी के तपस्वी सेवक और विद्वान् पंडित चन्द्रबली पांडे का स्वर्गवास हो गया। उन्होंने हिंदी की एकनिष्ठ सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था। वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे और उन्होंने तपस्वी का जीवन व्यतीत किया। उन्होंने अपनी आवश्यकताएं आश्चर्य-जनक रूप से कम कर दी थीं। वे नंगे पैर रहते थे और खादी के केवल उतने ही कपड़े पहनते थे जिनके बिना समाज में वे 'असाधारण' प्रतीत न हों। उनका आहार भी बहुत सादा और बहुत कम था। प्रायः बीस वर्ष पहले जब वे पहली बार हमारे अतिथि हुए तब यह जानकर हमें अत्यंत आश्चर्य हुआ कि उन दिनों वे केवल एक बार पानी में भीगे हुए चार-पांच तोले चावल और दाल—और वह भी बिना नमक या मसाले के—खाते थे। न फल ही खाते थे, और न दूध ही पीते थे। शायद ब्लेड आदि के व्यय और रोज-रोज दाढ़ी बनाने की झंझट से बचने के लिए उन्होंने दाढ़ी रख ली थी। वे अरबी और फारसी के भी अच्छे विद्वान् थे, और इन कारणों से उनके गुरु आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल, उन्हें 'शाह साहब' कह-कर पुकारा करते थे। उन्होंने हिंदू विश्वविद्यालय से हिंदी में एम० ए० किया था। उनका हिंदी का अध्ययन असाधारण रूप से गंभीर और विस्तृत था। किंतु मित्रों के आग्रह करने पर भी उन्होंने 'डॉक्टरेट' के लिए प्रयत्न नहीं किया जो उनके लिए बड़ी सुलभ थी। 'डॉक्टरेट' के लिए प्रयत्न न करने का कारण यह था कि उन दिनों 'डॉक्टरेट' का अधिनिबंध (थीसिस) अंग्रेजी में लिखना अनिवार्य था। वे बहुत अच्छे ग्रेजुएट थे और अंग्रेजी में सरलता से अधिनिबंध लिख सकते थे; किंतु वे हिंदी की पदवी प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी में अधिनिबंध लिखना हिंदी का अपमान समझते थे। इसीलिए उन्होंने 'डॉक्टर' की पदवी नहीं ली। उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी, फारसी और उर्दू का गंभीर अध्ययन किया था।

इनके अतिरिक्त इतिहास, भाषा-विज्ञान और व्याकरण में भी उनकी बड़ी रुचि थी। वे बड़े अध्ययनशील थे और 'चंचु-प्रवेश' से संतुष्ट नहीं होते थे। अपनी इसी योग्यता के कारण उन्होंने हिंदी-उर्दू-विवाद के संबंध में उस समय जो पुस्तकें और पुस्तिकाएं लिखीं उनका स्थायी महत्त्व है और उनसे हिंदी के विद्यार्थियों और प्रेमियों की भावी पीढ़ियों को नया ज्ञान और नयी प्रेरणा मिलती रहेगी। हिंदी-उर्दू-विवाद के युग में जब हमने नागरी प्रचारिणी सभा को 'हिंदी' नामक हिन्दी-प्रचार संबंधी पत्र निकालने को प्रेरित किया और उसको निःशुल्क छापने के लिए इंडियन प्रेस के स्वर्गीय श्री हरिकेशव घोष को राजी कर लिया तब उसके लिए उपयुक्त संपादक की आवश्यकता हुई। पांडेजी ने उसके संपादन का भार प्रसन्नतापूर्वक अपना कर्तव्य समझकर अपने ऊपर ले लिया। उनके मन में उसके लिए कोई पारिश्रमिक या पुरस्कार लेने की बात कभी नहीं आयी। उन्होंने बड़ी लगन और योग्यता से उसका संपादन और संचालन किया। शायद हिंदी की निष्काम सेवा करनेवाले साहित्यिकों की पीढ़ी के वे अंतिम प्रतिनिधि थे। हिंदी संसार ने उन्हें अपेक्षाकृत कम अवस्था में हिंदी साहित्य-सम्मेलन के हैदराबाद अधिवेशन का सभापति चुनकर और सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्यवाचस्पति' की सर्वोच्च उपाधि देकर उनकी सेवाओं और पांडित्य का सम्मान किया था। उनके समान व्यक्तित्व—जिसमें प्रतिभा हो, पांडित्य हो, हिंदी के प्रति अखंड और अगाध निष्ठा हो, त्याग और तपस्या हो, निस्पृहता हो, शास्त्रीय सत्य के लिए आग्रह हो—अब हिंदी संसार में और कोई नहीं दिखलाई पड़ता। हमें न मालूम कितने दिनों दूसरे चन्द्रबली पांडेजी की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। उनकी मृत्यु से हिंदी को जो हानि हुई है उसका ठीक-ठीक अनुमान करना भी इस समय कठिन है क्योंकि वे उन वीरों में थे जो समय पड़ने पर काम देते हैं। आज जब चारों ओर से हिंदी पर प्रहार हो रहे हैं, हमें उनकी बरबस याद हो आती है। वे हिंदी के इतिहास में सदैव जीवित रहेंगे।
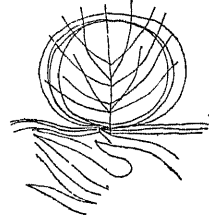
(डॉक्टर) चन्द्रशेखर रामन्

भारत के ही नहीं, संसार के वैज्ञानिक आकाश का एक अत्यंत देदीप्यमान नक्षत्र डॉ० रामन् के निधन से सदा के लिए अस्त हो गया। वे संसार के प्रमुख और विख्यात वैज्ञानिकों में थे। उन्हें अपने भौतिक विज्ञान में भौतिक शोध के लिए विज्ञान का संसार-प्रसिद्ध नोबल पुरस्कार मिला था। उनकी मृत्यु के बाद भारत में एक भी नोबल पुरस्कार विजेता नहीं रह गया। उन्हें संसार के विश्व-विद्यालयों से इतनी सम्मानित उपाधियां मिली थीं तथा सरकारों और वैज्ञानिक संस्थाओं से इतने सम्मान मिले थे कि यदि उन सबको लिखा जाय तो सामान्य छपी हुई पुस्तक के पूरे तीन पृष्ठ भर जायें ! इतना बहु-सम्मानित व्यक्ति भारत में दूसरा नहीं हुआ।

मनुष्य की विशेषता उसमें 'जिज्ञासा' का होना है। इसी जिज्ञासा के कारण मनुष्य ने सृष्टि की रचना और रहस्य की खोज की। किसी व्यक्ति में यह जिज्ञासा अंतर्जगत् के संबंध में होने के कारण आध्यात्मिक रूप ले लेती है, और किसी में बाह्य जगत् से संबंधित होने से वैज्ञानिक रूप। स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी एक सुंदर कविता में प्रथम वर्ग के जिज्ञासुओं के संबंध में कहा है :

> यह गम्भीर सृजनार्णव दुस्तर, परम अगम फेनिल चिर पंकिल !
> लहराते जिसके अंतर में नित्य सनातन प्रश्न तिमिंगिल।
> 'कुत आजाता इयं विसृष्टि: : ? क इह प्रबोचत् ? अहो वेदक: ?'
> 'अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन अंगवेद यदि वान वेदस: ?'
> अपना मुख फैलाये आये सम्मुख ये चिर प्रश्न पुरातन !
> यह रहस्य-उद्घाटनरत जन है संश्लथ तन, है अति उन्मन !
> मानव ने विसृष्टि लीला लख पूछा निज से 'का सा ? कोऽहम् ?'

मानव अपने अंतरतर में निरख कह उठा "साहं सोऽहम्"
इस 'कोऽहम्' 'सोऽहम्' की अब तक रार मची है अन्तस्तल में,
नेति और इति जूझ रही हैं मानव के इस हृदय विकल में !

इसके विपरीत, बाह्य जगत् में जिनकी जिज्ञासा उत्पन्न हुई वे प्रकृति के रहस्यों की खोज करने लगे। नवीन जी इनके संबंध में कहते हैं—

जगत रूप हृदयंगम करने कहाँ-कहाँ दौड़ाई निज मति ?
कितनी प्रखर साधना उसकी ! अति प्रचंड विज्ञान-ज्ञान रति ?
एक-एक कर दूर हटाये प्रकृति नर्तकी अंतर-पट किंतु अभी तक, इतने पर
भी मिटा न रंच यवनिका-संकट।
लीलामयी प्रकृति मानव से खेल रही है आँख-मिचौनी
औ मानव है अविहित-लोचन, जड़-गुण-बद्ध स्तब्ध अति मौनी।
ऐसा खेल कि रहता ही है संतत दाँव इसी मानव पर,
मानव के शिर पर है मंडित जिज्ञासा अभिशाप भयंकर।
कभी कुहुक आयी अंबर से 'ढूंढ़ो' यों बोले सब उड्गण,
मानव ने उद्ग्रीवी होकर उधर उठाये अपने लोचन,
इतने में 'ढूँढ़ो-ढूँढ़ो' के आये स्वर पाताल अतल से मानव ने घबड़ाकर मोड़े
अपने युग दृग चकित अबल-से।
किंतु उसी क्षण दिशि-दिशि गूँजा 'ढूँढ़ो-ढूँढ़ो' का यह गुंजन,
किधर निहारे, किसको ढूंढ़े यह बौराया-सा जन उन्मन ?
अमित ज्ञान भंडार, युगों के यत्नों से संचित कर पाया,
यह मानव निज रिक्त कोश को नाना रत्नों से भर लाया,
जहाँ सभी दिशि इस अगजग के स्फुरणों में था केवल संभ्रम्,
जहाँ अंध व्यस्तता मात्र थी, वहाँ लखा इसने कारण क्रम।
निरलंकृता प्रकृति को इसने पहनाये नियमों के कंकण !
यह रहस्य उद्घाटन-रत जन फिर भी फिरता है नित उन्मन !

भारत के मनीषियों में दोनों ही प्रकार की जिज्ञासाएं आरंभ ही से थीं। एक ओर जहां उन्होंने अंतर्जगत् की जिज्ञासा के फलस्वरूप दर्शन और अध्यात्म में सर्वोच्च कोटि के अन्वेषण किये, वहां दूसरी ओर बाह्य प्रकृति के प्रति अपनी जिज्ञासा के कारण खगोल, ज्योतिष, गणित, रसायन, आयुर्वेद आदि में अन्वेषण और आविष्कार किये। किंतु ऐतिहासिक कारणों से हमारी जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा कई शतियों तक सुप्त रही। पिछली दो शतियों में पश्चिम भौतिक जगत् संबंधी जिज्ञासा ने तीव्र प्रगति करके आधुनिक विज्ञान को उन्नति के शिखर पर पहुंचा दिया। भारत इस क्षेत्र में इतना पिछड़ गया था कि संसार के 'नवीन वैज्ञानिक गणना प्रसंग' में हमारे यहां 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' योग्य भी वैज्ञानिक मिलने कठिन

थे। पिछली शती के अंत और इस शती के आरंभ में जगदीशचन्द्र बोस, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय, प्रोफेसर गज्जर और अल्पायु रामानुजम ने इस देश में आधुनिक वैज्ञानिक शोध की स्थापना की और वैज्ञानिक संसार का ध्यान भारत की ओर आकृष्ट भी किया, किंतु वास्तव में वैज्ञानिक संसार में भारत को सम्मानित और सुनिश्चित स्थान दिलाने का श्रेय डॉ० चन्द्रशेखर वेंकट रामन् को है।

उत्कट भौतिक जिज्ञासा उनकी विशेषता थी—और वह भी अपने वातावरण और दृष्टि में आनेवाली वस्तुओं के संबंध में। इंग्लैंड जाते समय उन्हें विशेषकर भूमध्य सागर के जल की नीलिमा को देखकर यह जिज्ञासा हुई कि वह नीला क्यों है और अलग-अलग स्थानों में—या अलग-अलग समय में—उसकी नीलिमा में परिवर्तन क्यों होता है। उनकी जिज्ञासा इतनी उद्दाम थी कि वे उसका अन्वेषण करने लगे और उसकी परिणति उनके उस संसार-प्रसिद्ध अन्वेषण में हुई जो एक सिद्धांत बन गया और जो उनके नाम पर 'रामन् प्रभाव' (रामन एफेक्ट) के नाम से निश्वविख्यात हुआ। उन्होंने यह आविष्कारकिया कि जब प्रकाश किसी माध्यम में से होकर निकलता है तब उसके रंग में ही परिवर्तन नहीं हो जाता प्रत्युत उसकी (प्रकाश की) तरंगों के आकार में भी परिवर्तन हो जाता है। यह अन्वेषण अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुआ और इसका उपयोग अणु की प्रकृति जानने में भी हुआ। इसी अत्यंत महत्त्वपूर्ण अन्वेषण के लिए उन्हें संसार का सर्वोच्च पुरस्कार (नोबल पुरस्कार) मिला था।

उनकी दूसरी विशेषता यह थी कि वे अत्यंत मेधावी थे। उन्होंने अल्पायु में बी०ए० और एम०ए० किया ही नहीं, प्रत्युत इन परीक्षाओं में इतने अधिक अंक प्राप्त किये कि वर्षों दूसरे परीक्षार्थी उतने अंक प्राप्त नहीं कर सके। उनका हृदय विज्ञान में था, किंतु उनके पिता उन्हें अच्छी सरकारी नौकरी में जाने को बाध्य कर रहे थे। उन दिनों भारतीयों के लिए भारत में आई० सी० एस० की परीक्षा नहीं होती थी, सबसे अधिक वेतन की नौकरी अखिल भारतीय वित्त सेवा थी। वे उसकी परीक्षा में बैठकर प्रथम हुए और असिस्टेंट एकाउंटेंट जनरल नियुक्त हो गये। उन दिनों ब्रह्मदेश भी ब्रिटिश भारत का अंग था। वे रंगून, नागपुर और कलकत्ते में असिस्टेंट और फिर डिप्टी एकाउंटेंट जनरल के पद पर रहे। किंतु उनका वैज्ञानिक अनुसंधान का शौक बना रहा। उन्होंने घर पर ही अपनी एक छोटी प्रयोगशाला बना रखी थी और अपने अवकाश-काल के कई घंटे उसी में प्रयोग करने में बिताते थे। यही नहीं, वे स्थानीय वैज्ञानिक संस्थाओं के कार्यक्रमों में भाग लेते और देश-विदेश की वैज्ञानिक शोध-पत्रिकाओं में शोध निबंध भी लिखते। धीरे-धीरे वैज्ञानिक के रूप में उनकी ख्याति बढ़ती गयी। अंत में जब वे कलकत्ते में थे उस समय सर तारकनाथ पालित के दान से कलकत्ता विश्वविद्यालय ने साइंस प्रतिष्ठान स्थापित किया। गुणग्राही और मनुष्यों की योग्यता के अनुपम

पारखी न्यायमूर्ति सर आशुतोष मुकर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे। उन्होंने श्री रामन् से विज्ञान का प्रोफेसर पद लेने का प्रस्ताव किया। यद्यपि उस समय वे प्रोफेसर के वेतन से कहीं अधिक वेतन पा रहे थे, तथापि उनका विज्ञान-प्रेम इतना उत्कट था कि उन्होंने उस बड़े पद को ठोकर मारकर प्रोफेसर का पद स्वीकार कर लिया। वहां उन्होंने अपने कार्य और अनुसंधानों से और भी ख्याति प्राप्त की, और जब कई वर्ष बाद बंगलौर में भारत का सबसे बड़ा विज्ञान संस्थान स्थापित हुआ तब उनसे उसके निदेशक पद को स्वीकार करने का आग्रह किया गया। उन्होंने इसके लिए कड़ी शर्तें लगायीं—१५ वर्ष तक वे हटाये नहीं जा सकेंगे, उन्हें कार्य की पूरी स्वतंत्रता रहेगी आदि। सरकार ने उनकी शर्तें स्वीकार कर लीं और वे उसके संचालक हो गये। उनके निदेशन में संस्थान ने बड़ी ख्याति प्राप्त की।

वे बड़े मेधावी थे। बड़े ऊंचे वैज्ञानिक थे। बड़े सफल प्रोफेसर थे। सेसिल रोड्स (Cecil Rhodes) ने एक बार कहा था कि महान प्रोफेसर वित्तीय और प्रशासनिक मामलों में पटु नहीं होते। डॉ० रामन् अपने महान वैज्ञानिक ज्ञान और कार्य के बावजूद अच्छे प्रशासक नहीं थे। उनमें लोगों से मिलकर, सामंजस्य स्थापित करके काम लेने की क्षमता नहीं थी। वे अच्छे प्रशासक तो नहीं ही थे। इसके अतिरिक्त उनमें अहम्मन्यता की मात्रा भी आवश्यकता से अधिक थी और भिन्न मत रखनेवालों के प्रति वे सहिष्णु भी नहीं थे। सरकारी तंत्र में ऐसे व्यक्ति का निर्वाह कैसे हो सकता है ? अंत में तंत्र के नियमों और संघर्षों के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि डॉ० रामन् ने ऊबकर उस संस्थान को स्वयं छोड़ देने और अपना एक अलग विज्ञान-शोध संस्थान स्थापित करने का निश्चय किया। उस संस्थान का नाम उन्होंने अपने नाम पर 'रामन् विज्ञान संस्थान' रखा, और वह भी बंगलौर ही में स्थापित किया और वे अंतिम सांस तक उसी में काम करते रहे। जीवन के अंतिम भाग में वे स्फटिकों और मणियों पर अनुसंधान कर रहे थे। जब उन्हें नोबल पुरस्कार मिला तब हीरों पर अनुसंधान करने के लिए उन्होंने प्राय: ५०-६० हजार के हीरे खरीद डाले थे।

उन्होंने स्वयं ही महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक अन्वेषण नहीं किये, किंतु देश में वैज्ञानिक अनुसंधान के स्तर को दिशा दी और उसका स्तर ऊंचा किया। उन्होंने कितने ही वैज्ञानिक तैयार किये। भाभा आणविक संस्थान के वर्तमान अध्यक्ष श्री विक्रम साराभाई उन्हीं के शिष्य हैं।

उनका जीवन सादा और उनके शौक स्वस्थ थे। उन्हें फूलों का शौक था और संगीत से प्रेम था। वे स्वयं बहुत अच्छा वायलिन बजाते थे। वास्तव में तार के वाद्य-यंत्रों पर उन्होंने महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये थे और उन पर कई शोध-पत्र लिखे थे।

वे बड़े अच्छे वक्ता थे और उनका भाषण बड़ा ज्ञानवर्द्धक और रोचक होता था। उसमें जगह-जगह हास्य और व्यंग्य का पुट रहता था जिससे उनके गहन विषय की गंभीरता से श्रोता घबरा नहीं जाता था। किंतु कभी-कभी वे कटु व्यंग्य भी कर बैठते थे और क्रुद्ध होने पर उनकी भाषा बहुत तीखी हो जाती थी। इसी-लिए बहुत-से समकालीन वैज्ञानिकों से —उनकी महानता के बावजूद पटरी नहीं बैठती थी। वे बड़े अंग्रेजी-परस्त थे। हिंदी के तो वे बड़े विरोधी थे। कहा जाता है कि एक बार वे कहीं जा रहे थे। रास्ते में गाड़ी इलाहाबाद स्टेशन पर रुकी। वहां राजर्षि टण्डन को पहुंचाने या लेनेवाली भीड़ को देखकर डॉ० रामन् ने पूछा कि वे कौन हैं। जब उन्हें मालूम हुआ कि ये वे पुरुषोत्तमदास टण्डन हैं जो हिंदी के प्रचार के लिए उत्तरदायी हैं तो वे उनसे अपरिचित होते हुए भी उनके पास जा खड़े हुए और हाथ जोड़कर व्यंग्य करते हुए अंग्रेजी में बोले, "मैं हिंदी नहीं जानता, मुझे देश में रहने का अधिकार है ?" राजर्षि ने मुस्कुराकर उनके व्यंग्य को व्यर्थ कर दिया। हिंदी ही नहीं, वे अपने ही प्रांत में उच्च शिक्षा के लिए अपनी मातृभाषा तमिल को माध्यम बनाने के पक्ष में नहीं थे। वे उस युग में पैदा और परिपक्व हुए जब अंग्रेजी का सूर्य इस देश में प्रखर था। वे उस समय के संस्कारों को छोड़ने, और बदलते हुए वातावरण को समझने में असमर्थ थे। उनका धर्म 'विज्ञान' था। वे और किसी धर्म को नहीं मानते थे। शायद वे चार्वाक की तरह विशुद्ध जड़वादी थे। उन्होंने कह दिया था कि मेरे शव को मेरे संस्थान के भीतर ही बिना किसी धार्मिक कृत्य या रीति के जला दिया जाय। अतएव उनका शव उनके निवासस्थान से प्रायः दो सौ गज की दूरी पर संस्थान के अहाते के भीतर, उनके मित्र और शिष्य एक स्ट्रेचर पर ले गये और वहां लकड़ियों की चिता बनाकर उनका मृत शरीर जला दिया गया। किंतु उपस्थित शिष्यों और मित्रों में शायद इतना उद्दाम 'विज्ञान धर्म' नहीं था। उन्होंने कोई धार्मिक या वैदिक क्रिया तो नहीं की, किंतु न मालूम क्यों वे 'रामधुन' गाने लगे ?

जो भी हो, डॉ० रामन् के निधन से भारत ने अपना सबसे महान् वैज्ञानिक खो दिया।
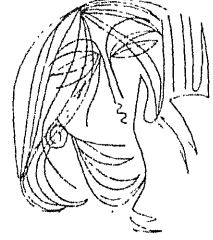
(पंडित) जगन्नाथप्रसाद शुक्ल

६० वर्ष की परिपक्व आयु में इस समय के ज्येष्ठतम हिंदी लेखक और पत्रकार पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल का प्रयाग में स्वर्गवास हो गया। शुक्लजी उस युग के अंतिम अवशेष थे जिसमें हिंदी की सेवा जीवन का एक लक्ष्य समझी जाती थी। उनका कार्यक्षेत्र प्रयाग, रायपुर, नागपुर और बंबई था। फतेहपुर जिले के एकडला नामक ग्राम में उनका जन्म हुआ और वे विद्यार्थी अवस्था ही में कारणवश विलासपुर चले गये थे। वहां उन्होंने नार्मल स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसमें प्रथम आये। रायपुर में एक सरकारी स्कूल में अध्यापक हो गये। विद्यार्थी जीवन ही से उन्हें हिंदी से प्रेम था और वे उसमें लिखा करते थे। विलासपुर और रायपुर में उनका संपर्क श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' और पं० माधवराव सप्रे से हुआ। इससे उनका साहित्य-प्रेम बढ़ा और उनमें राजनीतिक चेतना जगी। उन दिनों प्रयाग से 'प्रयाग समाचार' नामक एक साप्ताहिक निकलता था। एक बार उन्होंने उसकी भाषा की आलोचना लिखकर उसके स्वामी के पास भेज दी। वे उसे पढ़कर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनसे 'प्रयाग समाचार' का संपादन-भार लेने का आग्रह किया। शुक्लजी भी हिंदी की सेवा करना चाहते थे। वे उसके संपादक होकर प्रयाग चले आये। उन दिनों 'प्रयाग समाचार' की बड़ी धूम थी, और वह 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार', 'हिंदी बंगवासी' और 'भारत मित्र' के समकक्ष समझा जाने लगा था। उसके संपादन से उन्हें बड़ी ख्याति मिली, और 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के संपादक पं० लज्जाराम मेहता ने, जो संपादन-कार्य से मुक्त होकर अपने घर (बूंदी) जाना चाहते थे, उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाने के लिए बंबई बुला लिया। शुक्लजी ने 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' का संपादन बड़ी सफलता से कई वर्ष किया। बाद में जब नागपुर से पं० माधवराव सप्रे ने 'हिंदी केसरी' निकालने का निश्चय किया तब उन्होंने शुक्लजी को नागपुर बुला

लिया। 'हिंदी केसरी' में उनके सहयोगी पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी और पं० लल्लीप्रसाद पांडे भी थे। सरकार की कोपदृष्टि के कारण अंत में हिंदी केसरी बंद हो गया।

बंबई में शुक्लजी का परिचय आयुर्वेद के उद्धारक और प्रसिद्ध वैद्य पंडित शंकरदाजी शास्त्री पद से हो गया था और उन्होंने आयुर्वेद की शिक्षा भी ली थी। 'हिंदी केसरी' के बंद होने पर शुक्लजी को हिंदी बंगवासी के स्वामियों ने अपने यहां बुलाना चाहा, किंतु पं० शंकरदाजी शास्त्री उनसे आयुर्वेद के पुनरुत्थान का कार्य हाथ में लेने का आग्रह किया। वे उस समय आयुर्वेद महासम्मेलन का संगठन कर रहे थे। उन्होंने प्रयाग को केंद्र बनाकर इस काम का भार शुक्लजी को सौंप दिया। तब से शुक्लजी मृत्युपर्यंत प्रयाग ही में रहे। उन्होंने आयुर्वेद सम्मेलन की जो सेवा की वह स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है। उसे उन्होंने अपने परिश्रम और संगठन-दक्षता से एक शक्तिशाली और जीवंत अखिल भारतीय संस्था बना दिया तथा उसमें सारे देश के वैद्यों का सहयोग प्राप्त कर लिया। उन्होंने हिंदी में 'सुधानिधि' नामक एक मासिक पत्र निकाला जिसका उद्देश्य आयुर्वेद का प्रचार था। वे इसे अपने व्यय से प्रायः पचास वर्ष तक बराबर निकालते रहे। उन्होंने हिंदी में आयुर्वेद पर अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं और हिंदी साहित्य सम्मेलन को भी 'वैद्यविशारद' परीक्षा आरंभ करने के लिए प्रेरित किया।

शुक्लजी कुशल वैद्य थे और वर्षों उत्तर प्रदेश के भारतीय चिकित्सा बोर्ड के सदस्य रहे। वे झांसी के आयुर्वेद विश्वविद्यालय के भी वाइस चांसलर चुने गये थे। वैद्य के रूप में उनका सारे देश में सम्मान था।

किंतु अत्यंत व्यस्त रहते हुए भी वे न तो हिंदी की सेवा से विरत हुए और न राजनीति से। हिंदी में आयुर्वेद संबंधी जो पुस्तकें उन्होंने लिखी हैं उनकी पृष्ठ-संख्या दस हजार से ऊपर है,और 'सुधानिधि' ही में उन्होंने पचास-साठ हजार पृष्ठ लिखे होंगे। इसके अतिरिक्त वे हिंदी साहित्य सम्मेलन में प्रायः चालीस वर्ष किसी-न-किसी पद पर काम करते रहे। वे वर्षों उसके मंत्री रहे। राजर्षि टण्डन के वे अत्यंत विश्वसनीय सहयोगी थे। सम्मेलन ने उनकी हिंदी-सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें साहित्यवाचस्पति की उपाधि से सम्मानित किया था।

राजनीति में वे लोकमान्य के अनुयायी थे। बाद में वे गांधीवादी हो गये। आंदोलनों में भाग लेने के कारण वे कई बार जेल भी गये। वे परम वैष्णव थे, किंतु उन्हीं के प्रयत्न से इलाहाबाद के प्रसिद्ध श्री वेणीमाधवजी के मंदिर में हरिजनों का प्रवेश हो सका।

उनसे हमारा परिचय इस शती के प्रथम दशक के पूर्वार्द्ध में हुआ था जब वे 'प्रयाग समाचार' के संपादक थे और जब हमने शायद अपनी शिक्षा आरंभ ही की थी। बाद में हमने उनसे वाग्भट का अष्टांग हृदय पढ़ा। वे हमारे पूज्य पिताजी के

मित्र थे और उन्हें अपने बड़े भाई के समान मानते थे। इन साठ से अधिक वर्षों में हमने उनको अनेक परिस्थितियों में देखा। जितना ही निकट से उन्हें जाना, उतना ही अधिक आदर उनके उच्च चरित्र, उदार हृदय और कर्मठता के लिए हमारे हृदय में उत्पन्न हुआ। उनके निधन से हिंदी का इस समय का सबसे वृद्ध पत्रकार और साहित्य-सेवी ही नहीं उठ गया, प्रत्युत हिंदी का एक अत्यंत निष्ठावान सेवक और अनन्य भक्त भी चला गया। हमारे लिए तो उनका स्वर्गवास व्यक्तिगत वियोग है। हम उस उदार और महान् व्यक्ति के प्रति अपनी अत्यंत विनम्र और शोकपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

(पंडित) जवाहरलाल नेहरू

एक युग का अंत!

पं० जवाहरलाल नेहरू के स्वर्गवास के साथ भारत में एक युग की समाप्ति हो गयी। बंगभंग और स्वदेशी आंदोलन के साथ इस देश की जनता में राजनीतिक चेतना जाग्रत हुई जिसका नेतृत्व बाल-पाल-लाल (लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, बाबू विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय) की त्रिमूर्ति ने किया। उसके बाद कुछ वर्षों तिलक का एकछत्र नेतृत्व रहा। उनकी मृत्यु के बाद गांधी का ऐतिहासिक युग आरंभ हुआ जिसमें जनता की राष्ट्रीय चेतना चरम सीमा पर पहुंच गयी, और जिसके परिणामस्वरूप भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू हुए और सत्रह वर्ष तक वे देश के एकमात्र नेता, शासक और नियामक रहे। सैकड़ों वर्षों की परतंत्रता और परवशता के फलस्वरूप देश को जो भौतिक क्षेत्र में पिछड़ापन मिला था, हमारे राष्ट्रीय आर्थिक जीवन में जो अभाव उत्पन्न हो गये थे, हमारी जो आर्थिक और भौतिक क्षति हो गयी थी, इस युग में नेहरूजी के नेतृत्व में उसकी पूर्ति का प्रयत्न किया गया तथा देश को एक करने, जनतंत्र की जड़ें मजबूत करने

एवं प्रशासन को स्थायित्व देने तथा उसे नयी परिस्थितियों के अनुकूल ढालने का भागीरथ प्रयत्न हुआ। आज एशिया के सद्यः स्वतंत्र देशों में कितने ही देश जन-तंत्र को सफल बनाने में असमर्थ दीख पड़ते हैं, कितनों की ही आर्थिक अवस्था बिगड़ी हुई है, कितनों में यदि एकता का बाह्य ढांचा दिखलाई भी पड़ता है तो वह पशुबल के कारण। कितनों में प्रशासन का स्थायित्व नहीं। क्रांति द्वारा सरकारें बदल जाती हैं। कहीं-कहीं तो सैनिक शासन भी हो जाता है। इनसे तुलना करने पर मालूम होता है कि यह युग—जिसे नेहरू-युग कहना ठीक होगा—सद्यः स्वतंत्र भारत के लिए कितना बड़ा वरदान था। हम इसे नेहरू-युग इसलिए कहते हैं कि इस युग के एकमात्र सूत्र-संचालक नेहरूजी थे। उनकी मृत्यु के साथ वह युग समाप्त हो गया।

आधुनिक भारत में कितने ही लोकप्रिय नेता हुए, किंतु सामान्य जनता के हृदयों में जो व्यापक श्रद्धा और लोकप्रियता लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और नररत्न जवाहरलाल नेहरू को मिली वह शायद ही किसी को मिली हो। किंतु पहले दो नेताओं की लोकप्रियता से नेहरूजी की लोकप्रियता में एक बड़ा अंतर है। वह यह कि पहले दोनों केवल नेता थे। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रशासक होने पर उनकी लोकप्रियता का क्या होता। किंतु नेहरूजी नेता के अतिरिक्त लंबी अवधि तक प्रशासक भी रहे। स्वतंत्रता के बाद के नाजुक समय में इतनी लंबी अवधि तक नाना धर्मों, वर्गों और श्रेणियों के इस विशाल देश में, जहां विषमताओं की भरमार है और जहां भिन्न-भिन्न वर्गों के आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते रहते हैं, प्रशासन करते हुए भी वे अपनी लोकप्रियता बराबर बनाये रहे। जनता के हृदय में उनके प्रति सम्मान और स्नेह बढ़ता ही गया। अंत तक यह देखा जाता रहा कि उनके आने का समाचार मिलते ही देश के प्रत्येक कोने में लाखों की संख्या में लोग उनके दर्शनों को जमा हो जाते थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके शव के अंतिम दर्शनों के लिए उनकी कोठी पर और शवयात्रा में जनता की अपार और अभूतपूर्व भीड़ इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह लोकप्रियता का एक अभूतपूर्व कीर्तिमान है।

उनकी इस लोकप्रियता के अनेक कारण हैं। आज अधिकांश भारतवासी पचास वर्ष से कम ही अवस्था के हैं। जब से उन्होंने होश संभाला तब से उन्होंने जवाहरलालजी को देश के चोटी के नेताओं में पाया, और ज्यों-ज्यों स्वतंत्रता-संग्राम तीव्र होता गया त्यों-त्यों उनका महत्त्व बढ़ता गया। स्वयं गांधीजी ने उन्हें आगे बढ़ाया। उनके नेतृत्व की बार-बार प्रशंसा की और उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। इतना ही नहीं, इन चालीस वर्षों में शायद ही कोई दिन ऐसा गया हो जिस दिन समाचारपत्रों में उनके संबंध में कोई समाचार या उनका कोई वक्तव्य या व्याख्यान न छपा हो। शायद ही कोई सप्ताह

गया हो जब समाचारपत्रों में कम-से-कम एक-दो बार उनके चित्र न निकले हों। छोटे-बड़े कवियों ने उनकी प्रशंसा और स्तुति में असंख्य कविताएं लिखीं जिनका गांवों तक में प्रचार हुआ। आज के पचास वर्ष तक के भारतीय नागरिक के लिए वे भारतीय राजनीति के अक्षयवट हो गये थे। सामान्य नागरिक भारतीय राज-। नीति में उनकी स्थिति को उसी तरह से अचल और अनिवार्य समझते थे जिस प्रकार आकाश में सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों को। नेहरू-हीन भारत से अभ्यस्त होने में लोगों को काफी समय लगेगा।

किंतु यदि नेहरूजी में असाधारण गुणों का समुच्चय न होता तो इन सब बातों के बावजूद वे इतने दिनों जनता के हृदय-हार नहीं बने रह सकते थे। भगवान् ने उन्हें अत्यंत आकर्षक व्यक्तित्व दिया था और उससे भी अधिक आकर्षक एवं विशाल हृदय दिया था। इन सबके ऊपर उन्हें बड़ी तीव्र बुद्धि और सुलझा हुआ मस्तिष्क मिला था। भाग्यवान इतने थे कि वे एक अत्यंत धनी और सुरुचिपूर्ण परिवार में उत्पन्न हुए। बुद्ध के समान ही उन्होंने कभी किसी प्रकार भौतिक अभाव का अनुभव नहीं किया। और उन्हीं के समान, वैभव के बावजूद, उनके हृदय में मानवता के लिए एक तीव्र विकलता थी। उन्हें स्वास्थ्य इतना सुंदर मिला था कि सतत कठिन परिश्रम करते रहने पर भी वे विश्राम की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते थे। शायद उनकी इस अनोखी स्वानुभूति ने ही उनसे 'आराम हराम है' का नारा निकलवाया था।

इतिहास में कितने ही शासक 'महान्' कहलाते हैं। यदि हम देखें तो पायेंगे कि 'महान्' कहे जानेवाले शासक युद्धों में विजयी होने के कारण 'महान्' नहीं कहलाये। यदि ऐसा होता तो चंगेज खां और तैमूर को इतिहास 'अति महान्' कह डालता। महत्ता युद्ध में नहीं, शांति में है। वह ध्वंस में नहीं, निर्माण में है। मानवता को जो जितना ही लाभ पहुंचाता है, वह उतना ही महान् है। अशोक ने कहा था कि धर्म की विजय ही सच्ची विजय है। आज के परिवेश में कहा जा सकता है कि आज 'बहुजन' का जो जितना अधिक हित कर सके, जितने अधिक क्षेत्रों में वह मानवता को लाभ पहुंचा सके, वह उतना ही महान् है।

ध्यान से देखने से ऐसा भान होता है कि संसार के दो महान् शासकों का नेहरूजी पर प्रभाव पड़ा जो उनके प्रशासन, आदर्शों, लक्ष्यों और दृष्टिकोण में परिलक्षित हैं। ये दोनों ही शासक परस्पर विरोधी धाराओं के थे। एक थे अशोक और दूसरे नेपोलियन। अशोक की करुणा, मानवता, बहुजनहिताय की भावना ने उन्हें प्रत्यक्षतः प्रभावित किया था। अशोक-स्तंभ के सिंहों को राष्ट्रीय चिह्न बनाना तथा उनके स्तंभ के धर्मचक्र को राष्ट्रीय ध्वज पर स्थान देना उसी प्रभाव की अभिव्यक्ति है। अशोक का 'मानव-कल्याण' और (युद्ध से प्राप्त विजय के विपरीत) 'धर्म-विजय' का आदर्श उनका भी आदर्श रहा। संभव

है, हमारे इस कथन से कि वे (शायद अवचेतन में) नेपोलियन से प्रभावित थे, हमारे पाठक चौंके। किंतु जब हम नेपोलियन के प्रभाव की चर्चा करते हैं तब हमारा आशय उसके युद्धों से नहीं है। उसने अपने युद्धों से सारे योरोप को त्रस्त कर रखा था, और अंग्रेजों को तो उसने नाकों चने चबवा दिये थे। इसलिए नेपोलियन का प्रशासकीय कार्य भुला दिया गया। नेपोलियन स्वयं अशोक की तरह कोई उच्च मानव-आदर्शोंवाला व्यक्ति न था, किंतु उसमें गजब की कल्पना-शक्ति थी और उसकी प्रशासकीय दृष्टि और योग्यता अत्यंत विशाल और उच्च थी। योरोप (रूस को छोड़कर) आकार में विभाजन-पूर्व भारत के लगभग है। उस समय वह छोटे-छोटे बीसों राज्यों में बंटा था। आज भी वह एक नहीं है। नेपोलियन ने आज से प्रायः दो-पौने दो सौ वर्ष पहले 'संयुक्त' योरोप की कल्पना की थी। अवश्य ही 'संयुक्त' योरोप बनाने के उसके उपाय हिंसात्मक थे और उसमें उसे सफलता भी नहीं मिली, किंतु उसे उस 'संयुक्त' योरोप का स्वप्न देखने, और उस स्वप्न को मूर्त करने का प्रयास करने का श्रेय तो मिलना ही चाहिए जिसे बनाने के लिए आज योरोप में प्रयत्न हो रहा है। विभिन्न भाषा-भाषियों के बहुसंख्यक देशों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न एक ऐसा प्रयास था जो भारत को एक छत्र में लानेवालों की सहानुभूति प्राप्त कर सकता था। नेपोलियन ने फ्रांस को महान् बनाने का प्रयत्न किया। उसने पेरिस को सुंदर और विशाल भवनों से अलंकृत किया। उसने सबसे पहले 'सिविल सर्विस' का संगठन किया। उसने 'कोड नेपोलियन' नामक दंड-विधान बनाया जो संसार में अपने ढंग का पहला विधान था। आज भी वह अद्वितीय है। कहा जाता है कि भारतीय दंड-विधान (इंडियन पीनल कोड) उसी पर आधारित है। उसने पंचांग का सुधार कराया; और योरोप में ही नहीं, संसार में आज जो 'अंग्रेजी' कैलेंडर (पंचांग) चल रहा है, वह उसी की देन है। उसने मुद्राओं आदि में दश-मलव प्रणाली चलायी और सारे योरोप की कलानिधियों को लूटकर पेरिस में कला-संग्रहालय स्थापित किये। सारांश यह कि नेपोलियन 'आधुनिक प्रशासन' का अग्रदूत था। उसने फ्रांस के प्रशासन को आधुनिक बनाया और उसकी इतनी सुदृढ़ नींव रखी कि फ्रांस का वर्तमान प्रशासन बहुत अंशों में नेपोलियन ही की देन है। वह अपने समय का सबसे अधिक प्रगतिशील और प्रबुद्ध तथा ज्ञानो-द्दीप्त (एनलाइटेंड) शासक था। यदि हम ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि नेपोलियन ने फ्रांस के प्रशासन को जिस प्रकार आधुनिक बनाया, उसी प्रकार नेहरूजी ने भारतीय प्रशासन को अपने समय के अनुसार आधुनिक बनाने का बहुत कुछ सफल प्रयास किया। यह कहना तो ठीक न होगा कि उन पर नेपोलियन का प्रत्यक्ष प्रभाव था, किंतु अवचेतन में उनके समान इतिहास के अध्येता यदि उससे प्रभावित हुए हों तो आश्चर्य नहीं।

जवाहरलालजी की सबसे बड़ी विशेषता उनका व्यापक और अखिल विश्व-दृष्टिकोण था। इसमें वे सच्चे भारतवासी थे। भारत में जो कुछ सोचा गया वह किसी एक जाति या एक देश के लिए नहीं, प्रत्युत सारी मानव-जाति के लिए। मनुस्मृति का दूसरा नाम 'मानव-धर्मसार' है—'हिंदू-धर्मसार' नहीं। व्यवहार में हम चाहे जितने संकुचित हों, किंतु हमारी सांस्कृतिक विरासत का दृष्टिकोण सदैव व्यापक और सार्वभौम रहा है। पं० जवाहरलाल नेहरू दृष्टिकोण में भी और व्यवहार में भी, कथनी में भी और करनी में भी, इसी भारतीय मानवतावादी दृष्टिकोण के सबसे महान् और सबसे सफल व्याख्याता और अभ्यासकर्ता थे। वे केवल भारत की स्वतंत्रता ही नहीं चाहते थे, मानव-मात्र की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने को तैयार रहते थे। उनके 'मानव' की कल्पना में गोरे, काले, पीत या आर्य, मंगोल और हब्शी का भेद न था। जो भी मनुष्य पराधीन था—चाहे वह एशिया में हो, योरोप में हो या अफ्रीका में हो—उनकी सहानुभूति और सहायता का पात्र था। इसीलिए एशिया और अफ्रीका के परतंत्र देश उन्हें अपना नेता और त्राता मानते थे। यही उनके विश्व-नेतृत्व का रहस्य था।

उनके इसी मानव-प्रेम और मानवतावादी सिद्धांत का परिणाम था कि वे 'सामाजिक न्याय' पर इतना बल देते थे। विदेशी शक्ति से दबे न रहने पर भी कितने ही स्वाधीन समाजों और स्वतंत्र देशों में ऐसी आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं कि वहां के कितने ही मनुष्यों को अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने और समाज में समान सुविधाएं या स्थान प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता। उनके लिए देश की स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाती है। यदि किसी समाज में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण कर सके, उसकी लाचारी का अनुचित लाभ उठा सके और देश का कानून उसे रोकने में निरुपाय हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस समाज में 'सामाजिक न्याय' है। 'सामाजिक न्याय' के बिना व्यक्ति अपनी भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। जिस देश या समाज में भौतिक, नैतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से अर्द्धविकसित मानव हों, वह वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता। हम तीसरे दर्जे की ईंटों और घटिया सामान से पहले दर्जे की सुदृढ़ इमारत नहीं बना सकते। यदि देश को प्रथम श्रेणी का बनाना है तो उसके नागरिक भी भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से प्रथम श्रेणी के होने चाहिए। और यह बिना 'सामाजिक न्याय' के नहीं हो सकता। वे भारत को प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बनाना चाहते थे इसलिए वे सामाजिक न्याय पर इतना बल देते थे। उन्होंने जो कानून बनाये, वे इस बात के जीवित साक्षी हैं। वे भारत में ही नहीं, सारे संसार में 'सामाजिक न्याय' को परमावश्यक समझते थे।

और इसीलिए वे राष्ट्रसंघ के प्रबल समर्थक थे। वे जानते थे कि जब तक

संसार में एक विश्व सरकार स्थापित नहीं होती तब तक न तो संसार के सब मनुष्यों को 'सामाजिक न्याय' मिल सकता है, न युद्ध की विभीषिका से मुक्ति मिल सकती है और न राष्ट्रों की आर्थिक विषमता ही दूर हो सकती है। 'विश्व-सरकार' अभी बहुत दूर है, शायद अभी असंभव मालूम होती है। किंतु उस असंभव को संभव कर सकने की कल्पना को जनता के हृदयों में उतार देने से और उसके पक्ष में जनमत तैयार करने से, आधी समस्या हल हो सकती है। इसीलिए वे देशों के आपसी झगड़ों और मतभेदों को शांतिपूर्ण उपायों से सुलझाने में विश्वास करते थे। इसीलिए वे राष्ट्र-संघ और उसकी सुरक्षा-परिषद् के कार्य को इतना महत्त्व देते थे। वे इस बात का बराबर आग्रह करते थे कि राष्ट्रों के झगड़े इसी विश्व-संस्था के द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से निबटाये जायं, युद्ध वर्जित कर दिया जाय।

मानवतावादी होने के साथ-साथ वे विज्ञान के भी विद्यार्थी थे और जानते थे कि विज्ञान ने परमाणु बम, हाइड्रोजन बम आदि जो भयंकर संहारकारी अस्त्र बनाये हैं वे कितने खतरनाक हैं। यदि उनका प्रयोग किया गया तो न कोई विजयी रह जायेगा और न कोई विजित। सारी मानवता तथा संस्कृति नष्ट हो जायेगी। इसी दृष्टि से वे परमाणु बमों आदि को वर्जित करने, शस्त्रास्त्रों की होड़ रोकने, निःशस्त्रीकरण आदि के लिए इतने प्रयत्नशील थे। इस संबंध में उनकी चिंता बहुत गहरी और हार्दिक थी। संसार इसे पहचानता था और इसीलिए बड़े-से-बड़े शक्तिशाली राष्ट्र उनके विचार और सम्मति आदर से सुनते थे, और उन पर नेहरूजी की सम्मति का प्रभाव भी पड़ता था।

इस प्रकार उनका अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण या अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व मनुष्य मात्र के कल्याण की भावना, एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण के विरोध, मनुष्य मात्र के लिए सामाजिक न्याय की अनिवार्य आवश्यकता, निःशस्त्रीकरण और शांति के मूलभूत तत्त्वों से बना था। उनका वह अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व विकसित होते-होते इतना प्रखर हो गया था कि शीतयुद्ध की हिमानी ठंड से त्रस्त संसार को उसकी प्रखरता की उष्णता से जीवन की आशा हो उठी थी।

जिस समय जवाहरलालजी इंग्लैंड में थे, उस समय वहां समाजवादियों के 'फ़ेबियन दल' का बड़ा प्रचार था। उन पर उनके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धांतों का गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बहुत बाद वे मार्क्स के प्रभाव में आये। रूस आदि की यात्रा के बाद वे साम्यवादियों के प्रशंसक भी हो गये। किंतु उनका व्यक्तित्व इतना मौलिक और सशक्त था कि वे किसी दल में आने को नहीं खो दे सकते थे।

रूस में उन्होंने देखा कि योरोप का वह सबसे पिछड़ा हुआ देश साम्यवाद के सिद्धांतों पर चलकर अभूतपूर्व भौतिक उन्नति कर रहा है। उसने अपने आर्थिक

और औद्योगिक विकास के लिए क्रमबद्ध योजनाएं बना रखी थीं जिनसे सुनियोजित सोपानों द्वारा देश की बहुमुखी उन्नति हो रही थी। यह देश के स्वतंत्र होने से बहुत पहले की बात है। भारत में श्री विश्वेश्वरैया ने भी ऐसी योजना की कल्पना की थी। नेहरूजी ने तभी यह कहा था कि हमें पहले ही से तय कर लेना चाहिए कि स्वराज्य मिलने पर हम देश को समृद्ध बनाने के लिए तथा जनता को उठाने के लिए क्या करेंगे। इस पर कांग्रेस ने उनकी अध्यक्षता में एक योजना समिति बना दी थी जिसने योजना की क्रमबद्ध रूपरेखा बनायी। यह उन्हीं की दूरदर्शिता का परिणाम था कि जब देश स्वतंत्र हुआ तब नयी स्वतंत्र सरकार को इस बात के सोचने में समय न नष्ट करना पड़ा कि देश की समृद्धि बढ़ाने के लिए किस प्रकार योजनाबद्ध कार्य किया जाय और उसका लक्ष्य क्या हो। भारत की पंचवर्षीय योजनाएं जवाहरलालजी की उसी दूरदर्शिता का परिणाम हैं।

जवाहरलालजी ने एक जगह लिखा है कि हमारा (कश्मीरी) समाज बहुत छोटा है अर्थात् अल्पसंख्यक है। 'अल्पसंख्यक' समाज में उत्पन्न होने के कारण वे दूसरे अल्पसंख्यकों की भावनाओं को भली भांति समझ सकते थे और उन्हें उनसे स्वाभाविक सहानुभूति थी। भारत के अल्पसंख्यक भी उनकी सहानुभूति की हार्दिकता और वास्तविकता को समझते थे और वे उनका पूरा विश्वास करते थे। वे अल्पसंख्यकों के प्रति न्याय करना ही काफी नहीं समझते थे, बल्कि चाहते थे कि उनके साथ उदारता का व्यवहार किया जाय। अल्पसंख्यकों के प्रति उनकी सहानुभूति अकृत्रिम थी। उसमें कोई नीति या 'पालिसी' नहीं थी।

उनकी परराष्ट्र-नीति भी मौलिक थी। परराष्ट्र-नीति का एक ही सिद्धांत और एक ही उद्देश्य है। उससे देश का हित हो। परराष्ट्र-नीति बनाते समय उन्होंने अपने सामने एक लक्ष्य और रखा था। संसार को युद्ध की विभीषिका से बचाया जाय। जब भारत स्वतंत्र हुआ और उसके सामने अपनी विदेश-नीति निर्धारित करने का प्रश्न आया तब संसार में शीतयुद्ध जोरों पर था और ऐसा मालूम होता था कि प्रत्येक राष्ट्र को संसार के दो दलों में से एक का साथ देना अनिवार्य है। प्रायः सभी पुराने राष्ट्र किसी-न-किसी दल में सम्मिलित हो गये थे और सद्यः स्वतंत्र देश विचार कर रहे थे कि किस दल में सम्मिलित हों। उनमें से कुछ (जैसे पाकिस्तान) एक दल में सम्मिलित हो भी गये थे। श्री नेहरू ने अपनी परराष्ट्र-नीति निर्धारित करने में बड़ी मौलिकता, सूझ-बूझ एवं दूरदर्शिता दिखलायी। उस समय मानो इन दोनों दलों का मत यह मालूम होता था कि 'जो हमारे साथ नहीं है, वह हमारा विरोधी है।' किंतु नेहरूजी ने इस मत को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने निश्चित किया कि भारत किसी भी दल के साथ पंक्तिबद्ध न होगा। उनकी किसी गुट में सम्मिलित या उसके साथ श्रेणीबद्ध न होने की यह नीति अंग्रेजी में 'नॉन इलाइनमेंट' कहलायी। उस समय यह बड़ी

विचित्र समझी गयी। आज भी देश में कहीं-कहीं इसका विरोध है, किंतु समय ने बतलाया कि इस नीति से भारत का हित हुआ और उसे दोनों दलों से सहायता और सद्भावना मिली। किसी गुट में श्रेणीबद्ध न होने की नीति 'तटस्थता' नहीं है। यदि कोई राष्ट्र कोई अन्याय और अत्याचार करता तो नेहरूजी 'तटस्थ' नहीं रहते थे। वे राष्ट्र-संघ में, और उसके बाहर भी, उसका कड़ा विरोध करते थे, किंतु उस एक अन्याय के कारण सब बातों में उसके विरोधी नहीं हो जाते थे। उनकी यह परराष्ट्र-नीति इतनी सफल हुई कि कितने ही दूसरे देशों ने भी उसे स्वीकार कर लिया और अब तो दोनों दल भी भारत की इस नीति की खूबियों को समझने लगे हैं। उनकी सामान्य परराष्ट्र-नीति जिन सिद्धांतों पर आधारित थी उन्हें सामूहिक रूप से 'पंचशील' की संज्ञा दी गयी है जिनका मूलाधार सह-अस्तित्व और अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से निबटाने की प्रतिज्ञा थी। परराष्ट्र नीति के ये सिद्धांत विश्व के लिए अत्यंत कल्याणकारी हैं और यदि संसार को सौहार्द से रहना है तो संसार के सभी देशों को श्री नेहरूजी की परराष्ट्र नीति के मौलिक सिद्धांतों का अनुसरण करना होगा।

जवाहरलालजी ने स्वयं कहा था कि मैं पूर्व और पश्चिम का अजीब मेल (मिक्सचर) हूं। बात बिलकुल ठीक थी, किंतु इसे समझने के लिए कुछ गहराई में जाना होगा। 'पूर्व' क्या है? उसकी संस्कृति क्या है? पूर्व में तीन धर्मों का प्रभाव रहा: हिन्दू, बौद्ध और इस्लाम। संस्कृतियां भी कई रहीं: चीनी, जापानी, भारतीय, ईरानी, अरब आदि। जवाहरलालजी एक ऐसे परिवार में उत्पन्न हुए जो धर्म से हिंदू था, किंतु कश्मीरी होने के कारण उस पर मुस्लिम संस्कृति का भी गहरा प्रभाव था। अध्ययन और प्राकृतिक रुझान के कारण उन पर बौद्ध धर्म और उसके सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि अशोक का भी प्रभाव पड़ा। अतएव जवाहरलालजी पर पूर्व की इन तीनों संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा और उनके व्यक्तित्व पर इन तीनों ही की छाप थी। पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव उन पर आरंभ ही से रहा। शैशवावस्था में उनके लिए अंग्रेज नर्स रखी गयी। घर पर पढ़ाने के लिए एक अंग्रेज शिक्षक नियुक्त किया गया। इंग्लैंड में वे हैरो के प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल में भेजे गये जिसमें वहां के आभिजात्य वर्ग के लड़के शिक्षा पाते हैं। उन्होंने अंग्रेजी पढ़ी, लैटिन पढ़ी, अंग्रेजी काव्य और साहित्य पढ़ा, इंग्लैंड-योरोप का इतिहास पढ़ा। स्कूल की शिक्षा समाप्त करने पर वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भर्ती हुए और वहां विज्ञान में डिग्री ली। विज्ञान और समाजवाद की ओर रुचि होने के कारण उन्होंने पश्चिम के प्रगतिशील और आधुनिकतम वादों का अध्ययन किया। वे इन सबसे प्रभावित हुए। इस प्रकार वे पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के समुच्चय थे। फिर भी यह कहना गलत न होगा कि वे इतने आधुनिक थे कि पश्चिम के सर्वोत्कृष्ट अति आधुनिक समाज में खप सकते थे। भारत की पिछड़ी हुई जनता के लिए उनके हृदय में गहरा

प्रेम था। वे उसके कल्याण के लिए सर्वस्व निछावर करने को तैयार थे, किंतु वे उसमें खप नहीं सकते थे। कुछ लोगों को यह बात आश्चर्यजनक मालूम होती है कि इतने पाश्चात्य होते हुए भी वे भारत की 'कंजरवेटिव' जनता के आराध्य कैसे बन गये, और कैसे वे इतने दीर्घकाल तक भारतीय जनता की हार्दिक सहमति से उस पर शासन करते रहे। किंतु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भारतीय जनता शताब्दियों से ऐसे लोगों से शासित होने की अभ्यस्त है, जिनकी संस्कृति और भाषा उससे एकदम भिन्न रही है। मुगल बादशाह घर में तुर्की बोलते थे, राजकाज फारसी में चलाते थे, धर्म से कट्टर मुसलमान थे और फिर भी भारतीय जनता उनकी अनुयायी बन गयी थी। अंग्रेज ईसाई थे और उनकी भाषा अंग्रेजी थी। उन दोनों ही का रहन-सहन भारतीय जनता के रहन-सहन से भिन्न था। रूप, रंग, भाषा, संस्कृति में भारतीय जनता से उनका आकाश-पाताली भेद होते हुए भी, उनका शासन मजे से चलता रहा। इन भिन्नताओं के बावजूद वे दोनों शक्तियां इस देश में सफलतापूर्वक शासन करती रहीं, और उनमें से कितने ही शासक लोकप्रिय भी हुए। जवाहरलालजी तो जनता से बहुत कुछ भिन्न होते हुए भी कितनी ही बातों में जनता के निकट भी थे।

जवाहरलालजी सारे विश्व से मैत्री और सद्भावना रखते थे। पहले पाकिस्तान और बाद में चीन ने उन्हें निराश किया। उनके हृदय में इन दोनों देशों के लिए बड़ी कोमलता थी। वे विश्वास करते थे कि कठोर-से-कठोर और स्वार्थी-से-स्वार्थी व्यक्ति के हृदय में भी भलाई, भलमनसाहत और न्यायबुद्धि की चिंगारियां हैं। यदि उन चिंगारियों को प्रज्वलित किया जा सके तो कठोर और स्वार्थी व्यक्ति भी करुण और न्यायप्रिय हो सकता है। अतएव वे इन देशों के हृदयों में सुप्त भलमनसाहत को जगाने के लिए उनसे अत्यंत नर्मी का बर्ताव करते थे। वे 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्' का प्रयोग करते थे। देशवासी उनकी इस नर्मी से कभी-कभी खीझ भी उठते थे, किंतु तात्कालिक प्रतिक्रिया की परवाह न करके उनकी निगाह दीर्घकालीन परिणाम पर रहती थी। उनका कहना था कि इस उपमहाद्वीप में भारत और पाकिस्तान को एकसाथ रहना है। दोनों ही का कल्याण इसी में है कि वे मिलकर रहें। अपने इस विश्वास के अनुसार वे पाकिस्तान का हृदय जीतने का बराबर और सतत प्रयत्न करते रहे।

एक प्रसिद्ध अंग्रेज राजनीति-विचारक ने कहा है कि शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट कर देती है, और यदि उसे अनियंत्रित शक्ति मिल जाय तो वह एकदम भ्रष्ट हो जाता है। यहां 'भ्रष्ट' शब्द के अर्थ सामान्य भ्रष्टाचार से नहीं, प्रत्युत राजनीतिक भ्रष्टाचार अर्थात् मनमानी कार्यवाही करने, नियमों को ताख पर रख देने, विरोधियों को गलत ढंग से समाप्त कर देने आदि से है। मुगलों के बाद भारत में इतनी अपार शक्ति, इतने विस्तृत राज्य पर, शायद ही किसी को मिली हो। उनकी शक्ति

को चुनौती देनेवाला देश में कोई न था। वे झाड़ियों के ऊपर एकाकी ताड़ की तरह अपने सहयोगियों से ऊंचे लगते थे। कोई उनकी ऊंचाई को छू भी नहीं सकता था। यदि वे चाहते तो भारत के तानाशाह होने से कोई उन्हें रोक नहीं सकता था। किंतु अपरिमित शक्ति को रखते हुए भी उन्होंने उसका दुरुपयोग नहीं किया। वे जनमत के सामने, न्याय के सामने, नियमों के सामने और बुद्धिसंगत तर्कों के सामने झुक जाते थे। इसका कारण यह था कि वे हृदय से जनतंत्रवादी थे। तानाशाही या फासिस्ट प्रवृत्तियों से उन्हें आंतरिक घृणा थी। इसीलिए भारत में जनतंत्र के सबसे बड़े लक्षण—अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समाचारपत्रों की स्वतंत्रता न्यायालयों के निर्णयों के प्रति सम्मान, संविधान की पवित्रता आदि—केवल विद्यमान ही नहीं थे, प्रत्युत वे राष्ट्रीय जीवन के अंग हो गये थे। विरोधियों को भी पूरी वाक्-स्वतंत्रता थी। नेहरूजी ने जनतंत्र की नींव डालने में सहायता तो की ही, साथ ही उन्होंने अपने विचारों से जनता को जनतंत्र के प्रति प्रबुद्ध किया, और अपने व्यवहार से उसके प्रति देश में आदर उत्पन्न किया। उन्होंने जनतंत्र की जो स्वस्थ परंपराएं इन सत्रह वर्षों में बनायी हैं, वे भारत के भावी राजनीतिक जीवन के लिए उनके सबसे मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण उपहार हैं। यदि देश इस महान् जन-तंत्रवादी के बतलाये मार्ग पर दृढ़ता से चलता रहेगा तो उसे किसी तानाशाही या जनतंत्र-विरोधी वाद से कभी कोई भय न होगा।

यह बात नहीं थी कि नेहरूजी के सभी कामों या सभी नीतियों को सब लोगों ने आंख मूंदकर स्वीकार कर लिया हो। उनके कितने ही कामों और नीतियों की कुछ वर्गों में कड़ी आलोचना होने लगी थी। उनकी कुछ नीतियों से कुछ वर्गों का गहरा मतभेद था। उदाहरण के लिए लोग यह नहीं समझ पा रहे थे कि उनके समान जनतंत्र का हिमायती अंग्रेजी को इतना अधिक प्रश्रय क्यों देता है और क्यों इस देश में जड़ें मजबूत कर रहा है। इसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष राज्य के सिद्धांत को मानते हुए भी जो विवाह-कानून हिन्दुओं के लिए बनाया गया, वह देश के सभी धर्मों के नागरिकों पर क्यों लागू नहीं किया गया। और न जनता पाकिस्तान और चीन के प्रति उनकी अति उदारता की नीति को ही समझ पा रही थी। शिष्ट लोगों के समान विरोध-पत्रों को भेजने के अतिरिक्त वह उनके समर्थन में कभी-कभी कोई कड़ी कार्यवाही भी देखना चाहती थी। लाखों पाकिस्तानियों के भारत में अवैध रूप से घुस आने को वह उनके प्रशासन की कमजोरी समझती थी। किंतु इन छोटी-मोटी शिकायतों के होते हुए भी जनता का नेहरूजी में विश्वास था क्योंकि वह उनकी योग्यता, सद्भावना और सदाशयता की कायल थी।

जवाहरलालजी संसार के उन थोड़े और चुने हुए लोगों में थे जो कभी-कभी ही पैदा होते हैं, जिनका व्यक्तित्व बड़ा जटिल होता है, जिनका कार्यक्षेत्र अत्यंत विस्तृत और जिनके कार्य इतने व्यापक प्रभाव के होते हैं कि उनके जीवन-काल में

उनके महत्त्व, प्रभाव और प्रयोजन को ठीक तरह से समझना यदि संभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य ही है। यह काम 'काल देवता' करेंगे। वे अपनी सुविधा के अनुसार निर्णय करेंगे कि भारत की प्रगति और आणविक युग के भयग्रस्त संसार में उनका क्या योगदान और इतिहास में उनका क्या स्थान है। वैदेशिक और गृह-नीतियों पर भी इतिहास ही अंतिम सम्मति देगा। वह समय पर अपना काम करेगा। किंतु हमारे लिए वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ लोकनायक और अद्वितीय नेता थे। भारतीय जनता के हृदय पर उनका एकाधिकार था। हमारी श्रद्धा और भावुकता ने उन्हें हमारे हृदय में वह स्थान दिया है जो उनके चले जाने से रिक्त हो गया है और जिसके भरे जाने की कल्पना भी आज नहीं की जा सकती।

अब जवाहरलाल भारत के पितरों में सम्मिलित हो गये हैं। वे राष्ट्रपिता, लोकमान्य, लालाजी, देशबन्धु, मोतीलालजी, महामना, सरदार, राजर्षि आदि के साथ देश के पितृगणों की श्रेणी में जा पहुंचे। सारे देश ने शोकाकुल होकर अपनी अविरल अश्रुधारा से उनका तर्पण किया। देश चाहता है कि उनकी आत्मा हमारे वर्तमान नेताओं और शासकों को प्रेरणा देती रहे और उनका मार्ग-दर्शन करती रहे जिससे उनके निर्धारित किये हुए लक्ष्य की ओर देश अग्रसर होता रहे। पार्थिव शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही था, किंतु पार्थिव शरीर 'जवाहरलाल' नहीं था। उनकी अंत्येष्टि के समय, जलती हुई चिता के चारों ओर एकत्र जनता एक स्वर से चिल्ला उठी थी : 'जवाहरलाल अमर रहें!' उस कारुणिक अवसर पर जनता के हृदय से निकले उस चीत्कार का आशय था कि उनकी आत्मा जो अविनश्वर है, हममें जीवित रहे, वह हमारा पथ-प्रदर्शन करती रहे, हमें सदा अनुप्राणित करती रहे। 'सरस्वती' इस अवसर पर इस महान् नेता की स्मृति के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करती है और जनता के स्वर में स्वर मिलाकर कहती है : 'जवाहरलाल अमर रहें!'

(चित्रकार) जामिनी राय

प्रसिद्ध चित्रकार जामिनी राय का अप्रैल, १९७२ में ८४ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया था। जामिनी राय की आरंभिक शिक्षा कलकत्ते के सरकारी कला विद्यालय में हुई थी जो पाश्चात्य शैली की कला की शिक्षा देता था। उन्होंने पाश्चात्य ढंग के नाना प्रकार के तेल और पानी के रंगों के चित्र बनाने में बड़ी कुशलता प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त वे मनुष्यों के चित्र (पोर्ट्रेट) बनाने में भी कुशल थे। अवनीन्द्रनाथ टैगोर के 'बंगाल स्कूल आफ आर्ट' शैली का भी उन पर कुछ दिनों प्रभाव रहा। किंतु जामिनी बाबू ने अंत में अपना मार्ग अलग खोज निकाला। बंगाल में 'लोकचित्रों' की प्राचीन परंपरा है जो धरती की उपज है। कालीघाट के चित्रपटों तथा इसी प्रकार के अन्य लोकचित्र शैली के चित्रपटों से वे प्रभावित हुए। उन्होंने देखा कि चित्र लोकरुचि और लोक सौंदर्य-बोध को संतुष्ट करते हैं और कला की दृष्टि से भी वे महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव उन्होंने उसी लोकचित्र-शैली को आधार बनाकर अपनी एक स्वतंत्र शैली चलायी। उनका मत था कि पाश्चात्य या नयी बंगाल शैली के चित्र एक तो इतने महंगे होते हैं कि जनसाधारण उन्हें खरीद नहीं सकते, दूसरे उनसे उनके सौंदर्य-बोध की तृप्ति नहीं होती। अतएव उन्होंने विभिन्न विषयों पर उसी शैली में चित्र बनाने आरंभ किये जो अवश्य ही पुराने चित्रपटों की नकल न थे, उनका आधार वही था, किंतु उनमें जामिनी बाबू के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट थी। उन्होंने उन गहरे रंगों का प्रयोग किया जो यहां की जलवायु में उत्पन्न लोगों को प्रिय हैं और उनमें ऐसी मनुष्य-आकृतियां बनायीं जिन्हें सामान्य जन समझ सकते और जिनसे उनके सौंदर्य-बोध की तुष्टि होती। काली रेखाओं से आवृत करके वे रंगों को उभार देते। उनके चित्रों के विषय भी ऐसे होते जिन्हें समझने के लिए दिमाग को कुरेदना न पड़ता। उन्हें लोक-सुलभ बनाने के लिए वे उनका मूल्य भी इतना

कम रखते कि निम्न-मध्य वर्ग का व्यक्ति भी उन्हें खरीद के अपने कमरे की शोभा बढ़ा सकता । आरंभ में कलाकारों ने उनकी उपेक्षा की, किंतु उनके चित्रों की लोकप्रियता उनके व्यक्तित्व और उनकी अपनी कला की सहज व्याख्या से बड़े-बड़े चित्रकार और कला-पारखी भी उनकी बात आदर से सुनने लगे। कुछ ही दिनों में भारतीय कला संसार में जामिनी बाबू का स्थान प्रतिष्ठित और सुरक्षित हो गया । वे धरती-पुत्र थे और धरती-पुत्रों की कला-पिपासा बुझाने का महान् और पवित्र कार्य उन्होंने किया। यह कहना कठिन है कि उनके बाद उनकी कला-शैली का भविष्य क्या होगा, किंतु यह निर्विवाद है कि वे अपने समय के भारतीय कला-संसार में एक शक्ति थे । वे घिसी-पिटी लकीर पर नहीं चले और न उन्होंने 'आधुनिक' और 'अद्यतन' होने के लिए प्रति वर्ष परिवर्तन-शील पाश्चात्य कला के 'फैशनों' का ही अनुसरण किया। 'सायर, सिंह, सपूत' की तरह उन्होंने अपना स्वतंत्र और अलग मार्ग बनाकर उपेक्षित लोककला को जीवन-दान ही नहीं दिया, प्रत्युत उसे प्रतिष्ठा भी दी । उनके निधन से भारतीय कलाकाश का एक देदीप्यमान नक्षत्र टूट गया, किंतु भारतीय कला के इतिहास में उनका नाम अमर रहेगा ।
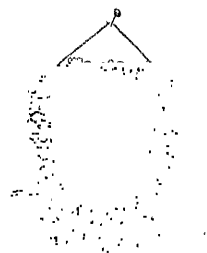
(श्री) जुगलकिशोर बिड़ला

भारत के प्रसिद्ध बिड़ला बंधु उद्योगपतियों में सबसे बड़े भाई सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला का परिपक्व वृद्धावस्था में स्वर्गवास हो गया। यों तो भारत में धनी और बड़े उद्योगपतियों की बहुत कमी नहीं है और उनकी चर्चा भी बहुत अच्छे संदर्भ में नहीं हुआ करती, तथापि सेठ जुगलकिशोरजी उन सबसे अलग थे । कहा गया है कि धन की शोभा दान से होती है। सेठ जुगलकिशोरजी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण थे। निजी और गुप्त दान तो वे करते ही थे, किंतु उनकी विशेषता यह थी कि वे अपने सिद्धांतों के अनुसार सार्वजनिक दान करने में

अनुपम थे। वे आर्य-संस्कृति और हिंदू धर्म के अनन्य भक्त थे। उनकी हिंदू धर्म की कल्पना अत्यंत विशाल और उदार थी। उन सभी धर्मों को, जिनका जन्म भारत में हुआ था, वे 'हिंदू धर्म' मानते थे। वे बौद्ध धर्मावलंबी देशों से भारत के निकट और घनिष्ठ संबंध बनाना चाहते थे। कर्म, पुनर्जन्म, अहिंसा, करुणा, आततायियों के प्रति घृणा, अन्य धर्मों का सम्मान आदि मौलिक तत्त्व भारत में उत्पन्न प्राय: सभी धर्मों में समान रूप से मिलते हैं। इसलिए उनकी हिंदू धर्म की कल्पना इतनी विशाल और उदार थी। देश में स्थान-स्थान पर जो बिड़ला मंदिर, बिड़ला धर्मशालाएं आदि दिखायी पड़ती हैं वे सभी सेठ जुगलकिशोरजी की उदारता और कल्पना का मूर्त रूप हैं। नयी दिल्ली का लक्ष्मीनारायणजी का मंदिर, जो बिड़ला मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है, उन्हीं की कीर्ति है। कई वर्ष पहले जब हम दिल्ली में थे तब हमारे एक मित्र कहा करते थे—"ईश्वर दिल्ली से निष्कासित कर दिया गया है।" (God has been exiled from Delhi) सेठ जुगलकिशोरजी ने कांग्रेसी भौतिकवाद और 'सेक्युलरिज्म के उस गढ़ में भगवान लक्ष्मीनारायण के मंदिर की स्थापना करके वहां के हिंदू नागरिकों की एक बड़ी आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति की। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में भगवान् विश्वनाथजी का भारत का सबसे ऊंचा विशाल मंदिर बनवाकर उन्होंने महामना मालवीयजी का स्वप्न साकार किया। मध्यप्रदेश की नयी राजधानी भोपाल में, एक ऊंची पहाड़ी की चोटी पर, भगवान् लक्ष्मीनारायण का मंदिर बनवाकर उन्होंने वहां के हिंदू निवासियों की सेवा की। वृन्दावन का गीता मंदिर उनकी एक अन्य कीर्ति है। सारनाथ और कसिया में उन्होंने देश-विदेश से आनेवाले बौद्ध तीर्थयात्रियों के लिए बड़ी विशाल और सुंदर धर्मशालाएं बनवायीं। दिल्ली में एक बौद्ध मंदिर बनवाया। पटना में विशाल मंदिर बनाकर उन्होंने गुरु गोविन्दसिंह के जन्मस्थान का सम्मान किया। मथुरा में भगवान् श्रीकृष्ण के जन्मस्थान पर जो विशाल और ऐतिहासिक मंदिर बन रहा है उसके निर्माण में भी उनका बड़ा सहयोग था। और न मालूम उन्होंने कितने मंदिर और धर्मशालाएं बनवाकर हिंदू धर्म और हिंदू जनता की सेवा की। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिंदू धर्म और आर्य संस्कृति संबंधी कितने ही प्रकाशन कराये। इतने बड़े उद्योगपति और जगत्-सेठ होने पर भी उनका जीवन बहुत ही सादा था। वे सभी लोगों से बड़ी सरलता से बोलते थे। व्यवहार और बातचीत में इतने नम्र और शीलवान थे कि आगंतुक को यह बोध ही नहीं होता था कि मैं भारत के एक चोटी के उद्योगपति से बात कर रहा हूं। उन्होंने अपने क्षेत्र में जनता की, विशेषकर हिंदुओं की, जो सेवा की है वह स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है। उनके कोई संतान नहीं थी, किंतु उनका यश:शरीर अमर है। हिंदू समाज और सारा देश आदर और कृतज्ञता से उन्हें सदैव याद रखेगा।

(श्री) तुकड़ोजी महाराज

विदर्भ (महाराष्ट्र) के प्रसिद्ध संत श्री तुकड़ोजी महाराज परमधाम को चले गये। निर्वाण के समय उनकी अवस्था ७१ वर्ष की थी। उनके देहावसान से देश का एक अत्यंत प्रभावशाली, कर्मठ और सच्चा संत चला गया।

तुकड़ोजी महाराज का व्यक्तित्व अनूठा था और उनकी कार्यप्रणाली भी उतनी ही अनोखी थी। उनमें धार्मिक, राजनीतिक और समाजसेवा की भावनाओं का बड़ा सुंदर और कल्याणकारी समन्वय था। उनका मुख्य क्षेत्र विदर्भ और महाराष्ट्र था, किंतु उनका प्रभाव दूर-दूर तक था। वे भजनों के द्वारा गांवों की जनता में अपना प्रचार-कार्य करते थे। हमने विदर्भ के कुछ उन ग्रामों को देखा है जिनमें उनका प्रभाव था। उनके निवासियों का रहन-सहन, व्यवहार और आचरण स्पष्ट रूप से अन्य गांवों के लोगों से बहुत भिन्न और उन्नत था। सब घर बड़े साफ-सुथरे, लिपे-पुते और राम-नाम अथवा संतजी के वाक्यों से अंकित और अलंकृत थे। वहां के निवासियों का पहनावा साधारण होते हुए भी अधिक अच्छे ढंग का और साफ-सुथरा था। उनके गांवों के विद्यालय बड़े अच्छे ढंग से परि-चालित थे, और छात्रों की विनयशीलता, उत्साह और क्रियाशीलता सराहनीय थी। उन गांवों में दलबंदियां नहीं थीं, और पग-पग पर आपसी सहयोग के प्रमाण मिलते थे। हमने कितने ही गांव देखे हैं जिन्हें सरकारी ग्राम-सुधार विभाग ने सुधारा और उन्नत किया था। किंतु उनकी संत तुकड़ोजी के गांवों से कोई तुलना नहीं हो सकती। और यह ग्रामोद्धार का कार्य तुकड़ोजी बहुत पहले से कर रहे थे। महात्मा गांधी ने उनके संबंध में कहा था—"मेरा और संत तुकड़ोजी का संबंध पुराना है। उनकी सेवा और भजन का क्रम तो चलता ही रहता है। मुझे खुशी है कि उन्होंने सामुदायिक प्रार्थना की अच्छी प्रणाली शुरू कर दी है। दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान लौटने के बाद सामुदायिक उपासना का ठीक-ठीक

उपक्रम मुझे कहीं नजर नहीं आया। करोड़ों लोगों से किया जानेवाला राष्ट्रीय भजन व सामुदायिक प्रार्थना-उपासना का क्रम हिंदुस्तान में संभवतः कहीं नहीं है। लोग भजन और कीर्तन का आयोजन करते हैं, किंतु उपस्थित समुदाय में अनुशासन की कमी और वातावरण की मधुरता में थोड़ा अंतर खटकता है। मैं (संत तुकड़ोजी द्वारा स्थापित) गुरुदेव सेवामंडल के युवकों द्वारा आयोजित भजन का जो कार्यक्रम देख चुका हूं और जो प्रार्थना सुन चुका हूं वह मुझे बहुत पसंद आया। मंडल के लोग देहात में घूम-घूमकर प्रचार करते हैं, यह बहुत अच्छी बात है।" पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यहां तक कहा था कि "सरकारी ढांचे के अंदर जो कार्य नहीं हो सकता उससे अधिक अच्छा कार्य संत तुकड़ोजी करते हैं। संत लोग राष्ट्रीय कार्य भी कर सकते हैं, इस बात पर मैं इनका काम देखकर विश्वास करने लगा हूं। देशोद्धार की दृष्टि से उन्होंने बहुत बड़ा कार्य किया है। विकास योजना सफल बनाने की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कार्यकर्ताओं को संत तुकड़ोजी और उनके गुरुदेव सेवामंडल के पास जाना चाहिए।"

संत तुकड़ोजी का जन्म अमरावती के पास एक गांव में एक ब्रह्मभट्ट परिवार में हुआ था। उनका नाम माणिक था। पढ़ने में उनका मन न लगा और जब वे प्राइमरी स्कूल की अंतिम परीक्षा भी उत्तीर्ण न कर सके तो वे वरखेड़ी में संत अकड़ोजी के पास चले गये। वे उन्हें 'तुकड्या' नाम से पुकारते और आगे चलकर उनका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। संत अकड़ोजी परमहंस थे। 'तुकड्या' का कंठ बड़ा मधुर था। वह बहुधा संतों के मराठी भजन गाया करते थे। एक दिन संत अकड़ोजी ने उन्हें तुकारामजी का एक अभंग गाते देखकर कहा, "तुका क्या कहता है ? तू क्या कहना चाहता है, वही कह।" तब से तुकड़ोजी स्वयं भजन बनाकर गाने लगे। उनमें स्वाभाविक काव्य-प्रतिभा थी। उनका कंठ बड़ा मधुर और चित्ताकर्षक था। लोग उनके भजनों को बड़े प्रेम से सुनते। यद्यपि उनकी मातृभाषा मराठी थी, तथापि अधिकतर वे हिंदी ही में भजन बनाते थे। सामान्य रूप से भी वे अधिकतर हिंदी ही में बातचीत करते थे। उनके द्वारा हिंदी का जो प्रचार हुआ उसका अनुमान करना भी कठिन है। उनके भजन विविध विषयों पर हैं। ज्ञान, भक्ति और राष्ट्रीय विषयों पर उन्होंने हजारों भजन रचे। उनके भजनों के अनेक संग्रह (अनुभव प्रकाश, प्रार्थना-पद्धति, सक्रिय प्रार्थना, जीवन-ज्योति, राष्ट्रीय भजनावली, क्रांति वीणा, क्रांति दीप, भूदान गीत, सेवा-स्वधर्म आदि) प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी भाषा सरल, स्पष्ट, सीधी होती थी जो गांवों के सीधे-सादे लोगों के हृदयों को छू लेती थी। उनका एक ज्ञान का पद देखिए—

माया रूपी है क्षेत्र सब, इस क्षेत्र को मैं जानता,
हूँ दूर इस संघात से मुझमें नहीं इसका पता।

बनता बिगड़ता खेल है, मैं साक्षि निश्चल देव हूँ,
सन्मात्र हूँ, चिन्मात्र हूँ, आनन्दमय स्वयमेव हूँ।

अब उनके एक राष्ट्रीय भजन का नमूना भी देखिए। उन्होंने इसे भारत के साधुओं को लक्ष्य करके लिखा है :—

सन्तो महन्तो जाग उठो, क्यों सोये आसन माहीं,
सोने का समय अब नाहीं।
आज तलक तो खूब उड़ाया जजमानों का पैसा,
आयी बखत जब जजमानों पर, अबके कौन सहाई।
प्रभू गये निज धाम तभी से तुमको छोड़ा ग्वाही,
भारत पर जब बिपत पड़ेगी, करना काम सवाई।
सब तन माँही भभूत रमाई दुनिया को सुखवाने,
समय वही अब आया है, क्यों होते हो बहराई।
सब चेलों को मंत्र बताकर कर दो सारी सेना,
धर्म के खातिर जान माल को अर्पण करो सहाई।
हिन्दुस्ताँ है वतन प्रभू का, हम यहाँ के बासिन्दे,
देवभूमि को छुओ न कोई कहो जबाँ के माहीं।
तुकड्यादास कहे सब साधू करो प्रभू से अर्जी,
भारत दुनिया सुखी करो अब देकर हाथ दुहाई।

संत तुकड़ोजी ने अपना सारा जीवन गांवों के लोगों के भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान में लगाया। वास्तविक भारत गांवों में है। असली भारत के दरिद्र-नारायण की सेवा कर उन्होंने अपनी संतवृत्ति को सार्थक किया। उन्होंने दिखला दिया कि इस देश के साधू किस प्रकार देश और धर्म की सेवा कर सकते हैं। उनका निधन देश के लिए एक बड़ी गहरी क्षति है।
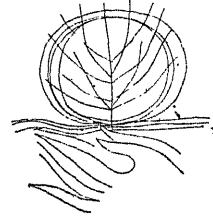
(पंडित) दयाशंकर दूबे

हिंदी के प्रसिद्ध और पुराने लेखक तथा अर्थशास्त्र के विद्वान् पं० दयाशंकर दुबे का स्वर्गवास प्रयाग में हो गया। दुबे जी खंडवा के रहनेवाले थे और प्रयाग में बस गये थे। वे लखनऊ और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक रहे। दीर्घकालीन अध्यापन के बाद कार्यमुक्त होने पर वे प्रयाग में ही रहने लगे थे जहां उन्होंने गंगातट पर निवासस्थान बना लिया था। हिंदी में अर्थशास्त्र विषय पर नियमित रूप से और प्रामाणिक ढंग से लिखनेवाले शायद वे ही सर्वप्रथम विद्वान् थे। उन्होंने अर्थशास्त्र संबंधी ऊंचे स्तर की अनेक पुस्तकें लिखकर हिंदी साहित्य के इस अंग की बड़ी स्तुत्य सेवा की। वे स्वयं तो लिखते ही थे, विद्यार्थियों और मित्रों को साथ में दूसरों को भी हिंदी में लिखने की प्रेरणा देते थे। उन्होंने अपने कितने ही हिंदी में ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें लिखने की प्रेरणा दी। वे बड़ी धार्मिक वृत्ति के सज्जन थे और गंगाजी के अनन्य भक्त थे। भारतीय तीर्थों—सप्तपुरियों, बदरीनारायण आदि पर उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। किंतु सर्वोत्तम पुस्तक गंगाजी पर है जिसमें गंगोत्री से गंगासागर तक गंगाजी का भौगोलिक वर्णन है और साथ ही रास्ते के तीर्थों और महत्त्वपूर्ण स्थानों की भी उपादेय चर्चा है। इसमें पुराणों, काव्यों आदि में वर्णित गंगाजी संबंधी उद्धरण भी दिये गये हैं। यह विशद ग्रंथ सचित्र प्रकाशित हुआ था। वे बड़े दानशील थे और धार्मिक तथा शैक्षणिक कामों में मुक्तहस्त से दान दिया करते थे। वे चरित्रवान, स्नेही और मृदु स्वभाव के थे। हिंदी के वे अनन्य उपासक थे, हिंदी साहित्य सम्मेलन की उन्होंने वर्षों सेवा की। सरस्वती के वे पुराने लेखक थे। उन्होंने बीसियों अर्थशास्त्र संबंधी लेख सरस्वती में लिखे थे। दुबेजी के निधन से हिंदी के एक दृढ़ भक्त, कर्मठ सेवक तथा उच्चकोटि के लेखक की क्षति हुई है। उनके प्रति हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और उनके शोकसंतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(श्री) रामधारीसिंह दिनकर

हिन्दी का दिनकर अस्त हो गया !

एक दिन सबेरे उठते ही 'नवजीवन' उठाया। उसके प्रथम पृष्ठ पर बड़े अक्षरों में छपे समाचार 'दिनकर का देहांत' पर सबसे पहले दृष्टि पड़ी। चार-पांच पंक्तियों के 'नाविक के तीर' की तरह हृदय में 'घाव करे गंभीर' इस समाचार ने मुझे कुछ देर के लिए संज्ञाशून्य कर दिया। दिनकर नहीं रहे। वह पौरुष और प्रतिभा का मूर्तिमान स्वरूप नहीं रहा। वह हृदयों को हिला देनेवाली 'मेघ गंभीर' वाणी सदा के लिए मौन हो गयी। वह शील और पुरानी शिष्टता की प्रतिमूर्ति नष्ट हो गयी। अजस्र काव्यधारा का स्रोत बंद हो गया। हिंदी के बचे हुए दो-चार स्तंभों में एक प्रमुख स्तंभ धराशायी हो गया। विचार और भावना का समन्वय समाप्त हो गया। कवि-सम्मेलनों में दहाड़नेवाला कवि-केसरी काल-आखेटक का शिकार हो गया ! सहसा विश्वास करने को जी नहीं चाहा। पर बाद में 'नेशनल हैरल्ड' और 'स्वतंत्र भारत' में इस दुःसमाचार की पुष्टि हुई। सारे दिन हृदय में एक अव्यक्त वेदना होती रही और एक अजीब बेचैनी बनी रही। बार-बार हृदय में यही हूक उठती—'दिनकर नहीं रहे।'

अपने जीवन के ८१ वर्षों में श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, चन्द्रधर गुलेरी, राधाकृष्ण मिश्र से लेकर अब तक के अनेक छोटे-बड़े कवियों से हमारा, परिचय हुआ। कितनों ही से घनिष्ठता भी हुई, किंतु इस लंबे अंतराल में हमें तीन ही ऐसे व्यक्ति मिले जो कवि थे ही नहीं, कवि मालूम भी होते थे। तीनों ही पौरुष की प्रतिमूर्ति थे। वे थे निराला, नवीन और दिनकर। ईश्वर ने उन्हें कवित्व की उच्च प्रतिभा के साथ-साथ शरीर-संपत्ति और प्रभावशाली वाणी भी दी थी। भेद यह था कि निराला अव्यावहारिक थे। स्वभाव से 'अव्यवस्थित' थे। वह उस 'टाइप' के नमूने थे जिसे मनोविज्ञान में 'अनस्टेबल' (unstable) कहते हैं। नवीन

अधिक व्यावहारिक थे किंतु राजनीति में पड़ जाने के कारण अपनी ईश्वर-दत्त प्रतिभा के प्रति पूरा न्याय न कर सके और उनके कवित्व का परिचय अपेक्षाकृत कम लोगों ही को मिला। दिनकर में व्यावहारिकता, संयम और शिष्टता का ऐसा मधुर संगम था कि वे सहज ही लोगों को आकर्षित और प्रभावित कर लेते थे। वे स्थिर-मति थे और कविता के प्रति उनमें एकांत निष्ठा थी। इसी निष्ठा के कारण वे हिंदी को अपनी प्रचुर कृतियों से वैभवशाली बना सके। उनकी प्रत्येक काव्य-कृति प्रकाशित होते ही चर्चा का विषय बन जाती थी और उसका सर्वत्र आदर होता था।

वे बिहार के निवासी और भूमिहार थे। ग्रेजुएट होने के बाद वे सरकारी नौकरी में चले गये। उन्होंने हेडमास्टरी की, सब-रजिस्ट्रारी की, द्वितीय युद्ध के काल में वे 'सांग और ड्रामा' के अपने प्रांत में अधिष्ठाता रहे, संसद के सदस्य रहे, भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे और अंत में केंद्रीय सरकार के गृह-विभाग में हिंदी सलाहकार रहे—यह पद उन्होंने तब स्वीकार किया जब उसकी समता डिप्टी मिनिस्टर पद से कर दी गयी। इस तरह उन्होंने कितने घाटों का पानी पिया और विविध प्रकार के अनुभवों ने उन्हें सब तरह के लोगों के साथ 'निर्वाह' करने की क्षमता विकसित कर दी थी। एक ओर वे राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री तथा मंत्रियों के अंतरंग थे, तो दूसरी ओर अति सामान्य व्यक्तियों के प्रति भी उनमें अकृत्रिम आत्मीयता थी। इतना ही नहीं, काफी स्वाभिमानी और स्वतंत्र चेता होते हुए भी बड़े-बड़े पूंजीपतियों से भी उनकी घनिष्ठता थी। साहित्यिकों के प्रति तो उनकी आत्मीयता अनुकरणीय थी।

वे मूलतः कवि थे, किंतु वे उच्च श्रेणी के चिंतक और मननशील तथा अध्ययनशील भी थे। हिंदी में इतने अध्ययनशील लोग कम ही मिलते हैं। उनके चिंतन, विश्लेषण और संश्लेषण की क्षमता का प्रमाण उनका 'संस्कृति के चार अध्याय' है। इसके अतिरिक्त वे बड़े प्रभावशाली वक्ता थे और कवि होते हुए भी वे बोलते समय भावना में न बह जाते थे। वे श्रोताओं की भावना को ही नहीं, बुद्धि और विचार को भी प्रभावित करते थे।

अधिकांश हिंदी साहित्यकार और विशेषकर कवि हिंदी साहित्य की सेवा तो करते आये हैं किंतु वे हिंदी के प्रचार, प्रसार और उसको उसका जन्मसिद्ध स्थान और अधिकार दिलाने के आंदोलन में बहुत कम रुचि लेते हैं। दिनकरजी उन थोड़े से अपवादों में थे जो उच्च श्रेणी के कवि और लेखक होते हुए भी हिंदी के आंदोलन में खुलकर भाग लेते थे। उन्हें राजर्षि की तरह ही हिंदी का दर्द था।

कवि के रूप में उनकी ख्याति उनकी 'हिमालय' नाम की कविता से हुई जो अंग्रेजी शासन में रची गयी थी और जो अपनी ओजस्विता और भाव-प्रवणता के कारण शीघ्र ही सारे हिंदी क्षेत्र में लोकप्रिय हो गयी। उन्होंने प्रायः बीस पुस्तकें

लिखी हैं जिनमें 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। अंतिम पुस्तक इतनी पैनी थी कि उसके कारण अनेक नेता उनसे कुछ दिनों के लिए अप्रसन्न हो गये और शायद इसके कारण उन्हें कुछ हानि भी उठानी पड़ी। उनके काव्य का चरम उत्कर्ष उनकी 'उर्वशी' में है जिसमें उन्होंने मनुष्य के जीवन की पूर्णता के लिए 'काम' की भूमिका पर बड़े कवित्वपूर्ण ढंग से अपने विचार प्रकट किये हैं। उनकी कुछ कविताएं विशिष्ट वर्ग (क्लासेज़) के लिए होती थीं, और कुछ सामान्य जन (मासैज़) के लिए। इसलिए वे सभी वर्गों में समादृत थे और सब लोग उनकी कवित्व शक्ति का लोहा मानते थे।

हमारे उनके संबंध बड़े मधुर थे और मतभेदों ने उनमें कभी कोई गांठ नहीं पड़ने दी। उनके 'संस्कृति के चार अध्याय' के कुछ निष्कर्षों और मतों से हम सहमत नहीं थे। वैसे वह पुस्तक हिंदी में अपने ढंग की एक ही है और उसके कुछ भाग तो दिनकर ऐसा प्रतिभाशाली लेखक ही लिख सकता था। हमें जिन बातों पर मतभेद था, उन्हें उनसे स्पष्ट कह दिया था और उन्होंने हमारे मत और तर्कों को बड़े धैर्य से सुना। हम जानते हैं कि साहित्यकार (और विशेषकर कवि) आलोचना और मतभेद के लिए बड़े संचेत्य होते हैं और बहुधा उन्हें सहन नहीं कर सकते। इसलिए हम बहुत कम उनकी कृतियों पर उनसे अपने विचार प्रकट करते हैं। किंतु हम दिनकरजी को जानते थे। इसीलिए हमारा साहस उनसे अपना मतभेद प्रकट करने का हुआ। किंतु वे इतने उदार और महान् थे कि उनकी इस 'प्रिय' कृति के संबंध में हमारे विचार जानते हुए भी उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार में कभी-कभी नहीं आयी। वे दिल्ली में हमसे बराबर मिलते थे और जब लखनऊ आते तो बिना दर्शन दिये नहीं जाते थे। अपनी नयी कृतियों को वे छपते ही हमें भेजते थे। हम कभी-कभी उन्हें अपनी सम्मति पद्य में भी भेजा करते थे और वे उससे बहुत प्रसन्न होते थे। जब उन्हें ज्ञानपीठ का लखटकिया पुरस्कार मिला तो हमने (जहां तक हमें याद है) एक कार्ड पर ये दो पंक्तियां बधाई के रूप में लिख भेजी थीं—

लक्ष्य-पति तुम सव्यसाची के सदृश कब से रहे हो,
धन्य देवी 'उर्वशी' जो लक्षपति भी बन गये हो।

इस बधाई की प्राप्ति स्वीकृति उन्होंने एक कार्ड पर बड़े भावभीने शब्दों में भेजी थी।

दिनकरजी को हिंदी की सेवा करने का एक नया अवसर मिल रहा था। 'इंडियन ऐक्सप्रेस' प्रतिष्ठान ने 'धर्मयुग' और हिंदुस्तान' की तरह एक साप्ताहिक निकालने की एक योजना बनायी थी और उन्होंने दिनकरजी को उसका संपादक होने को राजी भी कर लिया था। शायद वे उसी संबंध में 'इंडियन ऐक्सप्रेस' के स्वामी श्री गोयनकाजी से विचार-विमर्श करने मद्रास गये थे। हमें पूरा विश्वास

है कि अपनी कल्पनाशीलता और संगठन शक्ति के बल पर वे हिंदी पत्रकारिता में एक नया कीर्तिमान स्थापित करते। किंतु विधि को यह मंजूर नहीं था। वहीं हृदय के भयंकर दौरे से प्राय: आध घंटे में भारत का सूर्योपम राष्ट्रकवि आधी रात में अस्त हो गया। लाखों लोगों को मुग्ध करनेवाली वाणी सदा के लिए मूक हो गयी और हिंदी का एक स्तंभ टूट गया।

हमं इस दुर्घटना से इतने विचलित हो गये हैं कि उनके संबंध में अधिक नहीं लिख सकते। इस समय तो हम अपने शोक-संतप्त हृदय का उच्छ्वास मात्र व्यक्त कर सकते और उनके प्रति अपनी अश्रुपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित कर संतोष करते हैं। सूर्य नित्य उदय और अस्त होता है। किंतु हिंदी का दिनकर (सूर्य) ऐसा हुआ है कि अब वह उदय नहीं होगा। भारतमाता और हिंद माता दोनों की गोदें अपने प्यारे राष्ट्रकवि से रिक्त हो गयी हैं, उनकी पूर्ति कौन कर सकता है? हम उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी विनम्र समवेदना निवेदित करते हैं। दिनकर अस्त हो गया किंतु हिंदी साहित्याकाश उसकी प्रभा से सदैव रंजित रहेगा।

(डॉक्टर) धीरेन्द्र वर्मा

हमें अपने पाठकों को यह समाचार देने में अत्यंत दुख होता है कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की मृत्यु इलाहाबाद में उनके एलेनगंज स्थित निवास-स्थान पर २३ अप्रैल, १९७३ को अपराह्न में हुई। उस समय उनकी आयु ७६ वर्ष की थी। डॉ० वर्मा का जन्म १७ मई, १८९७ ई० में बरेली में हुआ था। डॉ० वर्मा सक्सेना कायस्थ थे। आपके पितामह शैव थे किंतु वर्माजी के पिता दयानन्द सरस्वती के प्रभाव में आकर आर्यसमाजी हो गये। डॉ० वर्मा अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे। आपके पिता का संस्कृत एवं हिंदी से अत्यधिक अनुराग था। ये सुसंस्कृत व्यक्ति थे। वे प्राय: कहा करते थे कि उनका परिवार गौड़ ब्राह्मण से कायस्थ हुआ था।

डॉ० वर्मा के पिता ने अपने पुत्र को उच्च अध्ययन के लिए इलाहाबाद भेजा। यहीं से डॉ० वर्मा ने १९२१ में वैदिक वर्ग से संस्कृत में एम०ए० किया। जुलाई सन् १९२४ में जब इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का नवीन रूप में संगठन हुआ और हिंदी का विभाग स्वतंत्र रूप से पुनर्गठित हुआ तो डॉ० वर्मा हिंदी के प्रथम व्याख्याता नियुक्त हुए। इस प्रकार प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी अध्ययन एवं अध्यापन-परंपरा को समारंभ करनेवाले आप प्रथम व्यक्ति थे। सन् १९३४ में डॉ० वर्मा पेरिस गये और वहां ब्रजभाषा पर अधिनिबंध लिखकर उन्होंने डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। सन् १९४६ में आप प्रयाग विश्वविद्यलय में हिंदी के अध्यक्ष (प्रोफेसर) नियुक्त हुए और मार्च, सन् १९५९ में यहीं से अवकाश ग्रहण किया। इस प्रकार उन्हें हिंदी विभाग को इच्छानुसार मोड़ देने का ३५ वर्ष का दीर्घकाल मिला, और नये कालिजों में उनके विद्यार्थियों ने उन्हीं की प्रणाली पर चलकर उसे सारे देश में फैला दिया। इसके बाद डॉ० वर्मा नागरीप्रचारिणी सभा में विश्वकोश के संपादक हुए। वे कुछ दिनों तक सागर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के प्रोफेसर भी रहे। वहां उनके मित्र और सहपाठी पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र उस समय उपकुलपति थे। अंत में उनकी नियुक्ति जबलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति-पद पर हुई। वहां तीन वर्ष का कार्यकाल संपन्न कर उन्होंने अवकाश ग्रहण किया और पुनः अपने घर प्रयाग लौट आये।

प्रयाग विश्वविद्यालय में, हिंदी के उच्च अध्ययन एवं अनुसंधान को उसकी वर्तमान दिशा देने का वास्तविक श्रेय डॉ० वर्मा को ही है। प्रयाग से पूर्व कलकत्ता एवं बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभागों का समारंभ हो चुका था। हिंदू यूनिवर्सिटी के प्रथम अध्यक्ष डॉ० श्यामसुंदर दास थे। इसके बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा पं० केशवप्रसाद मिश्र वहां के अध्यक्ष हुए। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग को आधुनिक तथा सुसंगठित रूप देने के लिए उन्होंने डॉ० श्यामसुंदरदास एवं आचार्य शुक्ल से भी सहायता ली। डॉ० वर्मा भाषाविज्ञान के भी विशेषज्ञ थे। प्रयाग विश्वविद्यालय में आपने प्राचीन साहित्य, संस्कृति एवं भाषाविज्ञान पर अनेक शोध प्रबंध तैयार कराये। एम० ए० के पाठ्यक्रम में संस्कृत तथा पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश, लोकसाहित्य एवं हिंदी की विविध बोलियों तथा पाठालोचन को निर्धारित कर हिंदी के अध्ययन को आपने अधुनातन एवं विशद बनाया।

वे हिंदी के कट्टर समर्थक थे और 'मध्यदेश' (हिंदी क्षेत्र) के भाषायी एकीकरण केपक्षपाती थे। उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखीं जिनमें 'हिंदी राष्ट्र' 'अष्टछाप', 'ग्रामीण हिंदी', 'हिंदी भाषा और लिपि', 'यूरोप के पत्र', 'हिंदी भाषा का इतिहास' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे कई वर्ष तक हिंदुस्तानी एकेडमी के सचिव भी रहे। भारतीय विश्वविद्यालयों के हिंदी अध्यापकों का उन्होंने एक

संगठन बनाया जो 'भारतीय हिंदी परिषद्' के नाम से विख्यात है। उनके संचालन में वह एक क्रियाशील संस्था बन गयी। वे मितभाषी और व्यवहार में बड़े शिष्ट थे। इधर कई वर्षों से उनका स्वास्थ्य गिर गया था और उन्हें दमा का रोग हो गया था।

डॉ० वर्मा के निधन से हिंदी-जगत् की अपूरणीय क्षति हुई है। हम उनके परिवार के प्रति अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(पंडित) नन्ददुलारे वाजपेयी

हिंदी के विद्वान् और प्रख्यात समीक्षक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का स्वर्गवास अगस्त १९६७ में उज्जैन में, सहसा हृदय की गति रुक जाने से हो गया था। वे उस समय विक्रम विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर आसीन थे। उन्हें दो बार पहले भी दिल का दौरा पड़ चुका था। दुर्भाग्य से तीसरा दौरा घातक सिद्ध हुआ।

वाजपेयीजी उन्नाव जिले के रहनेवाले थे। उनकी उच्च शिक्षा काशी में हुई थी। वहां वे स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदासजी के प्रिय छात्रों में थे। बाबू साहब अपने प्रिय और सुयोग्य छात्रों से अनेक साहित्यिक कार्य कराते थे और अपने ग्रंथ-प्रणयन में उनसे सहायता लेते थे। इस प्रकार उनके प्रिय छात्रों को साहित्यिक कार्य करने का प्रशिक्षण और अभ्यास हो जाता था। वाजपेयीजी से बाबू साहब ने काफी काम लिया था। इसका कारण यही था कि उन्होंने उनमें विशेष साहित्यिक प्रतिभा पायी। वाजपेयीजी ने काशी नागरीप्रचारिणी सभा के लिए भी कुछ कार्य किया था। बाद में वे कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद 'भारत' के संपादक भी हो गये थे। फिर वे सागर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष होकर चले गये। दो वर्ष पूर्व उन्हें विक्रम विश्वविद्यालय का उपकुलपति नियुक्त किया गया था और मृत्यु के समय वे उसी पद पर थे।

वाजपेयीजी सफल प्राध्यापक थे। अपनी विद्वत्ता तथा स्नेही स्वभाव के कारण

वे विद्यार्थियों में लोकप्रिय ही नहीं, उनसे आदर भी पाते थे। हिंदी साहित्य में उनकी प्रसिद्धि समीक्षक के रूप में हुई—विशेषकर छायावाद और छायावाद के बाद के साहित्य की समीक्षा के लिए। उनकी दृष्टि आधुनिक थी। आधुनिक दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन करके उन्होंने हिंदी आलोचना को एक नया मोड़ दिया। उसी क्रम में उन्होंने नयी कविता का मूल्यांकन भी आरंभ किया था जो दुर्भाग्य से अधूरा रह गया, किंतु जितना भी प्रकाश में आया है उससे नयी कविता के संबंध में फैली बहुत-सी भ्रांत धारणाएं दूर होने में सहायता मिली है।

अध्यापक और समीक्षक होने के अतिरिक्त वाजपेयीजी विश्वविद्यालयों की गतिविधियों में भी रुचि लेते थे। वे सागर विश्वविद्यालय की विभिन्न समितियों के सक्रिय सदस्य थे और विश्वविद्यालयों के प्रशासन और प्रबंध का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वे अन्य कितने ही हिंदी प्रोफेसरों की भांति हिंदी-प्रचार आंदोलन से उदासीन नहीं थे। वे हिंदी के हार्दिक प्रचारक थे और उसके हितों का सदा ध्यान रखते थे। विक्रम विश्वविद्यालय के प्रशासनिक कार्यों में हिंदी का प्रवेश कराकर उन्होंने विश्वविद्यालयों के कार्यों के हिंदीकरण का एक प्रकार से मार्गदर्शन किया था। दुर्भाग्य से विक्रम विश्वविद्यालय उनके लिए अशुभ प्रमाणित हुआ। वहां पहुंचने के बाद ही वे वहां की समस्याओं में फंस गये जिनसे उनकी मानसिक शांति भंग हो गयी। इधर कुछ दिनों से उनका स्वास्थ्य भी गिरने लगा था। तरह-तरह की प्रशासनिक समस्याओं ने उन्हें परेशान कर रखा था। हृदय कमजोर हो गया था, किंतु वे विश्राम या छुट्टी लेने को तैयार न थे। अंत में हृदय ने असहयोग करके उन्हें कार्य से चिरविश्राम लेने को विवश कर दिया।

हिंदी में प्रौढ़ चिंतकों और आलोचकों की कमी है। वाजपेयीजी हमारे इने-गिने प्रौढ़ और उत्कृष्ट समीक्षकों में थे। उनके असामयिक निधन से हिंदी साहित्य की बड़ी क्षति हुई है। हम उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करते हैं।
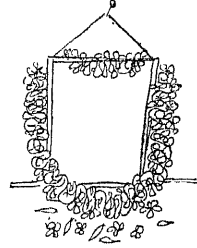
(राष्ट्र-कलाकार, आचार्य) नन्दलाल बोस

जन-मानस पर कविता का ऐसा प्रभाव है कि युग के अपने सर्वश्रेष्ठ कवि को देश 'राष्ट्रकवि' घोषित कर उसका सम्मान करता है। चित्रकला जनता को कविता से कम प्रेरणा और आनंद नहीं देती; फिर भी अभी तक हम अपने युग के सर्वोत्कृष्ट कलाकार को 'राष्ट्र कलाकार' की उपाधि नहीं देते। यदि हम ऐसा करते होते तो निःसंदेह देश ने जिन्हें एक स्वर से 'राष्ट्र-कलाकार' घोषित कर दिया होता उन आचार्य नन्दलाल बोस का स्वर्गवास अप्रैल १९७६ में हो गया। वे भारतीय कला के पुनर्जागरण के आचार्य अवनीन्द्रनाथ टैगोर के पट्ट शिष्य थे, और उन्होंने अपना जीवन रवीन्द्र बाबू के शान्तिनिकेतन में शिक्षक के रूप में अर्पित कर दिया था। वे उत्कृष्ट कलाकार थे, और कला के पुनर्जागरण-आंदोलन के अत्यंत देदीप्यमान नक्षत्र थे। नयी भारतीय कला (जिसे कुछ लोग बंगाल कला शैली कहते हैं) के वे सबसे सबल और कुशल व्याख्याता थे, और उसके प्रचार-प्रसार में शायद ही और किसी का इतना योगदान रहा हो जितना उनका। वे कोरे कलाकार ही नहीं, चिंतक भी थे, और अपने विचारोत्तेजक तथा प्रेरणा-प्रद लेखों से बंगाल के आभिजात्य वर्ग को अनुप्राणित करते रहते थे। उनके कुछ लेखों का एक बंगला संग्रह 'शिल्पकथा' के नाम से प्रकाशित हुआ था जिसका हिंदी अनुवाद प्रयाग के साहित्य-भवन ने हिंदी पाठकों के लिए सुलभ कर दिया था। इसकी भूमिका स्वयं रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखी थी। वे महान् चित्रकार ही नहीं, महान् पुरुष भी थे। जब नन्दलाल बाबू ५० वर्ष के हुए तब रवीन्द्र बाबू ने उन पर एक कविता लिखी जिसके शीर्षक में उन्होंने कहा था कि "पचास वर्ष के किशोर गुणी नन्दलाल बोस के प्रति सत्तर वर्ष के वृद्ध युवा रवीन्द्रनाथ का आशीर्वाद।" उसकी कुछ पंक्तियों का अनुवाद श्री मोहनलाल वाजपेयी ने इस प्रकार किया है—

नन्दन वन के कुंज तले रंजना की धारा बह रही है :
जन्म से पूर्व उसी के जल में तुम्हारा स्नान समापन हो चुका था।
न जाने किस मधु यामिनी में
कोई तुम्हारे पलकों में अंजन लगा गया।
तभी तो तुम्हारी आंखों के तारों ने ऐसी सृजन दृष्टि पायी है।
तुम्हारे जन्म की थाली अमर फूलों का उपहार—
रूप के लीलामय लेखों से भरपूर पारिजात की डलिया सजा कर लायी है।
अप्सराओं के नृत्य
तुम्हारी तूली की नोक पर नाच उठे हैं।
रेखाओं की वंशी तुम्हारे अंकन का संस्पर्श पाकर स्वर से बज उठी है।

धूप-छाया की चंचल माया को तुमने जीत लिया है
तुम्हारे अंकन-पट पर मैं जानता हूं—
नटराज की जटाओं की रेखा सदा के लिए अंकित होकर रह जाती है।
जो चिर-बालक विश्वछवि आँककर खेला करता है,
तुम उसी के समवयस्क होकर मिट्टी के खेल-घर में खेला करते हो।
तुम्हारी इस तरुणाई को वयस कभी क्या ढक सकती है ?
अपने खेल के बेड़े पर अपने प्राणों को तुम असीम की ओर बहाया करते हो।
आज तुम्हारा ही खेल खेलने के लिए कवि पागल हो उठा है।

नन्दलाल बोस ने शिक्षक के रूप में सैकड़ों चित्रकार तैयार किये और उन्होंने इस देश की कला को भारतीय दृष्टि दी जो पाश्चात्य शैली के प्रभाव से उस समय आक्रांत थी। उनके शिष्यों के द्वारा उनका शिल्प-संदेश देश के कोने-कोने में पहुंचा। किंतु इससे भी बड़ा काम जो उन्होंने किया वह अपनी पीढ़ी को भारतीय कला का मर्म समझाकर और उनका कलाबोध जगाकर किया। उनके स्वर्गवास से भारत का वास्तविक रत्न खो गया। 'सरस्वती' उनकी स्मृति में अत्यंत विनम्रता और श्रद्धा से नत है।

(युगप्रवर्तक) निराला

एक नक्षत्र टूट गया!

हिंदी-साहित्याकाश का सबसे प्रखर, तेजस्वी और देदीप्यमान नक्षत्र टूट गया। १५ अक्टूबर '६१ को महाकवि निरालाजी ने प्रयाग में अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उस युग-प्रवर्तक कवि के लीला-संवरण के साथ हिंदी का एक युग-समाप्त हो गया। हमारा मत है कि तुलसीदासजी के बाद से अब तक हिंदी काव्य-जगत् में निरालाजी की काव्य-प्रतिभा का कोई कवि नहीं हुआ। निरालाजी हमारे समय में हुए। यह हमारा सौभाग्य था। किंतु इस निकटता के कारण हम उनके काव्य और व्यक्तित्व की विशालता और महत्ता को ठीक तरह से देख नहीं सके। भावी पीढ़ियां ही निरालाजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का सही-सही मूल्यांकन कर सकेंगे। वैसे भी, इस अवसर पर जब हम इतने शोकाकुल हैं, हम उनके कृतित्व का मूल्यांकन करने की स्थिति में नहीं हैं। यह काम हम निश्चित होकर इतिहास के विवेक पर छोड़ सकते हैं।

निरालाजी का निधन हमारे लिए एक आत्मीय का वियोग है। निरालाजी का हमारा घनिष्ठ संबंध तीस वर्ष से भी अधिक समय तक रहा। वैसे तो हमारा-उनका परिचय दिल्ली के हिंदी साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर हुआ था किंतु सन् १९२८-२९ से उनसे घनिष्ठता हुई। हममें और निरालाजी में कोई साम्य नहीं था। विचारों, रहन-सहन, भोजन-पान में वे मुक्त थे, और हम विवेकशील रूढ़िवादी। स्वभाव में भी कोई साम्य नहीं था। वे अत्यंत खरे, स्पष्टवक्ता और विरोध के मामले में बहुत संचेत्य। हम दुनियादार। किंतु इतना हम समझ गये थे कि वे एक असाधारण पुरुष हैं, और साधारण सामाजिक या व्यक्तिगत मापदंडों से उनको आंकना ठीक नहीं है। हमने उन्हें असाधारण प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति (जीनियस) समझा, और हम यह भी जानते हैं कि ऐसे व्यक्ति "रवि, पावक,

सुरसरि की नाईं" साधारण नियमों से परे होते हैं। हमारी ओर से यह भावना, और उनकी ओर से हमारे प्रति अकृत्रिम और अगाध प्रेम तथा सम्मान ऐसे तत्त्व थे जिनसे हम दोनों सारे जीवन एक-दूसरे के आत्मीय बने रहे। संयोग से हमने इस संसार में उनसे तीन-चार वर्ष पहले जन्म ले लिया था। इसलिए वे आरंभ ही से हमें अपने बड़े भाई की तरह मानते थे। हम इसे अपने पूर्व जन्मों के किसी बहुत बड़े सुकृत का ही फल समझते हैं कि उन्होंने अपनी सर्वोत्तम कृति 'तुलसीदास' हमें समर्पित की और समर्पण में हमें अपना 'अग्रज' घोषित किया। घोषित ही नहीं किया, अंत तक उस संबंध का निर्वाह भी किया। इसलिए उनके संबंध में हमारे लिए तटस्थ भाव से कुछ कहना यदि असंभव नहीं, तो अत्यंत कठिन तो अवश्य है। इस समय हमारी मनोदशा भी ऐसी नहीं कि हम उनके बारे में कुछ अधिक कह सकें।

निरालाजी कवि थे, और कवि मालूम भी पड़ते थे। युवावस्था में उनका शरीर दर्शनीय था। वे छः फुट एक इंच लंबे थे और सारा शरीर उसी अनुपात में, मानो सांचे में डालकर बनाया गया था। पहलवानी का उन्हें शौक था, और व्यायाम ने उनके शरीर को दृढ़ और पुष्ट कर दिया था। अनेक लोगों का कहना है कि वे रोमन सरदार मालूम पड़ते थे। 'तुलसीदास' में उन्होंने तुलसीदासजी का जो वर्णन किया है वह स्वयं उन पर पूरी तरह गठित होता है :

युवकों में प्रमुख रत्न-चेतन
समधीत-शास्त्र-काव्यालोचन
जो, तुलसीदास, वही ब्राह्मण कुलदीपक;
आयत-दृग, पुष्ट-देह, गत-भय
अपने प्रकाश में निःसंशय
प्रतिभा का मंद-स्मित परिचय, संस्मारक।

हमें उन्होंने अपने दो चित्र दिये थे। उनमें से एक चित्र 'सरस्वती' में रंगीन छपा था, वह उनकी प्रौढ़ युवावस्था का था। उससे निरालाजी के उस समय के व्यक्तित्व का कुछ आभास होता था। एक छोटा पार्श्वमुख-चित्र उनकी युवावस्था का भी दिया गया था। दूसरा बड़ा चित्र बहुत महत्त्वपूर्ण था। कवियों में कहीं एक 'स्त्री-तत्त्व' होता है; किसी में कम, किसी में अधिक। वह कवि-हृदय की कोमलता, स्निग्धता और करुणा का आधार है। निरालाजी को अपने उस तत्त्व का ज्ञान था। वह फोटो उन्होंने बड़े प्रेम से हमें भेंट किया था, और भेंट करते समय कहा था, "चतुर्वेदीजी, इसमें मेरी 'फेमिनिन ग्रेसेज' (स्त्रीसुलभ शोभा) देखिए।" उनमें इतनी अपार करुणा, कोमलता और स्निग्धता थी कि उसके दर्शन साधारणतः लोगों को नहीं हो पाते थे।

लोगों को इस बात का भ्रम है कि निरालाजी की सेवा नहीं हुई और वे सदैव

अभावग्रस्त रहे। यह अर्द्धसत्य है। यह सही है कि उनका कोमल हृदय जिस प्रकार के स्नेह का भूखा था, वह उन्हें नहीं मिल पाया। आरंभिक जीवन में उन्हें जीवन-यापन के लिए संघर्ष भी करना पड़ा और उन्होंने कष्ट भी सहे। अभावों की विभीषिका से भी घिरे रहे। किंतु उनके अंतिम बीस-पचीस वर्षों में उन्हें आर्थिक कष्ट का वैसा सामना नहीं करना पड़ा। पिछले कुछ वर्षों से डॉ० सम्पूर्णानंदजी ने उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से उनकी पेंशन बांध दी थी और उनकी चिकित्सा आदि की भी व्यवस्था कर दी थी। उनके बाद उनके उत्तराधिकारी श्री चन्द्रभानु जी गुप्त ने भी उसे जारी रखा और उनकी चिकित्सा आदि में व्यक्तिगत रुचि ली। जो पेंशन उन्हें मिलती थी वह इतनी पर्याप्त थी कि जब उनकी मृत्यु हुई तब उनकी पेंशन के हिसाब में, सब खर्च करने के बाद, प्रायः साढ़े तीन हजार रुपये की राशि बच रही थी। निरालाजी ऐसे 'निराले' व्यक्ति की सेवा कितनी कठिन थी, इसका अनुमान वे लोग नहीं लगा सकते जो उन्हें दूर से जानते हैं। किंतु फिर भी उनके मित्रों और भक्तों ने उनकी सेवा जिस आत्म-दमन, परिश्रम, लगन तथा प्रेम से की, उसका दूसरा उदाहरण हमें नहीं मालूम। पिछले बारह वर्षों से वे चि० कमलाशंकर सिंह के घर पर रहते थे जिन्हें साहित्य या कविता से कोई लगाव नहीं है। हम इसके साक्षी हैं कि उन्होंने और उनकी पत्नी ने इतने वर्षों जिस निःस्पृहता, प्रेम और आत्म-संयम से उनकी सही सेवा की, वैसी सेवा अधिकांश पिताओं को अपने पुत्रों से भी प्राप्त न होगी। निरालाजी का कष्ट व्यक्तिगत न था। एक भी भूखे, नंगे या दुखी व्यक्ति को देखकर वे उद्विग्न हो उठते थे, और यदि कारूं का खजाना भी उनके पास होता तब भी वे संसार से कष्ट, दुःख और अभाव को दूर नहीं कर सकते थे, और इस कारण कभी सुखी नहीं हो सकते थे। किंतु उनके मानसिक क्लेश और कुंठा को देखकर भी हिंदी क्षेत्र ही में हिंदी और हिंदी-साहित्यिकों का अपमान या अवमानना होती है, तथा उन्हें उनका न्याय-संगत दाय नहीं मिलता।

निरालाजी अब नहीं हैं। भारतेन्दु ने अपने बारे में कहा था, "प्यारे हरिचंद की कहानी रह जायेगी।" सो अब निरालाजी की कहानी भर रह गयी है। अवश्य ही उनका भौतिक शरीर नहीं रहा, किंतु जब तक हिंदी भाषा है, जब तक संसार में शुद्ध काव्य के पारखी हैं, जब तक दलित, पतित और पीड़ित मानव हैं, और जब तक उनके कष्टों को वाणी देने की या वकील की आवश्यकता है, तब तक निरालाजी का यशःशरीर अमर है, तब तक उनकी वाणी जीवित है। हिंदी के तो वे गौरव थे। उनके समान तेजस्वी, मेधावी, मौलिक और ऊंची उड़ान लेनेवाला कवि तथा 'शब्दों का बादशाह' यदा-कदा ही जन्म लेता है। तुलसीदास और सूर-दास की तरह उन्होंने हिंदी का मस्तक सदा के लिए गौरवान्वित किया है। वे चोटी के कवि, उपन्यासकार, कहानीकार और निबंध-लेखक ही नहीं थे, हिंदी

की नयी काव्यधारा के प्रवर्तक और क्रांतिकारी विचारों के प्रचारक ही नहीं थे, हिंदी भाषा के उन्नायक और प्रचारक भी थे। जो आधुनिक हिंदी उनसे पुत्रवती हुई थी, वह उनके वियोग में आज शोक-संतप्त है। इस क्षति की पूर्ति होने में न मालूम कितने युग लग जायेंगे। हिंदी के इस शोक-संताप के सामने हमारा व्यक्तिगत शोक नगण्य है। हिंदी संसार को भगवान इस वज्रपात के सहन करने की शक्ति दे। निरालाजी अमर हैं। जो जीवन-भर मन से 'आजाद परिंदे' रहे, वे आज शरीर से भी मुक्त हो गये।
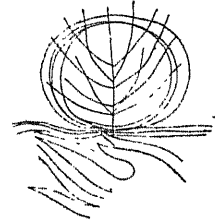
(श्री) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

हमें यह जानकर अत्यंत दुःख हुआ कि 'सरस्वती' के भूतपूर्व विश्रुत संपादक, हिंदी के प्रसिद्ध लेखक एवं समीक्षक तथा द्विवेदी-युग के प्रतिष्ठित साहित्यकार श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का स्वर्गवास रायपुर में २८ दिसम्बर '७१ को हो गया। हमें उनका अंतिम पत्र राजनांदगांव से २१ नवम्बर का लिखा हुआ मिला था जिसमें उन्होंने लिखा था—"एक महीने से मैं अधिक बीमार हो गया हूं। अब बिस्तर से उठ-बैठ नहीं सकता, इंडियन प्रेस ने कृपापूर्वक मुझको तीन महीने पूर्व एक रीडर बनाने का काम सौंपा था। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। रीडर का काम तो अच्छी तरह समाप्त कर भेज दिया, परंतु अब कुछ समय से बिल्कुल अशक्त हो गया हूं। ऐसा जान पड़ता है कि अब अंतिम समय आ गया है। इस विषय में मेरी एक प्रार्थना है। मेरी पौत्री नलिनी श्रीवास्तव ने मुझ पर और अपनी दादी पर बड़ा अच्छा लेख लिखा है। उसे आपकी सेवा में भेज रहा हूं। मुझे तो यह लेख खूब पसंद है। मेरी बड़ी इच्छा है कि अपने जीवन-काल में इसका प्रकाशन 'सरस्वती' में देख सकूं। इसी अभिलाषा से यह पत्र आज लिख रहा हूं क्योंकि कल तो मेरी स्थिति सचमुच चिंताजनक हो गयी थी।" यह पत्र हमें नवम्बर '७१ के अंत में मिला। हमने उन्हें लिख दिया था कि लेख 'सरस्वती' में अवश्य प्रकाशित कर दिया

जायेगा, किंतु चूंकि वह काफी लंबा है, उसे धारावाहिक रूप में प्रकाशित करना होगा और दो-तीन मास के अंकों की सामग्री तैयार कर ली गयी है, उसे तीन महीने बाद धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर देंगे। हमें क्या मालूम था कि उनका अंत इतना निकट है क्योंकि बहुधा रोगी घबरा जाते हैं और हमने उन्हें एक आश्वासनपूर्ण उत्तर भी दिया था। वे अवस्था में हमसे कुछ छोटे थे और हमने उन्हें अपना उदाहरण देकर निराशा छोड़ देने के लिए लिखा था। किंतु भगवान का विधान कुछ और था, और वे हमें छोड़कर चले गये। यह समाचार हमें उस समय मिला जब 'सरस्वती' का दिसम्बर का अंक प्राय: कंपोज हो गया था। अतएव हम उनके स्वर्गवास पर अपना और सरस्वती परिवार का हार्दिक दु:ख ही व्यक्त कर सके थे। उनके निधन से मध्यप्रदेश ही नहीं, सारे हिंदी संसार की एक अपार क्षति हुई है और द्विवेदीजी, माधवराव सप्रे, माखनलाल चतुर्वेदी आदि के युग की अंतिम उत्कृष्ट कड़ी टूट गयी।

(श्री) परशुराम कृष्ण गोदे

एक प्राच्यविद्या-विशारद का निधन!

हमें यह जानकर बहुत खेद हुआ कि प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद और पूना के प्रसिद्ध भांडारकर प्राच्य विद्या-शोध संस्थान के अधिकारी श्री परशुराम कृष्ण गोदे का निधन ७० वर्ष की आयु में ही हो गया था। श्री गोदे उन विद्वानों की परंपरा में थे जिन्होंने अपना जीवन भारतीय विद्या के अध्ययन, मनन और अनुसंधान में उत्सर्ग कर दिया था। उन्होंने विभिन्न विषयों पर प्राय: ५०० शोध निबंध लिखे थे। प्रत्येक निबंध में उनके विस्तृत अध्ययन, भारतीय साहित्य में उनकी गहरी पैठ और सुलझी आलोचक-दृष्टि का परिचय मिलता है। इन शोध निबंधों की विषय-सूची देखने से यह भी पता लगता है कि उन्होंने भारतीय विद्या के प्राय: सभी क्षेत्रों का अध्ययन किया था, और अंधेरे में पड़ी कितनी ही समस्याओं को

आलोकित किया था। भांडारकर संस्थान की उच्च शोध परंपरा का उन्होंने निर्वाह ही नहीं किया प्रत्युत उसे और ऊंचा उठाया। अपने अपूर्व पांडित्य और मौलिक शोधों के कारण सारे संसार के पंडित-समाज में उनकी ख्याति थी और वे बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। जब १९४९ में उनका षष्टिपूर्ति उत्सव मनाया गया तो संसार के विभिन्न देशों के प्राच्य विद्या-विशारदों ने उनके अभिनंदन ग्रंथ में एक सौ से ऊपर निबंध समर्पित करके उनके गहन पांडित्य और उच्च चरित्र का सम्मान किया था। उनके निबंध और उनकी शोध चिरकाल तक भारतीय विद्या के विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन करती रहेगी। उन्होंने कई गंभीर पत्रों का संपादन भी किया जिनमें 'न्यू इंडियन एंटिक्वैरी' और 'रिव्यू आफ फिलासफी एंड रिलीजन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आप्टे का प्रसिद्ध संस्कृत-अंग्रेजी कोश अप्राप्य था। श्री गोदे ने उसका संवर्द्धन करके उसके नये संस्करण का संपादन किया था। श्री गोदे में पंडित-सुलभ नम्रता, सरलता और सादगी थी। पांडित्य और उच्च चरित्र का उनमें अनोखा और दुर्लभ संयोग हुआ था। उनके निधन से प्राच्यविद्या और देश के पंडित-समाज को अपार क्षति हुई है। महाराष्ट्र ने इतिहास, संस्कृत और प्राच्यविद्या केअनेकचोटी के विद्वानउत्पन्न किये जिन्होंने भारत को अपने गौरवशाली अतीत का ज्ञान कराया। वे इसी माला के एक चमकते हुए मणि थे।
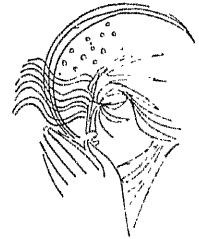
(डॉक्टर) पाण्डुरंग सदाशिव खानखोजे

द्विवेदी-काल के सरस्वती-लेखक, क्रांतिकारी और कृषि-शास्त्री श्री पाण्डुरंग सदाशिव खानखोजे का ८२ वर्ष की आयु में नागपुर में स्वर्गवास हो गया था। 'सरस्वती' की हीरक जयंती समारोह में 'सरस्वती' के जिन पुराने लेखकों का बहुमान किया गया था उनमें डॉ० खानखोजे भी थे, ओर उस समय हमें पहली बार उनके दर्शन हुए थे, यद्यपि हम अपने विद्यार्थी-जीवन ही से उनके लेखों से

परिचित थे। तीन दिन का उनका सत्संग हमारे किसी सुकृत का फल था। उस वार्द्धक्य में भी उनमें जो आग थी वह संपर्क में आनेवालों को प्रभावित किये बिना नहीं रहती थी। उनका जन्म एक वीर परिवार में हुआ था। उनके पितामह झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई की सेना में थे और उनके नेतृत्व में अंग्रेजों से लड़े थे। बालक खानखोजे में भी स्वतंत्रता-प्राप्ति की लगन थी और लोकमान्य तिलक के कार्यों से वह आकांक्षा और भी बढ़ी। वे लोकमान्य को अपना गुरु मानते थे। आरभ में महाराष्ट्र के कुछ नवयुवकों ने 'बाल बांधव समाज' नामक एक क्रांतिकारी संस्था बनायी। खानखोजे उसके सक्रिय सदस्य थे। खानखोजे जी के शब्दों में "हम सब भारतीय एक हैं और हिंदी ही राष्ट्रभाषा है।" और "सशस्त्र क्रांति किये बिना आजादी नहीं मिलेगी।" यही इसके प्रमुख सिद्धांत थे। इसके लिए सैनिक शिक्षा की आवश्यकता थी। कुछ युवक इस उद्देश्य से अमरीका, चीन, जापान आदि देशों में गये भी। उन दिनों स्वामी रामतीर्थ जापान, अमरीका आदि की यात्रा करके लौटे थे। युवक खानखोजेजी उनसे मिले और उन्होंने अमरीका आदि स्थानों के लिए स्वामीजी से परिचय-पत्र चाहे। स्वामीजी ने यह लिख कर उनको दे दिया—"खानखोजे की मदद करना, यानी राम की मदद करना।" इस आशीर्वाद को लेकर युवक खानखोजे एक फ्रेंच जहाज में कुली की नौकरी लेकर चुपचाप देश से भाग गये। हिंद-चीन, चीन और जापान होकर वे अमरीका पहुंचे। वहां कुछ लोगों के साथ 'आजाद हिंद' दल बनाया और साथ ही सैनिक शिक्षा भी लेने लगे। मजदूरी करके अपना काम चलाते थे। बाद में जब लाला हरदयाल और भाई परमानन्द अमरीका पहुंचे तो उन्होंने इतिहास-प्रसिद्ध 'गदर पार्टी' स्थापित की और खानखोजेजी उसके सक्रिय सदस्य हो गये। इस बीच मेक्सिको में जो कृषक क्रांति हुई उसमें क्रांति के कार्य का अनुभव प्राप्त करने के लिए वे मेक्सिको पहुंचे। १९१३ तक इन क्रांतिकारियों ने एक स्वातंत्र्य सेना तैयार कर ली। जब १९१४ में प्रथम महायुद्ध हुआ और तुर्की अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने लगा तब इस सेना के बहुत से सैनिक तुर्की की राजधानी कुस्तुन्तुनिया जा पहुंचे। श्री खानखोजेजी भी उनमें थे। इन लोगों ने वहां से अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार करने के लिए 'गदर पत्रिका' नामक एक पत्रिका निकाली। बाद में तुर्की की सहायता पाकर ये स्वतंत्र सैनिक भारत की ओर बढ़े और बलूचिस्तान के उत्तर-पश्चिमी भाग तक पहुंच गये। उस समय बलूचिस्तान अंग्रेजों के भारतीय साम्राज्य का अंग था। इन्होंने बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के कुछ भाग में घुस कर उसे 'स्ततंत्र भारत गणराज्य' घोषित कर दिया। वहां इनका युद्ध अंग्रेज जनरल साइक्स से हुआ। ये मुट्ठीभर साधनहीन स्वतंत्रता के दीवाने सैनिक शक्तिशाली और साधन-संपन्न अंग्रेजी सेना के सामने कहां ठहर सकते थे? इन लोगों को वहां से भागना पड़ा। यह बात १९१९ ई० की है। खानखोजेजी वहां से किसी

प्रकार अमरीका पहुंचे, और फिर मेक्सिको में जाकर रहने लगे। उन्होंने कृषि का अध्ययन किया था। वहां उन्होंने कृषि के कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये । वहां की सरकार ने इनके कामों को मान्यता दी तथा इन्हें सरकारी पद भी दिया। इनकी अमरीका की गतिविधियों के कारण अंग्रेज सरकार ने इन्हें राजद्रोही घोषित कर दिया था। बलूचिस्तान के युद्ध के बाद तो वे बहुत खतरनाक समझे जाने लगे थे। इनको पकड़ने के लिए अंग्रेज सरकार बड़ी उत्सुक थी। मेक्सिको में रहते हुए ये अंग्रेज सरकार की पकड़ के बाहर थे। किंतु खानखोजेजी अपने प्रिय स्वदेश लौटने को लालायित थे, और जब भारत स्वतंत्र हो गया तब वे स्वदेश लौटे और नागपुर में रहने लगे। तत्कालीन मध्यप्रदेश सरकार ने इनके कृषिविज्ञान की विशेषज्ञता और अनुभवों का लाभ उठाने के लिए एक कृषि सुधार समिति बनाकर इन्हें उसका अध्यक्ष बना दिया था।

श्री खानखोजेजी महाराष्ट्रीय थे। उनकी मातृभाषा मराठी थी। किंतु वे हिंदी के बड़े भक्त थे और उसे भारत की राष्ट्रभाषा मानते थे। एक बार जब वे बालक थे, उन्होंने अपने पितामह से (जो प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम में लड़ चुके थे) पूछा—"जब आप सन् ५७ के युद्ध के लिए उत्तर प्रदेश में गये तो वहां पर आप कौन-सी भाषा बोलते थे ?" उन्होंने उत्तर दिया—"भारत में सभी प्रांतों में हिंदी भाषा जाननेवाले लोग हैं। कन्याकुमारी से लेकर मानसरोवर तक यात्रा और प्रवास करनेवाले साधु-संत सबको हिंदी में ही व्यवहार करना पड़ता है। वही सुलभ भाषा है।" तभी उनमें हिंदी के प्रति जो आस्था उत्पन्न हुई, वह क्रांतिकारी जीवन तथा विदेश के अनुभव से और भी दृढ़ हुई क्योंकि सभी प्रांतों के क्रांतिकारी और विदेश में सभी भारतवासी आपस में हिंदी में बात करना ही सुविधाजनक समझते थे। उनके विचार से स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी ही थी।

इसी हिंदी-प्रेम से प्रेरित होकर जब वे अमरीका में थे तब अपने व्यस्त जीवन से समय निकालकर हिंदी में लेख लिखा करते थे। आचार्य द्विवेदी उस समय 'सरस्वती' के संपादक थे। स्वामी सत्यदेव, श्री भोलानाथ पांडे आदि अमरीका से उनके पास लेख भेजा करते थे ओर वे 'सरस्वती' में उन्हें सहर्ष प्रकाशित करते थे। खानखोजेजी भी जब कभी द्विवेदीजी के पास लेख भेज देते। उनके कितने ही लेख सरस्वती की पुरानी फाइलों में मिलते हैं, और उन्हें पढ़कर आज भी आनंद आता है।

श्री खानखोजे वृद्ध हो गये थे किंतु वे अंत तक क्रियाशील रहे। स्वतंत्र भारत में वे कृषि के उत्थान को सबसे अधिक महत्त्व देते थे। किंतु खेद है कि हमने उनके ज्ञान और अनुभव का जैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं किया। इतना कठिन जीवन व्यतीत करने पर भी उनमें कटुता का लेश न था। उनका हृदय बड़ा विशाल और उदार था। वे उन स्वप्नदर्शी लोगों में थे जिन्होंने भारत की स्वतंत्रता का स्वप्न

देखा, और उस स्वप्न को साकार करने के लिए अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया। उस महान् क्रांतिकारी, देशभक्त, वीर सैनिक और हिंदी के अनन्य भक्त के प्रति 'सरस्वती' अपनी विनम्र श्रद्धांजलि सादर अर्पित करती है।

(भारतरत्न) पाण्डुरंग वामन काणे

'भारतरत्न' महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे का स्वर्गवास १८ अप्रैल १९१२ को ९२ वर्ष की आयु में हुआ। महाराष्ट्र संस्कृत की विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध है। डॉ० रामकृष्ण भंडारकर से लेकर डॉ० गोडे, श्री सातवलेकर और डॉ० काणे तक इस बीच महाराष्ट्र के संस्कृत विद्या-आकाश में जो नक्षत्र-मालिका देश को अलंकृत और आलोकित करती रही, उसकी समता इस युग में अन्यत्र दुर्लभ है। महामहोपाध्याय काणे इस मालिका के अंतिम छोर के एक नक्षत्र थे। महाराष्ट्र-मही संस्कृत-विद्वत्ता में आज भी बंध्या नहीं है, किंतु श्री काणे का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही अपूर्व और निराले थे।

वे रत्नागिरि के एक कस्बे में एक प्रतिष्ठित पंडित परिवार में सन् १८८० में पैदा हुए। स्थानीय हाईस्कूल से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करके बम्बई के विलसन कालिज में भर्ती हो गये और बी० ए० करने के बाद उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपने ही जिले के मुख्य नगर रत्नागिरि के हाईस्कूल में एक सामान्य अध्यापक के पद से उन्होंने अपना बहुक्षेत्रीय और उल्लेखनीय जीवन आरंभ किया। वे 'अनट्रेण्ड' अध्यापक थे, अतएव उन्होंने आज के एल० टी० या बी० एड० के समकक्ष प्रशिक्षण लिया जिसे सीनियर टीचर्स सर्टिफिकेट कहते थे। उसमें वे सारे महाराष्ट्र में प्रथम हुए। कुछ दिनों वहां अध्यापक रहने के बाद वे बम्बई के प्रसिद्ध एलफिन्स्टन हाई-स्कूल में संस्कृत के अध्यापक होकर चले गये। वहां रहकर उन्होंने १९०८ में एल-एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर वे एलफिन्स्टन कालिज में संस्कृत

के प्राध्यापक नियुक्त हुए, किंतु दो वर्ष बाद उन्होंने इस पद को छोड़ दिया और उसके बाद वे बम्बई हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। एक वर्ष विलसन कालिज में संस्कृत के प्राध्यापक रहने के बाद वे बम्बई के लॉ कालिज में कानून के प्राध्यापक नियुक्त हुए। इस पद पर वे नौ वर्ष रहे। १९४७ से १९४९ तक बम्बई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर के पद को उन्होंने अलंकृत किया। १९४९ से १९५९ तक वे केंद्रीय राज्यसभा के मनोनीत सदस्य रहे। इसके बाद उन्होंने सब कामों से हाथ खींच लिया और वे एकाग्रचित्त से शोध और लेखन कार्य में लग गये।

यह बात नहीं थी कि सेवा या वकालत करते समय उन्होंने शोध और अध्ययन बंद रखा हो। वास्तविक बात तो यह है कि यह सब तो उनकी जीविका के साधन मात्र थे। आरंभ ही से संस्कृत का अध्ययन उनका मुख्य कार्य रहा। उन्होंने समय-समय पर जो पुस्तकें लिखीं उनके नाम ये हैं :—

अलंकारशास्त्र का इतिहास (१९०६), महाकाव्यों में वर्णित आर्यों की रीति-नीति (१९०७), महाराष्ट्र का प्राचीन भूगोल (१९१६), भारत की रामायणकालीन सामाजिक स्थिति, संस्कृत साहित्य का इतिहास, धर्मशास्त्र विचार, ऋक् सार-संग्रह, साहित्य दर्पण की टीका, कादम्बरी की टीका, हर्षचरित की टीका, उत्तर रामचरित की टीका, व्यवहार मयूख की टीका, कात्यायन स्मृति सारोद्धार की टीका, हिंदू कानून का वैदिक आधार, संस्कृत अलंकारशास्त्र का इतिहास, संस्कृत काव्यशास्त्र, भारतीय रीति-रिवाज और आधुनिक विज्ञान, धर्मशास्त्र का इतिहास

इनमें से अंतिम तीन ग्रंथ अंग्रेजी में हैं, शेष मराठी या संस्कृत में। उनकी टीकाएं साधारण नहीं हैं, प्रत्युत वे उनकी गहन और तीक्ष्ण आलोचक-दृष्टि की परिचायिका हैं। भाष्य करना महान् विद्वानों ही का काम है और श्री काणे की टीकाओं में गंभीर पांडित्य का प्रमाण मिलता है।

किंतु उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियां अंतिम तीन हैं जो उन्होंने अंग्रेजी में लिखीं। एक बार जब उनसे पूछा गया कि आपने इन्हें मराठी या संस्कृत में न लिखकर अंग्रेजी में क्यों लिखा तो उन्होंने उत्तर दिया था कि योरोप के विद्वानों को हिंदू धर्मशास्त्रों के संबंध में जो अनेक भ्रम हैं उन्हें दूर करने के लिए मैंने इन्हें अंग्रेजी में लिखना उचित समझा। धर्मशास्त्र के इतिहास के बारे में एक कारण यह भी बताया कि यदि वह मराठी में छपता तो वर्ष में उसकी दस प्रतियां ही बिकतीं। अंग्रेजी में छपाने से मैं उसकी ५० प्रतियां प्रतिवर्ष बेच लूंगा। यह महाग्रंथ बड़े आकार के ६००० पृष्ठों में है और इसमें हिंदू धर्मशास्त्र अर्थात् 'हिंदू लॉ' का सर्वांगपूर्ण इतिहास है। इसे तैयार करने में उन्हें ३५ वर्ष कठिन परिश्रम करना पड़ा। सैकड़ों स्मृतियों, वेदों तथा धर्मशास्त्र की असंख्य पुस्तकों का अध्ययन

कर, और उन्हें पचाकर उन्होंने जो ग्रंथरत्न तैयार किया है वह भारत का गौरव-ग्रंथ है। उत्तर प्रदेश की हिंदी समिति ने जो कुछ अच्छे और प्रशंसनीय कार्य किये हैं उनमें से एक इस महाग्रंथ के एक विद्वान द्वारा किये गये हिंदी अनुवाद का प्रकाशन है। यह तीन खंडों में प्रकाशित हुआ है और श्री काणे का यह गौरव-ग्रंथ समिति ने हिंदीभाषियों के लिए सुलभ करके उसे आभारी बनाया है। यदि वे केवल एक यही ग्रंथ रचते तो उनकी कीर्ति को अमर करने के लिए यही पर्याप्त था। महाराष्ट्र विद्वानों ने 'धर्मकोश' के नाम से संस्कृत में इस विषय की सामग्री एक स्थान पर बड़ी योग्यता से उपलब्ध कर दी है। जब इसका प्रथम खंड निकला तो हमने उसे मंगाया था और उसे देखकर हम उसके क्षेत्र के विस्तार को देखकर आश्चर्यचकित रह गये थे। इसका संपादन श्री जोशी ने किया है। किंतु उसके संपादक-मंडल में श्रीकाणे भी थे और उसे उनके अगाध ज्ञान का पूरा लाभ मिला था। उनकी अन्य पुस्तकें भी महत्त्वपूर्ण हैं। उन पर लिखने का यहां अवकाश नहीं है। उनके कृतित्व के विस्तार और गहराई का पाठकों को आभास देने के लिए एक स्वतंत्र लेख अपेक्षित है।

श्री काणे भाषाविज्ञान के भी मूर्धन्य विद्वान् थे और वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। आरंभ ही से उनके कृतित्व के लिए उन्हें सम्मान मिलना आरंभ हो गया था। विद्यार्थी जीवन से ही यह क्रम आरंभ हो गया था। संस्कृत की असाधारण योग्यता के लिए उन्हें प्रसिद्ध 'भाऊदाजी' पुरस्कार मिला। एम० ए० में संस्कृत में सर्वाधिक अंक पाने के लिए उन्हें 'जलवेदान्त' पुरस्कार मिला। 'अलंकारशास्त्र के इतिहास' पर उन्हें 'बी० एन०' मांगलिक स्वर्णपदक मिला। बाद में 'महाकाव्यों में वर्णित आर्यों की रीति-नीति' पर यह पुरस्कार उन्हें दुबारा दिया गया। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर बम्बई की सरकार ने उनसे 'महाराष्ट्र का प्राचीन भूगोल' लिखवाया जिसके लिए सरकार से उन्हें उपयुक्त पुरस्कार मिला।

सन् १९४१ में उनकी विद्वत्ता के सम्मान में सरकार ने उन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी दी। बम्बई विश्वविद्यालय ने भी बाद में उन्हें एल-एल० डी० (कानून की डाक्टरी) की सम्मानित उपाधि दी। वकालत छोड़े उन्हें बहुत दिन हो गये थे। इस पर उन्होंने चुटकी लेते हुए कहा था कि 'शिक्षा का स्तर दिनोंदिन गिरता जा रहा है। इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण यह है कि विश्वविद्यालय मुझे कानून के डाक्टर की उपाधि दे रहा है।' हमारी स्वतंत्र भारत सरकार ने इस महान मनीषी को १९५५ में सबसे छोटा अलंकरण 'पद्मश्री' देकर अपनी बुद्धि का परिचय दिया, किंतु बाद में जब इसकी आलोचना हुई तो उस भूल का परिहार उसने १९६३ में उन्हें 'भारतरत्न' का सर्वोच्च अलंकरण देकर किया।

उन्होंने अपनी कृतियों ही से नहीं, अपनी वाग्मिता से भी देश का गौरव

बढ़ाया। वे इस्तम्बोल और कैम्ब्रिज के प्राच्य विद्या सम्मेलनों में भारत के प्रतिनिधि होकर गये जहां एकत्र संसार के प्राच्य विद्याविदों में उनके ज्ञान की धाक जम गयी। वे भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के और अखिल भारतीय इतिहास सम्मेलन के वाल्टेयर अधिवेशन के सभापति चुने गये थे।

'सादा जीवन और उच्च विचार' के वे जीवित उदाहरण थे। वे चौपाटी के जिस फ्लैट में अध्यापक होने की अवस्था में रहते थे उसे उन्होंने बड़े से बड़ा पद पाने पर भी नहीं छोड़ा। बम्बई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर होने पर भी वे उसी में बने रहे। उनका परिधान सादा महाराष्ट्रीय था। स्वभाव से वे मिलनसार, विनोदी और मर्यादा-प्रिय थे। 'विद्या ददाति विनयम्' की मूर्ति थे।

यद्यपि उन्होंने अच्छी आयु पायी, तथापि उनका स्वास्थ्य वर्षों से खराब था। किंतु उनकी जिजीविषा इतनी प्रबल थी कि वे अस्वस्थावस्था की परवाह न करके अध्ययन और शोधकार्य में त्रुटि न होने देते थे। इतने विद्वान होते हुए भी वे जनता के आदमी थे। जनता के समान रहते और उसी के जीवन में भाग लेकर प्रसन्न होते थे—यहां तक कि इतने गंभीर विद्वान होते हुए भी वे अंग्रेजी, मराठी और हिंदी चलचित्र नियमित रूप से देखते थे और उनका प्रातः-भ्रमण कभी बंद न होता था। वे इतने चरित्रवान थे कि उनके सामने किसी को छोटी बात कहने तक का साहस न होता था।

उनके निधन के साथ भारतीय विद्वत्ता की परंपरा की एक मूल्यवान कड़ी टूट गयी। उनके स्थान की पूर्ति होना असंभव है, किंतु वे अपनी महान कृतियों में सदैव अमर रहेंगे, और जब तक संसार—विशेषकर भारत में—प्राच्य विद्या का आदर है तब तक इस सरल किंतु अत्यंत गंभीर विद्वान् और मौलिक चिंतक का नाम और कार्य भुलाया नहीं जा सकेगा। वह दीपस्तंभ की तरह भावी पीढ़ी का मार्गदर्शन करता रहेगा।
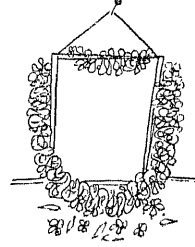
(राजर्षि) पुरुषोत्तमदास टण्डन

राजर्षि संत थे। संत मरते नहीं। वे शरीर त्यागते हैं। मीरां के शब्दों में, उन्हें छटपटाहट रहती है कि "पिया मिलन कैसे जाऊं, गली तौ चारों बंद भई !" और जब वह चिर प्रतीक्षित समय आता है तब कबीर की तरह वे "ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया" की उक्ति चरितार्थ कर देते हैं। वे पृथ्वी छोड़कर, शरीर त्यागकर, अपने वास्तविक गृह को प्रयाण करते हैं—हर्ष से, प्रसन्नता से। इसी को लक्ष्य कर एक तत्त्वदर्शी ने कहा है, "संत मरे कहा रोइए जो अपने गृह को जाय ?" इसीलिए उनकी अंतिम यात्रा फूलमालाओं से सुसज्जित विमान में होती है। वह शंख,घंटों और कीर्तन की ध्वनि से मुखरित हो उठती है। वह हम संसारी जीवों की मृत्यु की तरह रोने-धोने का अवसर नहीं। वह ज्योति का ज्योति में मिलन है।

राजर्षि संत थे। जो लोग उनके निकट संपर्क में आने का सुयोग पाते थे, उनमें यदि दृष्टि होती, तो वे जान लेते थे कि हमें एक महान् संत का सान्निध्य प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। वैसे भी राजर्षि की आध्यात्मिक साधना कम नहीं थी। वे स्वामी बाग के गुरु (महंत) होते-होते रह गये।

राजर्षि संत थे। इसीलिए वे राजनीति में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त थे। वे राजनीति रूपी गंदे तालाब में कमल के समान थे जिस पर उसके गंदे पानी के छींटे न तो ठहर ही सकते हैं और न उसे मैला ही कर सकते हैं। संत का एक गुण त्याग भी होता है। उनका जीवन आरंभ से अंत तक त्याग की सुंदर और मन-मोहक कविता थी, सार्वजनिक जीवन में उन्होंने सिद्धांत और देशहित के लिए कांग्रेस के अध्यक्ष पद तक का त्याग कर दिया था। उन्होंने जिस पारिवारिक परिस्थिति में अपनी चलती हुई वकालत छोड़ी थी, वह सर्वविदित है। किंतु नित्य के निजी जीवन में भी उनके त्याग के उदाहरण कम नहीं हैं।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन संत अवश्य थे, पर हम हिंदीवालों के लिए वे हमारे 'बाबूजी' थे। उनके लिए सारा हिंदी-भाषी संसार एक परिवार था जिसके वे सर्वमान्य वयोवृद्ध 'पुरखा' थे। हिंदी का प्रेम उनमें नैसर्गिक था, किंतु उनके गुरु पं० बालकृष्ण भट्ट और राजनीतिक आदर्श महामना मालवीयजी से वह प्रेम पुष्ट हुआ। उन्होंने प्राचीन काल के ऋषियों की तरह देखा कि भारत की एकता के लिए उसे लोकवाणी मिलनी चाहिए और वह लोकवाणी हिंदी ही हो सकती है। शायद इस बात को कुछ और लोगों ने भी समझा, किंतु बाबूजी का समझना उनकी तरह नहीं था। क्षणिक करुणा हम सबमें आती है, किंतु हमारी करुणा बंध्या होती है। गौतम बुद्ध की करुणा ने संसार को बदल दिया। उसी प्रकार जब बाबूजी ने हिंदी को भारत की लोकवाणी समझा तो वे उसके लिए सारे जीवन सतत परिश्रम करते रहे। उन्होंने इस देश में भाषा की वह चेतना उत्पन्न की जिसका दूसरा उदाहरण उपलब्ध नहीं है, और उनकी अनवरत तपस्या और व्रत की पूर्ति संविधान सभा में उस दिन हुई जिस दिन वह उसके द्वारा सारे भारत की एकमात्र राजभाषा स्वीकृत कर ली गयी।

हिंदी साहित्य-सम्मेलन उनकी हिंदी-साधना का मूर्त रूप था। हमें याद है कि महाजनी टोले की एक कोठरी में उसका पहला कार्यालय था। बाद में क्रास्थ-वेट रोड पर थोड़ी-सी जमीन लेकर कच्चा-पक्का खपरैल का भवन बनाया गया, और अंत में वर्तमान विशाल भवन बना। किंतु सम्मेलन केवल ईंट-चूने का भवन नहीं था। वह प्राणवान संस्था थी। उसकी आवाज सारे हिंदी संसार की आवाज थी। इस एक संस्था ने हिंदी-प्रचार का जो काम किया उसका एक अंश भी स्वतंत्र भारत की केंद्रीय और राज्य सरकारें सर्वशक्तिमान होते हुए भी तथा प्रचुर धन व्यय करके भी नहीं कर पायीं। इसका कारण बाबूजी का संकल्प था। कुछ लोग बहुधा यह शिकायत किया करते थे कि बाबूजी को सम्मेलन से बड़ा मोह है। किंतु वे भूल जाते थे कि सम्मेलन बाबूजी का मानस पुत्र था। वह उनके हिंदी संकल्प का मूर्त रूप था। वह उनकी उस हिंदी-सेवा का सर्वोत्कृष्ट साधन था जो उनके जीवन की श्वास-प्रश्वास बन गयी थी।

महात्माजी ने भारत को स्वतंत्रता दिलवायी, किंतु बाबूजी ने भारतमाता को वाणी दी। महात्माजी का हिंदी की ओर प्रेरित करने का श्रेय बाबूजी ही को था। उन्होंने अपने कार्यक्रम में हिंदी को बड़ी ऊंची प्राथमिकता दी। किंतु जब राजनीतिक कारणों से महात्मा जी ने हिंदी के रूप का परिवर्तन करके उसे हिंदुस्तानी बनाना चाहा तो बाबूजी भाषा के क्षेत्र में उनसे अलग हो गये। वे जिस बात से हिंदी का अहित समझते थे उस पर महात्माजी से भी समझौता करने को तैयार न थे। और इतिहास का व्यंग्य यह हुआ कि संविधान सभा ने बाबूजी द्वारा प्रतिपादित हिंदी को स्वीकार किया। यह इतिहास का दूसरा व्यंग्य

था कि जिस दिल्ली में खत्री वंश के राजा टोडरमल ने भारत की 'सल्तनत' के राजाभाषा-पद पर से हिंदी को हटाकर एक विदेशी भाषा (फारसी) को उस पद पर प्रतिष्ठित किया था, उसी दिल्ली में एक दूसरे खत्री की प्रेरणा और प्रयत्न से स्वतंत्र भारत के राजभाषा-पद पर हिंदी को फिर से प्रतिष्ठापित किया गया।

भारतेन्दु, स्वामी दयानंद, राजा शिवप्रसाद, भूदेव मुकर्जी, महामना मालवीयजी, राजा रामपालसिंह आदि कितने ही हिंदी के उन्नायक हुए जिनका पुण्य स्मरण हिंदी-भाषी सदैव करते रहेंगे, किंतु हिंदी के उन्नयन में जो दीर्घ-कालीन एकनिष्ठा राजर्षि ने दिखलायी, वह भारत ही नहीं सारे संसार के भाषा-उन्नायकों में अनूठी है। उसके जोड़ का उदाहरण हमें नहीं मिलता।

बाबूजी भारतीयता के प्रतीक थे। उनमें भारतीय आदर्शों के प्रति अत्यंत आदर था। गो-सेवा में उनका अगाध विश्वास था। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि चमड़े के लिए गउएं मारी जाती हैं तो उन्होंने (प्रायः साठ साल पहले) चमड़े का उपयोग बंद कर दिया था। उसके बाद से उन्होंने कभी चमड़े का जूता नहीं पहना। जब देश में जावा की दानेदार चीनी का बहिष्कार हुआ तब उन्होंने चीनी खाना छोड़ दिया और सिवाय गुड़ के वे सफेद चीनी नहीं खाते थे। मुसलमानों से उन्हें बड़ा स्नेह था। स्वयं फारसी पढ़ी थी और जब कभी मौज में आते तब फारसी की कविता—विशेषकर सूफी कविता—सुनाया करते थे। किंतु वे हिंदू-मुस्लिम समस्या को समझते थे और मुस्लिम-तुष्टीकरण के विरुद्ध थे। इस कारण कभी-कभी कुछ कांग्रेसी भी उन्हें 'सांप्रदायिक' कह देने का दुःसाहस कर बैठते थे। आधुनिक होते हुए भी वे पश्चिम के अंधभक्त नहीं थे। अपने देश के लिए उपयोगी पाश्चात्य बातों को वे सहर्ष स्वीकार कर लेते थे, किंतु जिन पाश्चात्य बातों से भारतीय आदर्शों को हानि की संभावना हो उन्हें स्वीकार करने को तैयार न थे। जिस प्रकार वे लखनऊ को 'इस्फ़हान की गलियां' बनाने के विरोधी थे, उसी प्रकार वे भारत को अमरीका, इंग्लैंड या रूस की अनुकृति बनाने के भी विरुद्ध थे।

जनता ने उन्हें राजर्षि की उपाधि दी थी। उनमें ऋषियों के कितने ही गुण थे—त्याग, तपस्या, निर्लिप्तता, अपरिग्रह, सत्य और ईश्वर में अविचल निष्ठा। और शायद इसीलिए उनकी दृष्टि में इतनी निर्मलता थी। वे द्रष्टा थे। विभाजन का विरोध करते समय उन्होंने जो ऐतिहासिक भाषण दिया, उसके सुननेवालों का कहना है कि ऐसा मालूम होता था कि वे प्रेरित होकर बोल रहे हैं। उस भाषण का इतना प्रभाव हुआ कि यदि महात्माजी को बुलाकर उनका व्यक्तिगत जोर न डलवाया जाता तो विभाजन का प्रस्ताव सभा में स्वीकार न हो पाता। इसी प्रकार, जब हमारी सरकार ने चीन से मैत्री की दुराशा में तिब्बत को उसके भाग्य

पर छोड़ दिया, उस समय भी उनकी वक्तृता किसी भविष्यदर्शी की भविष्यवाणी मालूम होती थी। संविधान सभा में हिंदी को राजभाषा स्वीकार करते समय उन्होंने जो भाषण दिया था वह तो पीढ़ियों तक हिंदी-संसार को अनुप्राणित करता रहेगा।

वे राजनीति में आ गये थे जो उनका वास्तविक क्षेत्र न था। वह उस समय पराधीन देश के प्रत्येक कर्तव्यनिष्ठ नागरिक का कर्तव्य था। किंतु उनका मन उसमें रम नहीं सकता था। वे अनीति, असत्य और अन्याय के साथ समझौता नहीं कर सकते थे, और राजनीति में प्रधानता 'नीति' (पालिसी) की होती है न कि नैतिकता की। उन्होंने भाषा, समाज-सुधार, धर्म, राजनीति और सर्वोदय आदि अनेक क्षेत्रों में सारे जीवन काम किया। राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ अपने देशवासियों के चरित्र का भी उनका ज्ञान विशाल था। एक बार उन्होंने हमसे कहा था, "भारत की राजनीतिक और आर्थिक समस्याएं बड़ी होते हुए भी अपेक्षाकृत सरल हैं। वे कोई समस्याएं नहीं हैं। देश की वास्तविक समस्या तो नैतिक है, और जब तक वह हल नहीं होती तब तक और समस्याएं उलझती ही जायेंगी।"

बहुत से लोग राजर्षि को स्वप्नद्रष्टा और अव्यावहारिक व्यक्ति समझते थे। किंतु वे उत्तर प्रदेश की विधान सभा के प्रथम अध्यक्ष चुने गये। जिस योग्यता, निर्भीकता, निष्पक्षता तथा व्यवहार-कुशलता से उन्होंने उसकी अध्यक्षता की, उसकी प्रशंसा उनके विरोधियों ने भी की। लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित लोकसेवा-मंडल के वे अध्यक्ष थे और उसमें भी उन्हें प्रशासनिक कार्य करना पड़ता था। विभाजन के बाद उसका संचालन और भी कठिन हो गया था क्योंकि पाकिस्तान में उसकी प्राय: सारी संपत्ति रह गयी थी और उसका सारा कार्य छिन्न-भिन्न हो गया था। किंतु राजर्षि ने अपनी प्रशासनिक योग्यता का परिचय देकर उसको सफलतापूर्वक फिर अपने पैरों पर खड़ा कर दिया।

राजर्षि ने हिंदी के लिए जो कुछ किया उसे यहां बतलाने की आवश्यकता नहीं है। उनकी सेवाएं और उनके कार्य कृतज्ञ हिंदी-भाषियों के हृदय-पटल पर अमिट रूप से अंकित हैं। उन्होंने निद्रित हिंदी-भाषियों में हिंदी-चेतना उत्पन्न की, उन्होंने सैकड़ों युवकों को हिंदी की सेवा करने के लिए अनुप्राणित किया, उन्होंने संघर्ष किये। हिंदी को भारत की राजभाषा बनाने और उसे असंख्य अहिंदी-भाषियों की सहानुभूति दिलाने में उनका कार्य महान् ऐतिहासिक महत्त्व का है। उसे अभी तक किसी ने लिपिबद्ध नहीं किया। जब वह लिपिबद्ध होगा तब देशवासियों को मालूम होगा कि राजर्षि ने हिंदी के लिए कितनी तपस्या और कितना संघर्ष किया था। उनका हिंदी-प्रेम भावनात्मक न था। वह दृढ़ बौद्धिक नींव पर आधारित था, किंतु उनका अटल विश्वास था कि भारत को

एक करने और उसे अपना स्वरूप पहचानने में सहायता देने के लिए देश में एक भारतीय भाषा की आवश्यकता है, और वह भाषा हिंदी ही हो सकती है।

राजर्षि को हम 'बाबूजी' के नाम से जानते थे। वे हमारे स्वर्गीय पिताजी के मित्रों में थे, और हमारे बचपन में उनका हमारे यहां, और हमारे पिताजी का उनके यहां, आना-जाना बहुधा होता था। बचपन से लेकर अब तक हमें उनके वात्सल्य-भाजन होने का गौरव और सौभाग्य रहा। वे हमारे पितृव्य के समान थे। जब हिंदी विद्यापीठ की स्थापना हुई और जानसेनगंज में उसकी कक्षाएं लगने लगीं तो उन्हीं के आग्रह और आदेश से हमने उसमें एक-दो वर्ष प्रथमा और विशारद की कक्षाओं में इतिहास का अध्यापन भी किया। हिंदी के संस्कार रहते हुए भी हमने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में बहुत दिनों कोई सक्रिय भाग नहीं लिया था। बाद में इसका एक कारण यह भी था कि हम सरकारी नौकरी में फंस गये थे। किंतु १९३८ में उन्होंने हमें बुलाकर उसमें सक्रिय भाग लेने का आदेश दिया। उनका आदेश था कि "दृढ़ता से, किंतु विनम्रतापूर्वक, हिंदी की सेवा करो, और जो कुछ कहो वह नाप-तौल कर।" हमें खेद है कि न हममें बाबू जी द्वारा अपेक्षित दृढ़ता है और न विनम्रता, और शायद नाप-तौल का उनका मानदंड हमारे लिए दुष्कर है। आज हमारी तरह कितने ही हिंदी-कार्यकर्ता उनसे अनुप्राणित होकर हिंदी की सेवा कर रहे हैं। यदि हम उनके उपदेशों का शतांश भी पालन कर सके तो हम अपने जीवन को कृतार्थ समझेंगे।

राजर्षि का निधन देश के लिए और विशेषकर हिंदी के लिए एक युगांतकारी घटना है। उनके साथ हिंदी-उन्नायकों के उस महान् युग की समाप्ति होती है जिसको राजर्षि ने अपना सर्वस्व देकर सबल और सफल किया। भविष्य के हिंदी-कार्यकर्ता उनके जीवन-आदर्शों, उनके कार्य और उनकी दृढ़ता से सदैव प्रेरणा लेते रहेंगे। इस अर्थ में वे अमर हैं। अपने पितृव्य और हिंदी के भीष्म, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के इस नश्वर-संसार से विदा होने पर हम श्रद्धानत होकर उनका विनम्र अभिवादन करते हैं। जिस प्रकार भीष्म पितामह का श्राद्ध आज भी प्रत्येक हिंदू करता है, उसी प्रकार प्रत्येक हिंदी-प्रेमी अनंत काल तक हिंदी की सेवा करके उनका 'श्राद्ध' करता रहे, यही हमारी कामना है। राजर्षि का यशः-शरीर अमर है। जब तक हिंदी जीवित है तब तक राजर्षि अमर हैं।

(श्री) बर्ट्रेण्ड रसल

अप्रैल १९७० को संसार-प्रसिद्ध गणितज्ञ, दार्शनिक, मानवतावादी और अंत-र्राष्ट्रीयता के प्रचारक तथा साहित्य के नोबुल पुरस्कार-विजेता श्री बर्ट्रेण्ड रसल की ९८ वर्ष की परिपक्व आयु में परलोक सिधारे। वे इंग्लैंड के एक अत्यंत संभ्रांत परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके पितामह लार्ड जॉन रसल अपने समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और ब्रिटेन के मंत्रिमंडल के सदस्य थे। उनकी शिक्षा कैंब्रिज विश्व-विद्यालय में हुई थी और वहाँ उन्होंने उच्च गणित का विशेष अध्ययन करके एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपने अध्यापक प्रोफेसर ह्वाइटहैड के सहयोग से इस संबंध में एक पुस्तक 'प्रिंसिपिया मैथिमेटिका' प्रकाशित की जिसने उन्हें गणित शास्त्र के विद्वानों में प्रसिद्ध कर दिया। किंतु उस समय भी उनके विचार उदार और स्वतंत्र थे। वे अपने विचारों पर कितने दृढ़ थे यह उस समय मालूम हुआ जब प्रथम महायुद्ध के समय उन्होंने उस युद्ध को अनुचित बतलाकर लड़ने से इनकार कर दिया और युद्ध का विरोध किया। इस विरोध के लिए उन्हें कारागार का दंड दिया गया। इस प्रकार आधुनिक काल में वे पहले अंतःपरायण आपत्तिकर्ता (कॉन्शेंसस ऑबजेक्टर) थे जिन्होंने अंतरात्मा की आवाज के विरुद्ध अनुचित युद्ध में भाग लेने से इनकार करके जेल जाना पसंद किया। जेल से छूटने पर वे विविध विषयों पर पुस्तकें लिखने लगे। उनके लेखन का क्षेत्र बड़ा विस्तृत था। दर्शन, विज्ञान, भाषा, तकनीकी विषयों का उन्होंने अध्ययन किया तथा नयी दृष्टि से उन पर पुस्तकें लिखीं और लेख प्रकाशित किये। उनकी शैली इतनी प्रभावशाली थी तथा उनकी भाषा इतनी हृदयग्राही थी कि लेखक और विचारक के रूप में उनकी ख्याति फैल गयी। वे न्यूयार्क के एक कालेज में अध्यापक हो गये किंतु उनके अति 'प्रगतिशील' विचारों के कारण उनका विरोध होने लगा। स्त्री-पुरुषों के यौन संबंधों के बारे में उनके आचरण

और विचार समाज की मान्यताओं के विरुद्ध थे, इसलिए उन पर मुकदमा चलाया गया। न्यायालय ने उन्हें अध्यापक के पद के लिए अयोग्य घोषित कर दिया। इसके कुछ दिनों बाद ही द्वितीय महायुद्ध आरंभ हो गया। वे उस युद्ध को 'उचित' समझते थे, और उसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार का समर्थन किया। इस बीच वे अपनी अंतर्राष्ट्रीयता तथा उदार विचारों के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें नार्वे की सरकार को अपने पक्ष में करने के लिए उस देश में भेजा। जिस विमान से वे यात्रा कर रहे थे वह नार्वे के तट के पास समुद्र में गिर पड़ा। वे बाल-बाल बचे। सिगरेट पीने के वे अभ्यस्त थे। उन्होंने विमान की परिचारिका से कहा कि "यदि मैं सिगरेट नहीं पिऊंगा तो मर जाऊंगा," इस पर उसने उन्हें विमान के पिछले भाग में—इंजन से दूर—बैठा दिया जहां वे सिगरेट पी सकते थे। जब विमान समुद्र में गिरा तो आगे बैठे हुए व्यक्ति डूब गये, किंतु पीछे बैठे रहने के कारण वे नहीं डूबे और किसी प्रकार खिड़की से निकलकर समुद्र में तैरने लगे तथा बचा लिये गये। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है, "मैं बराबर सोचा करता था कि मैं मृत्यु का सामना किस प्रकार करूंगा। मैं समझता था कि उस समय कोई बड़ी कड़ी बात कहूंगा, किंतु वास्तव में दुर्घटना के समय मेरे मुंह से केवल 'अरे ! अरे !' (hell, hell) ही निकला।"

यद्यपि वे उच्च श्रेणी के गणितज्ञ और संसार-प्रसिद्ध दार्शनिक थे, तथापि उन्हें नोबुल पुरस्कार इन विषयों के लिए नहीं बल्कि साहित्य के लिए मिला। इसका कारण उनकी प्रभावशाली शैली और अभिव्यक्ति है। अपने जीवन के अंतिम भाग में उनकी अंतर्राष्ट्रीयता ने निखरकर उन्हें महान् मानवतावादी बना दिया था। वे आणविक अस्त्रों के घोर विरोधी थे। उन्होंने अपनी सरकार (ब्रिटेन) से बराबर आग्रह किया कि चाहे अन्य राष्ट्र उनका उपयोग बंद करें या न करें, वह उसे बंद कर दे। वे राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण के भी प्रचारक और समर्थक थे। भारत के स्वतंत्रता-संघर्ष में उनकी सहानुभूति बराबर इस देश के साथ रही। अमरीका की नीग्रो और अफ्रीका की दलित जनता से उन्हें बराबर सहानुभूति रही। वियतनाम युद्ध के लिए वे अमरीका का कड़ा विरोध करते रहे, और द्वितीय युद्ध के बाद के न्यूरेनबर्ग में नाजी नेताओं पर 'युद्धकालीन अपराधों' के लिए जिस प्रकार मुकदमा चलाया गया था, उसी प्रकार उन्होंने अमरीका के नेताओं और सैनिकों के विरुद्ध वियतनाम युद्ध में किये उनके तथाकथित अपराधों के लिए मुकदमे का गैर-सरकारी आयोजन किया था। उनके कई विचारों और मान्यताओं से बहुत से लोग सहमत न थे, किंतु उनकी महानता और सदाशयता में किसी को संदेह नहीं था। विज्ञान, साहित्य, दर्शन, इतिहास और साहित्य में एकसाथ इतनी ख्याति इस युग के किसी व्यक्ति ने प्राप्त नहीं की। वे वास्तविक अर्थ में 'संसार के नागरिक' थे।
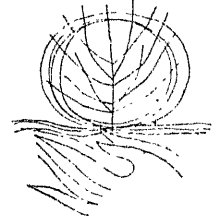
(पंडित) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

अप्रैल '६० की सरस्वती ये पृष्ठ छपने जा ही रहे थे कि एकाएक समाचार मिला कि २९ अप्रैल को दिल्ली में नवीनजी का स्वर्गवास हो गया ! हिंदी संसार पर यह अनभ्र वज्रपात था और उस समय इस चोट से हम इतने स्तब्ध हो गये हैं कि नवीनजी के संबंध में तत्काल कुछ लिखना हमारे लिए असंभव था। क्रांति, सहृदयता, कवित्व, साहस, निष्ठा, तेजस्विता, मानवता, मस्ती और वाग्मिता का समूह एक आकर्षक मर्दाने शरीर में एकत्र हो गया था—और उसे हम 'नवीन' के नाम से जानते थे। पराधीन युग का यह दुःखद परिणाम था कि लोकमान्य तिलक ऐसे मेधावी विद्वान् को, जिन्हें ईश्वर ने अध्ययन और शोध के लिए बनाया था, राजनीति के जंजाल में फंसना पड़ा। उसी प्रकार नवीनजी को प्रकृत-कवि और जन्मजात साहित्यिक होते हुए, राजनीति के संघर्षमय अखाड़े में उतरना पड़ा। काव्य की जो प्रतिभा नवीनजी में थी, उसके जोड़ की प्रतिभा हमारे सीमित अनुभव में एक ही दो व्यतियों में और देखने को मिली। किंतु कवि से भी अधिक तेजस्वी और आकर्षक उनकी सहृदयता और मानवता थी। दूसरों के दुःख से कातर हो उठनेवाले व्यक्ति जीवन में हमें नवीनजी ही मिले। उनका राजनीतिक जीवन उत्तरप्रदेश, विशेषकर कानपुर के राजनीतिक जीवन का इतिहास है। मध्यभारत (मालवा के) शाजापुर नगर में उन्होंने जन्म लिया, किंतु कानपुर को उन्होंने अपनाया और कानपुर ने भी सभी प्रकार से उन्हें अपना लिया। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर ही वे कानपुर आये थे। गणेशजी को उन्होंने अपने ज्येष्ठ सहोदर के समान माना, और आजीवन उस भ्रातृत्व का निर्वाह किया। उनके समान उदात्त काव्य पढ़नेवाला व्यक्ति क्या अब मिलेगा ? उनकी वाणी का ओज और माधुर्य क्या कभी भूला जा सकता है ? आकाशवाणी ने उनके कई काव्यपाठों के टेपरेकार्ड लिये थे। यदि वे उपलब्ध हों

तो उनके पक्के (स्थायी) रेकार्ड बनवा लेने चाहिए जिससे भावी पीढ़ियों को हिंदी के इस तेजस्वी और मस्त कवि की वाणी सुनने को मिल सके। उस समय हम उनके विषय में कुछ अधिक लिखने में असमर्थ रहे। मई '६० के अंक में हमने उनके संबंध में पं० वेंकटेशनारायण तिवारी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी और श्री भगवतीचरण वर्मा के लेख प्रकाशित किये थे और उनकी कुछ कविताएं भी प्रकाशित की थीं। एक बार हमने उनसे अपनी कुछ पुरानी कविताएं सुनाने को कहा था। वे बोले, "अरे! पुरानी कविताएं क्या सुनायें, वे तो पुरानी पड़ गयीं। नयी कविताएं सुनो।" हमने उनसे कहा था :

मुझे तुम्हारे गान पुराने
अब भी लगते हैं मस्ताने,
कम्पित कर देते वे गाने,
वयशील मदिरा की उनमें झार,
उन्हें क्य. भूल सकेंगे ?

वर्ण-विन्यास, माधुर्य, भाव और सौंदर्य की दृष्टि से उनकी कविताएं बेजोड़ हैं। वे हिंदी की अपूर्व निधि हैं। इस समय हमें यह सोचकर दुःख होता है कि जब हिंदी संसार की ओर से उन्हें सम्मानित करने का समय आया तब कुछ भले आदमियों की कृपा से साहित्य सम्मेलन समाप्तप्राय हो गया। न हिंदी संसार उन्हें साहित्य सम्मेलन का सभापति बना पाया, और न 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से ही उन्हें सम्मानित कर सका। किंतु जब तक हिंदी पाठकों में सरस और ओजस्वी कविता के प्रति प्रेम रहेगा, नवीनजी का यशःशरीर जीवित रहेगा। संतोष इतना ही है कि भारत सरकार ने कुछ महीने पहले 'पद्मभूषण' देकर—विलंब से ही सही—उनका सम्मान कर अपने कर्तव्य का पालन कर दिया था। किंतु उनका वास्तविक सम्मान इस बात में है कि वे सहृदय हिंदी-प्रेमियों के हृदयों में प्रतिष्ठित हैं। हम उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी विनम्र समवेदना प्रकट करते हैं।
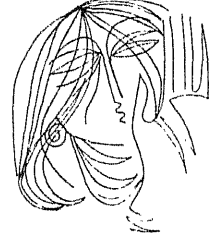
(पंडित) माखनलाल चतुर्वेदी

लंबी बीमारी के बाद ३० जनवरी, १९६८ को खंडवा में हिंदी संसार के प्रसिद्ध 'एक भारतीय आत्मा' का स्वर्गवास हो गया। उनके साथ हिंदी काव्य की राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करनेवाली पीढ़ी प्रायः समाप्त हो गयी। श्री मैथिलीशरणजी और नवीनजी पहले ही चले गये। उस पीढ़ी के पं० माखनलालजी और सनेहीजी बच रहे थे। सनेहीजी ८४ वर्ष के थे। माखनलालजी ८० वर्ष की आयु पाकर ही हमें छोड़ गये। हिंदी में पंतजी और माखनलालजी बड़े सुकुमार कवि माने जाते रहे हैं। अपनी सुकुमारता के बावजूद माखनलालजी बराबर अपने बिगड़े हुए स्वास्थ्य और अनेक रोगों से संघर्ष करते रहे। हमारी अंतिम भेंट उनसे उनके उस अभिनंदन में हुई थी जिसमें मध्यप्रदेश की सरकार ने उनका सार्वजनिक सम्मान किया था। उस अवसर पर ही उनका स्वास्थ्य बहुत गिरा हुआ था, किंतु यह देखकर संतोष भी हुआ था कि शरीर के अत्यंत जर्जर हो जाने पर भी उनका मस्तिष्क प्रकृतिस्थ था। हमसे वे जब भी मिलते थे तब चुहल की कुछ बातें करते थे। उस अवसर पर भी उन्होंने वह क्रम जारी रखा। मृत्यु से कुछ ही सप्ताह पहले भी वे इतने सजग और सचेत थे कि उन्होंने भारत सरकार के भाषा-विधेयक के विरोध में 'पद्मभूषण' अलंकार लौटाने का निश्चय घोषित किया था।

पं० माखनलालजी की राष्ट्रीय भावना केवल काव्य तक सीमित नहीं थी। वे सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेते रहे और असहयोग आंदोलन में कई बार जेल भी गये। वे उन चारणों के समान थे जो कविता भी करते थे और रणभूमि में तलवार भी चलाते थे। मध्यप्रदेश की राजनीति में बहुत दिनों उनका प्रमुख स्थान रहा। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि पं० माधवराव सप्रे, पं० रविशंकर शुक्ल, श्री राघवेन्द्रराव के समान उन्हें भी मध्यप्रदेश में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने तथा वहां शक्तिशाली राजनीतिक वातावरण बनाने का श्रेय था।

उनकी सत्तरवीं वर्षगांठ पर खंडवा के नागरिकों ने उनका अभिनंदन किया था। उसमें अध्यक्षता के लिए हमें निमंत्रित किया गया था। उस अवसर पर उन्होंने हमें अपने राजनीतिक जीवन के आरंभिक काल की बहुत-सी बातें बतायी थीं। हमें उनसे यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि युवावस्था में भावुक और सुकुमार माखनलालजी क्रांतिकारी दल में विधिवत् सम्मिलित हो गये थे और उन्होंने काशी में गंगाजी को साक्षी कर क्रांतिकारियों के सभी कर्त्तव्य करने की शपथ ली थी। बाद में वे महात्माजी के जादू से प्रभावित होकर अहिंसक आंदोलन में सम्मिलित हो गये, किंतु अपनी शपथ को भंग करने का उन्हें बड़ा अनुताप था।

वे प्रकृत कवि थे। उनके काव्य में कोमलता और कठोरता का अनोखा सम्मिश्रण है। इसी प्रकार एक ओर उनकी 'फूल की चाह' नामक कविता सामान्य जनता में अत्यंत लोकप्रिय हुई तो दूसरी ओर ऐसी कविताएं भी हैं जिनका आनंद केवल विदग्ध साहित्यिक ही ले सकते हैं। उनकी चिंतन-प्रणाली ही काव्यमय थी। इसीलिए उनके गद्य में भी काव्य का आनंद मिलता है। 'साहित्य देवता' हिंदी का श्रेष्ठतम विचारोत्तेजक गद्य-काव्यमय निबंधों का संग्रह है। उनके संस्मरणात्मक निबंधों में अनोखी रोचकता है। उनके कोई-कोई निबंध (जैसे, सरस्वती में प्रकाशित 'सुभाष मानव, सुभाष महामानव') हिंदी गद्य की शक्ति के अप्रतिम उदाहरण हैं। कवि और लेखक होने के अतिरिक्त वे हिंदी में अपने समय के बड़े प्रभावशाली वक्ता भी थे। उनके भाषणों को सुनने से काव्य का आनंद मिलता था।

पं० माधवराव सप्रे को वे अपना गुरु मानते थे। सप्रेजी के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। देश-सेवा और हिंदी-सेवा—दोनों ही की प्रेरणा उन्हें सप्रेजी ही से मिली थी।

उनकी शिक्षा केवल हिंदी में हुई थी और उनका प्रौढ़ जीवन गांवों के प्राइमरी स्कूल की अध्यापिका से आरंभ हुआ था। वे कई वर्ष अध्यापक रहे, किंतु राजनीति के प्रेम और देश-सेवा के उत्साह ने उन्हें सार्वजनिक जीवन में आने को प्रेरित किया। जबलपुर और खंडवा उनके कार्यक्षेत्र रहे। किंतु वे जबलपुर अधिक दिन न रहे। उनका मुख्य कार्यक्षेत्र खंडवा ही रहा।

उनकी साहित्य-सेवा बहुमुखी थी। वे कवि तो थे ही, निबंधकार, नाटककार और पत्रकार भी थे। उनका नाटक 'कृष्णार्जुन-युद्ध' बड़ा प्रेरक और एक समय बड़ा लोकप्रिय था। वे 'प्रभा' और 'प्रताप' के संपादकीय विभागों में रहे और 'कर्मवीर' का तो उन्होंने बीसों वर्ष संपादन किया।

किंतु उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनका तरुण पीढ़ी के प्रति अनुराग था। वे हृदय से स्वयं सदैव तरुण रहे। यही कारण है कि तरुणों के क्रियाकलापों, उनकी आकांक्षाओं और उनके संघर्षों में वे सदा रुचि लेते रहे। मध्यप्रदेश और

मालवा की तरुण पीढ़ी उनसे जितनी प्रभावित हुई उतनी और किसी से नहीं। उनकी प्रेरणा से कितने ही नवयुवक राजनीति या साहित्य के क्षेत्र में आये।

वे उन साहित्यकारों में थे जो सर्वप्रिय ही नहीं, सभी वर्गों से समान रूप से समादृत थे। भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' के अलंकार से अलंकृत किया था। सागर विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डॉक्टर' की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया था। हिंदी साहित्य-सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्य-वाचस्पति' की सर्वोच्च साहित्यिक उपाधि से सम्मानित किया था। हिंदी संसार ने उन्हें हिंदी साहित्य-सम्मेलन के हरिद्वार अधिवेशन का सभापति निर्वाचित किया था। साहित्य अकादमी ने जब साहित्यिक पुरस्कार स्थापित किये तो हिंदी का पहला पुरस्कार उनके काव्य-संग्रह 'हिमकिरीटिनी' को दिया था। मध्यप्रदेश सरकार ने एक विशेष समारोह में उनका सम्मान किया था जिसकी अध्यक्षता वहां के राज्यपाल ने की थी। उसमें उन्हें सरकार की ओर से दस हजार की थैली और पांच सौ रुपये आजीवन की मासिक वृत्ति दी थी। साहित्य-सम्मेलन के वे ही एकमात्र सभापति थे जिनका स्वागत समिति द्वारा चांदी से तुलादान कराया गया था। हिंदी में ऐसा राजकीय सम्मान और किसी कवि या लेखक का नहीं हुआ। केवल विश्वविद्यालयों में उनके साहित्य को मान्यता नहीं मिली।

इधर प्रायः पांच वर्षों से वे बहुत बीमार थे और अत्यंत दुर्बल हो गये थे। उनका लिखना-पढ़ना बंद हो गया था, फिर भी वे सार्वजनिक प्रश्नों में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। भाषा-विधेयक से उन्हें बहुत मानसिक दुःख हुआ था। इसीलिए उन्होंने पद्मभूषण का सम्मान छोड़ दिया था।

वे लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे किंतु बाद में महात्माजी के भक्त हो गये और उन्हीं के नेतृत्व में उनका अधिकांश राजनीतिक जीवन बीता। यह अनोखा संयोग था कि महात्माजी की पुण्यतिथि को ही उनका स्वर्गवास हुआ।

हमारे वे बड़े सुहृद थे। इसलिए उनके स्वर्गवास से हमें एक प्रिय आत्मीय के बिछुड़ जाने का दुःख है। हिंदी-संसार ने अपना एक मूर्धन्य साहित्यकार खो दिया। हिंदी की तरुण पीढ़ी ने एक सहानुभूतिपूर्ण शुभचिंतक एवं मार्ग-दर्शक खो दिया। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति असंभव है।

(श्री) मामा वरेरकर

हमने अत्यंत दु:ख के साथ २३ सितम्बर, १९६४ को नयी दिल्ली में मराठी के प्रख्यात साहित्यकार मामा वरेरकर के स्वर्गवास का समाचार दिया था। मृत्यु के समय उनकी अवस्था ८१ वर्ष की थी, किंतु अंत तक उनका जीवन कर्मठ और उत्साहमय बना रहा। उन पर ८१ शरदों का प्रभाव नहीं के बराबर था।

मामा वरेरकर भारतीय साहित्य-जगत् के उन विशिष्ट, वरिष्ठ और मान्य व्यक्तियों में थे जो सर्वसाधारण के प्रति संवेदनशील, नवोदितों के प्रति उदार, उपेक्षितों के स्नेहशील-सहायक और संरक्षक थे। भारती साहित्य के विशाल क्षेत्र के अनुरूप उनकी दृष्टि भी विशाल थी। वह अंतर्भारती के उन्नायक थे। भारतीय साहित्य के बीच अंतर्देशीय पारस्परिक आदान-प्रदान के कार्य में वे सदा आगे रहे। विभिन्न प्रदेशों और क्षेत्रों में वर्द्धमान विकासशील भारतीय साहित्य को वे अपना निजी संसार मानते थे। सब भाषाओं के साहित्यिक उनके अपने जन थे। सबकी समस्याओं और प्रश्नों को, उनके सुख और दुखों को वे अपना समझते थे। हर एक भारतीय साहित्यिक उनका अपना था। साहित्यिकों के मान-सम्मान और प्रतिष्ठा का वे बहुत ध्यान रखते थे।

नाटक और कथा साहित्य के मौलिक सृजन में, और बंगला भाषा से मराठी में रवीन्द्र और शरद् साहित्य को अनूदित करने में उनकी प्रतिभा खूब चमकी थी। नाट्य-जगत् में उनकी देन को कौन नहीं जानता ? अभिनेता और तंत्र सूत्रधर को वह मनीषा का माध्यम मानते थे, और नाटककार या नाटक के स्रष्टा साहित्यिक को वह सर्वाधिक महत्त्व देते थे। मराठी रंगमंच उनका सर्वदा ऋणी रहेगा और हिंदी रंगमंच के पुनरुद्धार के हेतु उनके प्रयत्न हम हिंदीभाषियों के बीच आदर और स्नेह के साथ याद किये जायेंगे। हिंदी साहित्यिकों के लिए वे

आत्मीय गुरुजन के समान थे।

डेढ़ सौ से ऊपर पुस्तकों के रचयिता, नाटककार, उपन्यासकार और विचारक स्व० भार्गवराम विट्ठल वरेरकर का जन्म २७ अप्रैल, १८८४ में रत्नगिरि जिले के चिपलूण गांव में हुआ था। सन् १९२० से आप राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने लगे थे। किंतु उनकी मूल प्रवृत्ति साहित्यिक थी, इसलिए उन्होंने साहित्य को राष्ट्रीय पुनरुत्थान और समाज-सुधार के उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम बनाया। रंगमंच का प्रयोग भी उन्होंने इसी उद्देश्य से किया, और स्वाभाविक बोलचाल से भाषा के प्रति इनका आग्रह उनके नाटकों को सफल बनाने में बहुत सहायक हुआ। सोद्देश्य कथोपकथन में हास्य और व्यंग्य का पुट उनकी शैली की विशिष्टता थी। नाटकों के विषयों का चुनाव उन्होंने अनेक क्षेत्रों से किया है। विषय ऐतिहासिक सामाजिक और राजनीतिक तो हैं ही, वे देश के मराठी क्षेत्र से इतर अंचलों से भी चुने गये हैं। बंगाल और बंगला साहित्य का अध्ययन मामा साहब की विशेषता थी। इस स्रोत से बंग सरस्वती की धारा को महाराष्ट्र में पहुंचाने वालों में वे अग्रणी थे। संपूर्ण शरत्-साहित्य का अनुवाद मामा साहब ने मराठी भाषा में किया था। ठेठ मराठी भाषा के ठाठ में मामा वरेरकर ने मार्दव और लोच का अनोखा पुट दिया था।

समस्याओं और संप्रश्नों से वे कतराते न थे। वाद-विवाद में भाग लेते और कभी छद्म नाम से, तो कभी प्रत्यक्ष रूप से प्रहार करते थे। वे हंसा-हंसाकर मार करने में दक्ष थे। उनका कृतित्व और व्यक्तित्व भी इसलिए कभी-कभी वाद-विवाद का विषय बन जाता था। किंतु मामा साहब की निष्ठा, हार्दिकता और सारस्वत आदर्श पर विरोधियों की कटुता से कभी आंच नहीं आयी।

वे संकुचित प्रादेशिकता के पोषक न थे। अंतर्भारती के आदान-प्रदान में उनका अनुराग अकृत्रिम और योगदान महान् था। हिंदी के अखिल भारतीय प्रयोग के वे समर्थक थे। वे हिंदी को 'भारती' नाम से पुकारते थे।

भारतीय नारी के प्रति उनके मन में अपार संवेदना थी। उनकी छत्रछाया में दुखियों को सहानुभूति और सहायता मिलती थी। उनका सारा साहित्य और जीवन इसका साक्षी है।

साहित्यिक की प्रतिष्ठा को वे कभी न भुलाते थे। वे स्वयं तो प्रतिष्ठा के भूखे न थे, पर अपने सहधर्मियों के बारे में इस विषय में अतिशय व्यग्र रहते थे। राजनीति हो, प्रशासन हो, चाहे रंगमंच, सिनेमा या प्रकाशन हो, हर क्षेत्र में साहित्यिक मनीषी ही उनकी दृष्टि में सर्वोपरि था।

अखिल भारतीय महत्त्व की उनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए राष्ट्रपति ने उन्हें राज्यसभा का सदस्य बनाया था। वे १९५८ में संगीत नाटक अकादमी द्वारा सर्वमान्य नाटककार के रूप में पुरस्कृत हुए थे, और १९५९ में उन्हें पद्मभूषण

का सम्मान प्रदान किया गया था। राज्य सभा में अपने कार्यकाल में मामा साहब ने हिंदी की हितरक्षा में सदा आवाज और कलम उठायी। रेडियो में हिंदी का स्वरूप बिगाड़ने की कुचेष्टा का उन्होंने प्रबल विरोध किया था, और अंग्रेजी को सह-राजभाषा के रूप में बनाये रखने का विधेयक प्रस्तुत होने पर उन्होंने उसके विरोध में प्रधान मंत्री को विरोध-पत्र लिखा, तथा सार्वजनिक रूप से भी उसका विरोध किया था, जबकि संसद में हिंदी के अनेक प्रतिनिधि भी ऐसा करने का साहस न बटोर सके थे।

मामा साहब इधर छत्रपति शिवाजी और महाकवि भूषण को लेकर नाटक लिखने की तैयारी कर रहे थे, और भूषण के संबंध में सामग्री एकत्र कर रहे थे। वे कहा करते थे कि सुदूर अतीत में भी हिंदी के एक कवि ने शिवाजी को अपने काव्य का नायक बनाया और उनके कार्य के राष्ट्रीय महत्त्व को पहचाना, यह इस बात का प्रमाण है कि हिंदी का कार्य-क्षेत्र सदा से संपूर्ण भारत या संपूर्ण राष्ट्र रहा है, और राष्ट्र की चेतना उसमें सदैव अभिव्यक्त होती रही है। दुःख है कि अपने इस नाटक को पूरा करने के पहले ही मामा साहब चले गये। अंत समय तक उनकी कलम चलती रही और उन्होंने कर्मयोगी की गति पायी। हम 'सरस्वती' की ओर से भारती के इस यशस्वी सेवक को हिंदी जगत् की विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

(श्री) मैथिलीशरण गुप्त

एक युग का अंत!

राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त ने १२ दिसम्बर, १९६४ को अपने आराध्य भगवान् राम के सान्निध्य में चिरनिवास करने के लिए साकेत यात्रा कर दी। हिंदी साहित्य का अक्षय वट गिर गया—वह अक्षय वट जिसकी शीतल और सुखद छाया हिंदी संसार को आधी शती के अधिक काल से सुख और तृप्ति का अनुभव करा

रही थी। आज के ६०-७० वर्ष की अवस्थावाले हिंदी-प्रेमियों ने भी जब से होश संभाला तब से वे राष्ट्रकवि का नाम सुनते आ रहे हैं और उनके काव्य से अनुप्राणित होते आ रहे हैं। इस दीर्घ अवधि में प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, रत्नाकर, सियारामशरण, अजमेरीजी आदि कितने ही देदीप्यमान नक्षत्र हिंदी-गगन में उदित हुए और अस्त भी हो गये; किंतु राष्ट्रकवि अटल और अचल ध्रुव के समान हिंदी संसार को बराबर दिशाज्ञान देते रहे। हिंदी संसार को उन्हें एक संस्था समझने का अभ्यास पड़ गया था—और वह भी ऐसी संस्था समझने का कि जो सनातन हो, अक्षय हो। वह भूल गया कि गुप्तजी नश्वर और मर्त्य हैं। यही कारण है कि ७८ वर्ष की अवस्था में भी उनके साकेत-वास से हिंदी संसार को इतना गहरा धक्का लगा।

आज के हिंदी संसार के वे पितामह थे। खड़ी बोली में पहले भी कविता लिखी जाती थी, किंतु साहित्य संसार में उसे मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त न थी। काव्यक्षेत्र में ब्रजभाषा का ही बोलबाला था। गुप्तजी ने जब कविता लिखनी आरंभ की तब तत्कालीन प्रथा के अनुसार ब्रजभाषा ही में लिखी। उस समय की प्रथा के अनुसार अपना उपनाम भी रखा। उनका उपनाम था—'रसिकेन्द्र'। किंतु आचार्य द्विवेदी की प्रेरणा और युग की आवश्यकता का अनुभव कर उन्होंने ब्रजभाषा का 'त्याग' कर दिया, तथापि ब्रजभाषा काव्य से उन्हें अंत तक प्रेम बना रहा। उन्हें सैकड़ों पुराने छंद याद थे, और जब वे हमारे साथ बैठते और ब्रजभाषा काव्य की चर्चा चलती तब कितने ही पुराने छंद सुनाया भी करते थे। किंतु हिंदी के हित तथा राष्ट्रीय आवश्यकता का अनुभव कर उन्होंने खड़ीबोली ही में काव्य-सर्जना करने का व्रत ले लिया, और अंत तक उन्होंने उस व्रत का पालन किया। आरंभ में कुछ दिनों तक खड़ीबोली कविताओं को छपाते समय वे अपने उपनाम (रसिकेंद्र) का प्रयोग करते रहे, किंतु बाद में नयी व्यवस्था में उपनाम की निरर्थकता समझकर उन्होंने उसका उपयोग करना छोड़ दिया। उनके बहनोई कालपी-निवासी स्वर्गीय द्वारकाप्रसाद गुप्त, जब कविता करने लगे और उन्होंने राष्ट्रकवि से कोई अच्छा 'उपनाम' सुझाने को कहा तब उन्होंने अपना उपनाम (रसिकेंद्र) उन्हें दे दिया, और तब से द्वारकाप्रसादजी 'रसिकेंद्र' की छाप लगाकर लिखने लगे। वे 'रसिकेंद्र' नाम से प्रसिद्ध हो गये, और लोग भूल गये कि आरंभ में यह उपनाम स्वयं राष्ट्रकवि का था।

राष्ट्रकवि की सबसे बड़ी सेवा यह थी कि उन्होंने उस समय के हिंदी संसार को इस बात का विश्वास दिला दिया कि खड़ीबोली कविता के लिए उपयुक्त और समर्थ भाषा है। उनकी असंख्य आरंभिक कविताओं—विशेषकर 'भारतभारती' ने लोगों के सामने सफल खड़ीबोली काव्य को रखकर कवियों को खड़ीबोली में लिखने के लिए प्रेरित किया। उनका नेतृत्व इतना शक्तिशाली था कि तत्कालीन

नयी पीढ़ी के कवियों ने एक मत से उनका नेतृत्व स्वीकार कर लिया और प्रायः दो दशकों में उनके सतत प्रयत्न, सफल कृतित्व और सजीव प्रेरणा के फलस्वरूप हिंदी काव्य में खड़ीबोली छा गयी। यदि राष्ट्रकवि ने खड़ीबोली को हिंदी काव्य में प्रतिष्ठित न कर दिया होता तो आगे चलकर हिंदी काव्य का जो विकास छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रतीकवाद तथा नयी कविता में हुआ—वह शायद उस अल्प अवधि में संभव न होता क्योंकि हमारा काव्य आज भी ब्रजभाषा की मध्यकालीन परंपराओं से सर्वथा मुक्त न हो पाता और प्रगति की गति अवरुद्ध हो गयी होती। आज हम खड़ीबोली की कविता से इतने परिचित और अभ्यस्त हो गये हैं कि इस शती के आरंभिक दशक की वह परिस्थिति बिल्कुल भूल गये हैं जब हिंदी काव्य की प्रचलित और मान्य भाषा 'ब्रजभाषा' थी और जब खड़ीबोली काव्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त समझी जाती थी। गद्य और पद्य की भाषाओं में भेद था जिससे साहित्य की प्रगति रुक रही थी। उस स्थिति को बदलने में कितने ही लोगों ने प्रयत्न किया था, किंतु एक व्यक्ति जिनके प्रयत्नों से उस समय असंभव समझी जानेवाली बात संभव ही नहीं प्रत्युत सर्वसम्मति से स्वीकार कर ली गयी, वे थे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त। इस एक ही क्रांतिकारी सेवा के लिए हिंदी का इतिहास उन्हें 'युगप्रवर्तक' के रूप में सदैव याद रखेगा।

उन्होंने केवल खड़ीबोली को प्रतिष्ठित कर उसका प्रचार ही नहीं किया, अपने लोकप्रिय काव्य द्वारा उन्होंने राष्ट्रीय जागरण का संदेश सारे हिंदी संसार के कोने-कोने में पहुंचाया। हमें यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं है कि यदि गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के बाद कोई हिंदी काव्य महलों से लेकर झोंपड़ियों तक समान रूप से लोकप्रिय रहा तो वह था 'भारत-भारती'। इस दृष्टि से वे वास्तव में 'सारस्वत कवि' थे। 'भारत-भारती' ने हिंदी का प्रचार तो किया ही, उसने जनता में राष्ट्रीयता की भावना भी उत्पन्न की। जिस प्रकार रूसो और वाल्टेयर की कृतियों ने फ्रांसीसी क्रांति के लिए भूमि तैयार की थी, उसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों ने (और उनसे अनुप्राणित अन्य कवियों ने) उत्तर भारत में भारतीय जन-आंदोलन के लिए भूमि तैयार की। इतिहास में जनता ने दो हिंदी कवियों को 'गैर-सरकारी' उपाधियां दीं—बाबू हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की, और श्री मैथिलीशरण गुप्त को 'राष्ट्रकवि' की। गुप्तजी को 'राष्ट्रकवि' की उपाधि 'राष्ट्रभाषा' के कवि होने के कारण नहीं दी गयी। जनता ने उन्हें यह सम्मान इसलिए दिया था कि उन्होंने अपने काव्य द्वारा जनमानस में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की थी।

उनके कृतित्व का परिमाण विशाल है। उसमें विविधता है। किंतु यह अवसर उनकी कृतियों के मूल्यांकन का नहीं है। यह कार्य इतिहास करेगा। फिर

भी यह कहने में हमें संकोच नहीं है कि पिछले पचास वर्षों में गुप्तजी की कविताओं ने हिंदी संसार को जितने व्यापक ढंग से प्रभावित किया, उतना अन्य किसी कवि की कृतियों ने नहीं। शायद बाद के कई कवियों के काव्य विशुद्ध काव्य की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; किंतु वे केवल विद्वानों और विदग्ध साहित्यिकों तक सीमित रहे। वे न तो जनता के कंठ में उतरे और न समाज के भिन्न-भिन्न स्तरों में ही पहुंच सके। गुप्तजी के काव्य की यह विशेषता थी कि वह सच्चे अर्थों में लोकप्रिय था। वह 'आभिजात्य वर्ग' या 'विद्वद्वृंद' के लिए ही नहीं था। जनता को वह 'केवल विद्वानों के लिए' लेबुलवाला काव्य नहीं मालूम पड़ता था। उसमें जनमानस को आकर्षित करने की अपूर्व शक्ति थी। शायद इसका कारण यह था कि उनकी चिंतन-शैली और दृष्टिकोण जनता के हृदय के अधिक निकट थे। वे आधुनिक होते हुए भी 'अति आधुनिक' न थे, बुद्धि का महत्त्व मानते हुए भी 'बुद्धिवादी' न थे, क्रांतिकारी होते हुए भी प्राचीन के गौरव को स्वीकार करते थे, अत्यंत आस्तिक होते हुए भी धार्मिक दुराग्रह से दूर थे।

आज हमें सहसा वह समय याद आ रहा है जब हमने गुप्तजी के पहले-पहल दर्शन किये थे। हमारे पूज्य पिताजी आज से प्रायः ६० वर्ष पहले 'श्री राघवेन्द्र' नामक मासिक पत्र का संपादन करते थे। उसमें गुप्तजी की कई सुंदर कविताएं छपी थीं। तब तक दोनों की भेंट नहीं हुई थी। पिताजी ने उन्हें एक बार अपना चित्र भेजने को लिखा। गुप्तजी ने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया कि मेरे ऐसे व्यक्ति का चित्र किस काम आ सकता है ? आपके अनुरोध की रक्षा के लिए मैं अपने आराध्य भगवान् श्री राम का एक चित्र भेज रहा हूं। अलग डाक से वह चित्र आया और वर्षों पिताजी के कमरे की शोभा बढ़ाता रहा। बाद में, कई वर्षों बाद वे किसी कार्य से प्रयाग आये और उनसे मिले। तब हमने उनके प्रथम दर्शन किये। उन दिनों वे सिर पर दिल्लीशाही लाल पगिया बांधा करते थे। उनकी वह छवि आज भी हमारे मानसपट पर अंकित है। बाद में तो, विशेषकर १९३० के बाद, हम उनके बहुत निकट संपर्क में आ गये। संयोग की बात कि यद्यपि जब हम मिलते तब घंटों बैठक होती तथापि काव्य-चर्चा बहुत कम होती। वे बड़े विनोदप्रिय थे और हमें केवल विनोदप्रिय व्यक्ति ही समझा करते थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि हम पर 'सरस्वती' के संपादन का भार आ गया है तब उन्हें बड़ी निराशा हुई और उन्होंने श्री सियारामशरणजी से कहा कि ऐसे विनोदी और बेफिक्रे व्यक्ति के हाथ में आकर 'सरस्वती' की क्या दशा होगी ! किंतु कुछ दिनों के बाद उनका विचार बदल गया और उन्होंने स्वयं हमें यह बात बतलायी। कहने लगे कि आपने हमें बड़ा निराश किया। हम तो समझते थे कि आपके हाथों में आकर 'सरस्वती' विनोद की पत्रिका हो जायेगी किंतु आपने तोइसकी गंभीरता को बनाये रखा है !

'सरस्वती' से गुप्तजी का ऐतिहासिक संबंध है। गुप्तजी के यशःशरीर के निर्माण में आचार्य द्विवेदीजी की 'सरस्वती' का जो हाथ रहा है वह इतिहास की बात है। उन्हें 'सरस्वती' से बड़ा मोह था। एक बार हमने उनके एक लेख के लिए उन्हें पारिश्रमिक भेज दिया था। वे उस समय चिरगांव में न थे और मनीआर्डर ले लिया गया। जब वे लौटकर आये तब वे बड़े दुखी हुए और उन्होंने रुपया लौटा दिया। मिलने पर उन्होंने हमसे कहा था कि 'सरस्वती' से उन्होंने कभी कोई रकम नहीं ली। वे 'सरस्वती' को अपनी ही पत्रिका समझते थे और उसे बराबर पढ़ा करते थे।

राष्ट्रकवि अन्य कितने ही कवियों और साहित्यकारों की भांति केवल साहित्य-निर्माण में ही रुचि नहीं लेते थे। वे उन थोड़े से साहित्यकारों में थे जिन्होंने स्वतंत्रता-आंदोलन में सक्रिय भाग लेकर जेल का दंड भोगा। वे झांसी और आगरे की जेलों में रहे। हिंदी के बहुत कम प्रमुख कवियों ने हिंदी के प्रचार या आंदोलन में इतना सक्रिय भाग लिया जितना गुप्तजी ने। वे केवल कलमशूर ही न थे, हिंदी के कर्मठ और सजग नेता भी थे और हिंदी के कार्यकर्ताओं को सदैव अनुप्राणित करते रहते थे।

हमारी उनकी अंतिम भेट दिल्ली में दिसम्बर '६४ के प्रथम सप्ताह में हुई। हमें पहली और दूसरी दिसम्बर को वहां एक समिति की बैठक में सम्मिलित होना था। वहां पहुंचने पर हमने सुना कि दूसरी तारीख को डा० नगेन्द्र की पुस्तक का 'ग्रंथ-विमोचन' राष्ट्रकवि करेंगे। हम उस समारोह में गये और वहां गुप्तजी से भेंट हुई। उन्होंने कहा कि इस भीड़भाड़ की भेंट से तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने अगले दिन मिलने का आग्रह किया। तदनुसार हम तीसरी दिसम्बर को अपराह्न में उनसे मिले। हम प्रायः डेढ़ घंटे उनके पास रहे। उन्होंने कई संस्मरण सुनाये, बातचीत के सिलसिले में कई पुराने छंदों की पंक्तियां सुनायीं, यह सूचना दी कि उनकी 'अजमेरीजी के संस्मरण' नामक पुस्तक शीघ्र ही छप जायगी और छपते ही वे उसकी एक प्रति हमें भेज देंगे। अंत में उन्होंने हमसे चिरगांव आकर कुछ दिन रहने का आग्रह दुहराया। वे प्रायः एक वर्ष से हमसे चिरगांव आने का अनुरोध कर रहे थे किंतु कार्य-व्यवस्था के कारण हम उनकी आज्ञा का पालन नहीं कर सके थे। इसकी उन्हें शिकायत थी। हमने मार्च में चिरगांव जाने का पक्का वचन दिया और उससे वे बड़े प्रसन्न हुए। बड़े आग्रह और प्रेम से जलपान कराकर और चाय पिलाकर उन्होंने हमें विदा किया। हमें क्या मालूम था कि राष्ट्रकवि से हमारी वह अंतिम भेंट है!

६ दिसम्बर से हम फिर लंबे प्रवास पर चले गये और ३० दिसम्बर को लौटे। प्रवास ही में हमने समाचार-पत्रों में राष्ट्रकवि के साकेत-वास का हृदय-विदारक समाचार पढ़ा। बाद में मालूम हुआ कि वे ६ या १० दिसम्बर को

दिल्ली से झांसी गये। शायद रात की गाड़ी से गये थे। उन दिनों ठंड तीव्र थी। रास्ते में उन्हें सर्दी लग गयी और ११-१२ की रात में सहसा, हृदय की गति रुक जाने से, उन्होंने सदा के लिए आंखें मूंद लीं। इस समाचार से हम स्तब्ध रह गये। समाचार की सत्यता पर सहसा विश्वास नहीं होता था। साठ वर्षों के अनेक संस्मरण चित्र हमारे मस्तिष्क में घूम गये। व्यक्तिगत रूप से वे हमारे आत्मीय थे। 'सरस्वती' के तो वे अपने ही व्यक्ति थे। 'सरस्वती' की हीरक जयंती में वे अस्वस्थ होने पर भी बड़े प्रेम और उत्साह से सम्मिलित ही नहीं हुए, बल्कि उन्होंने उसकी अध्यक्षता भी की थी। अपने गुरु आचार्य द्विवेदी की प्रतिमा का अनावरण करते समय वे प्रेम और आनंद से अभिभूत हो गये थे। उनके उठ जाने से 'सरस्वती' परिवार का 'पुरखा' ही उठ गया। अब 'सरस्वती' को इसी बात से संतोष करना पड़ेगा कि वह राष्ट्रकवि की 'कर्मभूमि' थी और उनके सहयोग और निकट संपर्क से वह गौरवान्वित हुई।

उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हम किन शब्दों में सहानुभूति प्रकट करें? उससे कुछ दिन ही पहले 'सरस्वती' को श्री सियारामशरणजी का वियोग सहना पड़ा था। अब यह वज्राघात सहना पड़ा। हम उनके परिवार के साथ, विशेषकर उनके सुपुत्र चि० उर्मिल के प्रति, अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं। उन्हें इस बात से धैर्य रखना चाहिए कि सारा हिंदी संसार उनके दुख से दुखी है और राष्ट्रकवि की कीर्ति हिंदी के इतिहास में अक्षय रहेगी।

(श्री) मोहनसिंह सेंगर

फरवरी '७२ की एक रात आकाशवाणी से यह समाचार सुनकर हम स्तब्ध रह गये कि दिल्ली में केवल ५७ वर्ष की आयु में श्री मोहनसिंह सेंगर का सहसा स्वर्गवास हो गया। वे काफी स्वस्थ थे और उनकी बीमारी का भी दिल्ली के किसी मित्र ने कोई समाचार नहीं दिया था। इसलिए हमें यह समाचार अनभ्र वज्रा-

घात के समान मालूम हुआ।

यद्यपि सेंगरजी बहुत पहले से लेखन और संपादन का कार्य करते थे तथापि हिंदी संसार का उस समय उनकी ओर ध्यान गया जब वे 'विशाल भारत' के सहकारी संपादक के रूप में सामने आये। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी उनसे प्रभावित थे और उन्हीं के निमंत्रण पर वे वहां गये थे। बाद में जब स्वतंत्र रूप से उन्होंने 'नया समाज' निकाला और उसका संपादन किया तब उनकी वास्तविक प्रतिभा और योग्यता का हिंदी संसार को परिचय मिला।

श्री सेंगरजी का परिवार इटावा जिले का निवासी है जहां क्षत्रियों के अनेक उपनिवेश हैं। संयोग से उनके पिता जोधपुर गये और वहां तत्कालीन महाराज के कृपापात्र हो गये। वहां उन्हें अच्छा पद ही नहीं मिला, जागीर में एक गांव भी मिला। सेंगरजी उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भेजे गये, किंतु तभी नमक सत्याग्रह आरंभ हुआ और युवक मोहनसिंह उसमें कूद पड़े तथा जेल गये। जेल से छूटने पर पढ़ाई तो समाप्त हो गयी और वे कुछ दिनों के लिए अभ्युदय के संपादकीय विभाग में स्थान पा गये। वहां से दिल्ली के अंग्रेजी 'नेशनल कॉल' नामक पत्र में चले गये। किंतु वहां अधिक दिन नहीं रहे। कुछ दिनों उन्होंने 'हिन्दुस्तान' दैनिक में काम किया, और फिर लाहौर की 'शक्ति' पत्रिका के संपादक होकर लाहौर चले गये। पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी उनकी योग्यता से बहुत प्रभावित थे और उनके अनुरोध पर वे उनके सहकारी होकर 'विशाल भारत' में आ गये। वहां उन्होंने जिस योग्यता और परिश्रम से कार्य किया उससे उनकी योग्यता और प्रतिभा में चतुर्वेदीजी का विश्वास और दृढ़ हो गया। कई वर्ष 'विशाल भारत' में रहने के बाद उन्होंने उससे अलग होकर 'नया समाज' नामक मासिक पत्र निकाला जिसने बड़ी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। उसमें उनकी संपादन-योग्यता का पूर्ण विकास देखने को मिला। किंतु ऐसे उच्च श्रेणी के पत्र हिंदी में बहुत दिनों नहीं चल पाते और अंत में उसे बंद करना पड़ा।

कई वर्षों से वे दिल्ली आकाशवाणी में हिंदी के प्रोड्यूसर पद पर थे। एक बार उनके 'हिंदुस्तान' में संपादक के रूप में जाने की बात भी उठी। पर उनके समान स्वतंत्र-चेता व्यक्ति के लिए ऐसे पत्रों का वातावरण अनुकूल नहीं था। वे अंत तक आकाशवाणी ही में बने रहे। वहां रहकर—आकाशवाणी के वातावरण में—'जिन दसनन महं जीभ बिचारी'—हिंदी की सेवा करना कितना कठिन है, यह भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं। किंतु अपनी बुद्धिमत्ता, कर्मठता और अनवरत परिश्रम एवं निष्ठा के कारण वे सफल रूप से उसे कर सके।

संपादन के अतिरिक्त वे निबंधकार और कहानी-लेखक भी थे। उनकी कहानियों में ऊंचे दर्जे का व्यंग्य होता था 'खगेन बाबू' नाम का उनका कहानी-

संग्रह इसका प्रमाण है। उनके बारह कहानी-संग्रह और निबंध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आकाशवाणी के कठिन और व्यस्त कार्य में लगे होने पर भी वे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह से 'स्व० रामानन्द चटर्जी स्मृति ग्रंथ' की तैयारी में बड़ी लगन से लगे हुए थे।

हिंदी में इतने परिश्रमी, कम बोलनेवाले, अधिक काम करने वाले और अपने कृतित्व को उच्च स्तर का रखने को सजग कम ही लोग हमने देखे हैं। व्यक्तिगत रूप से वे बड़े सरलहृदय और निरभिमानी थे, पर उन्हें परिचय बढ़ाने का शौक नहीं था। वे अविवाहित रहे, किंतु उन्हें अपने परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य का अत्यधिक बोध था, और उनकी कमाई का अधिकांश परिवार के लोगों पर ही व्यय होता था। वे वास्तव में उदारहृदय थे।

वे यात्रा में जा रहे थे कि स्टेशन पर ही उन्हें हृदय का दौरा पड़ा और उनकी मृत्यु हो गयी। हिंदी के मौन साधक और एकनिष्ठ हिंदी भक्त की मृत्यु के समाचार से हमें अत्यंत दुःख हुआ। इतने उच्च लेखक और सफल संपादक होने पर भी उन्हें ख्याति या प्रचार की कोई लालसा नहीं थी, और यही कारण है कि उस अनुपम पुष्प के सहसा बिखर जाने से हिंदी संसार में कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई, किंतु जो लोग उन्हें निकट से जानते थे और उनके कृतित्व से परिचित हैं, उन्हें हिंदी की अपार क्षति का अनुभव हुआ। हम उस मौन साहित्य-साधक की स्मृति में आदर और स्नेह से नत हैं।

(मनोविज्ञानवेत्ता) युंग

कभी-कभी ऐसे क्रांतिकारी आविष्कार होते हैं, या ऐसे नये सिद्धांत प्रतिपादित कर दिये जाते हैं जिनसे सारी मानव-जाति की विचारधारा पर व्यापक प्रभाव पड़ता है और मानवता को एक नया दृष्टिकोण मिल जाता है। आधुनिक युग में डार्विन का विकासवाद, कार्ल मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, आइंस्टाइन

का सापेक्षवाद इस तथ्य के उदाहरण हैं। इसी श्रेणी में फ्रायड और युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत भी आते हैं जिन्होंने सारे संसार के विचारकों, चिकित्सकों और साहित्यिकों पर अपना स्थायी प्रभाव जमा लिया है। यद्यपि फ्रायड ने सबसे पहले मनोविश्लेषण का सिद्धांत निकाला, तथापि शीघ्र ही युंग ने उसका परिष्कार कर उसे आगे बढ़ाया। उन्हीं युंग का निधन जून १९६१ में ८६ वर्ष की आयु में स्विट्जरलैंड में हो गया था।

युंग का पूरा नाम था कार्ल गुस्ताव युंग, और उनका जन्म १८७५ में स्विट्जरलैंड के नगर में हुआ था। इनके पिता एक पादरी थे। युंग ने अपने नगर के विश्वविद्यालय से डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण की। तब तक मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिए मनोविज्ञान का महत्त्व मान लिया गया था। इसलिए युंग पेरिस विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान का अध्ययन करने चले गये। लौटकर वे ज्यूरिख नगर में मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करने लगे। सन् १९०७ में उनकी भेंट फ्रायड से हुई और वे उनके अनुसंधानों और सिद्धांतों से इतने प्रभावित हुए कि उनके शिष्य हो गये।

फ्रायड से पहले मनोविज्ञान को स्वतंत्र विज्ञान नहीं माना जाता था। फ्रायड भी डाक्टर थे और वे मानसिक रोगों की, विशेषकर हिस्टीरिया के रोगियों की, चिकित्सा करते थे। उस समय तक हिस्टीरिया की चिकित्सा में कुछ लोग मेस्मैरिज्म का प्रयोग किया करते थे। हिस्टीरिया मानसिक रोग है, किंतु उस समय तक मस्तिष्क के बारे में लोगों को बहुत कम ज्ञान था। फ्रायड ने पहले-पहल मस्तिष्क के उस भाग की ओर ध्यान दिया जिसे 'अचेतन' (अनकांशस) कहते हैं। यही नहीं, उन्होंने यह प्रमाणित किया कि मनुष्य के जीवन में मस्तिष्क के इस अचेतन भाग का बहुत बड़ा महत्त्व है। फ्रायड ने यह भी स्थापना की कि शैशवावस्था में ही यौन वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं और बाल्यकाल की यौन वृत्तियों का प्रभाव बाद के सारे जीवन पर पड़ता है। वे ही मनुष्य की शक्ति का स्रोत हैं। उनकी तीसरी महत्त्वपूर्ण स्थापना यह थी कि मनुष्य के मस्तिष्क में जो स्तर बन जाते हैं उनका कारण वे मानसिक या बाह्य द्वंद्व या संघर्ष हैं जिनसे मनुष्य को परिस्थितिवश जूझना पड़ता है। इन संघर्षों के कारण मनुष्य को अपनी कितनी ही स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रोकना पड़ता है। इसे उन्होंने दमन (रिप्रैशन) का नाम दिया। बहुत से मानसिक विकार इस दमन के कारण होते हैं। उनका कहना था कि शैशवावस्था में दमन या अन्य किसी कारण से कोई अप्रिय वस्तु मस्तिष्क के चेतन भाग से रोगी के 'अचेतन' में पहुंच जाती है जिसका उसे कोई ज्ञान भी नहीं होता। वह दमित वस्तु अचेतन में पड़े रोगी को उसी तरह तंग करती है जिस प्रकार पेशियों में घुसी हुई कांटे की नोक उसे पीड़ा पहुंचाती या मवाद पैदा कर देती है। इसका उपाय उन्होंने यह बतलाया कि अचेतन में पड़ी उस दुखदायी वस्तु

को (वह कोई भय, दुश्चिंता, अप्रिय अनुभव आदि हो सकती है) अचेतन से निकाल कर चेतन में ले आना चाहिए। जैसे ही वह अचेतन से निकल आयेगी, वैसे ही वह रोगी को तंग करना बंद कर देगी। इसके लिए उन्होंने मुक्त साहचर्य (फ्री एसोसिएशन) की प्रक्रिया निकाली जिसमें किसी वस्तु का नाम लेने पर उस शब्द से रोगी के मस्तिष्क में जो प्रतिक्रिया होती है (अर्थात् कही गयी वस्तु का नाम सुनते ही जिस वस्तु की याद उसे आ जाती है) उसका अध्ययन करके उस दमित वस्तु का पता लगाया जाता है। इस प्रक्रिया को 'मनोविश्लेपण' का नाम दिया गया। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत गहन और जटिल हैं। हम यहां उनका केवल अत्यंत स्थूल परिचय ही दे सकते हैं। फ्रायड की इस खोज ने चिकित्सक वर्ग और दार्शनिकों में क्रांति उत्पन्न कर दी। कुछ लोग उनके कट्टर अनुयायी हो गये और कुछ कट्टर विरोधी। किंतु इसमें संदेह नहीं कि अचेतन मस्तिष्क संबंधी इनकी खोजें मनोविज्ञान को उनकी अत्यंत महत्त्वपूर्ण और मौलिक देन हैं। इस आविष्कार ने मनुष्य के अध्ययन के लिए एक सर्वथा नया अध्याय प्रस्तुत कर दिया।

पहले तो युंग फ्रायड के अनुसंधानों और स्थापना से स्तंभित रह गये। किंतु जब उन्होंने फ्रायड के इन मुख्य सिद्धांतों पर अनुसंधान और विचार किया तब वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मनुष्य की जीवनी शक्ति का स्रोत बाल्यकाल की यौन वासनाएं नहीं हैं। युंग ने उन्हें जीवनी शक्ति का स्रोत नहीं माना। उनके मत से जीवनी शक्ति मनुष्य की जीवित रहने की प्रेच्छा (विल) से प्राप्त होती है। अचेतन के महत्त्व को उन्होंने भी माना। उनका कहना था कि जब मनुष्य एक बात कहते-कहते अनजान में कोई दूसरी अप्रासंगिक बात कह जाता है (जिसे अंग्रेजी में स्लिप आफ टंग कहते हैं) तब वास्तव में अचेतन अपने को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। रोग के संबंध में भी उनका कहना था कि शैशवावस्था के मानसिक संघर्षों की अपेक्षा रोगी के हाल के संघर्षों का पता लगाने से मानसिक रोगों का अधिक अच्छा उपचार किया जा सकता है। यही नहीं, उन्होंने मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त किया—एक वे जो अंतर्मुखी (इंट्रोवर्ट) हैं, और दूसरे वे जो वहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) हैं। इनमें से प्रत्येक में चार भेद होते हैं। कोई विचार-प्रधान, कोई भावनाप्रधान, कोई संवेदन (सेन्सेशन)-प्रधान और कोई वृत्ति या निसर्ग (इंस्टिंक्ट)-प्रधान होता है। शैशवावस्था की यौन वासना का महत्त्व फ्रायड के सिद्धांत की धुरी थी। युंग ने उसे वह महत्त्व नहीं दिया जो फ्रायड देते थे। अतएव दोनों में तीव्र मतभेद हो गया, और युंग ने मनोविज्ञान का अपना संप्रदाय फ्रायड से अलग कर लिया। फ्रायड का संप्रदाय साधारण रूप से 'मनोविश्लेपण संप्रदाय' कहलाता था। युंग ने अपने संप्रदाय को 'विश्लेपणात्मक मनोविज्ञान' का नाम दिया। मनोविज्ञान-जगत में युंग के मत को बड़ी व्यापक

मान्यता मिली। वास्तव में आधुनिक चिकित्सा संबंधी मनोविज्ञान फ्रायड और युंग (और एक तीसरे मनीषी ऐडलर) के प्रायः समान परिश्रम और प्रतिभा का परिणाम है। मनुष्य के आचरण के जो कारण फ्रायड और युंग ने बतलाये उन्हें संसार ने साधारणतः स्वीकार कर लिया। आधुनिक चिंतन पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा। साहित्यकार भी उन्हें मानने लगे, यहां तक कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी लिखे जाने लगे जो कम या बेश फ्रायड और युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित हैं। हिंदी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के लेखक भी फ्रायड और युंग की ही शिष्य-परंपरा में हैं।

युंग ने अनेक पुस्तकें लिखीं और कितने ही निबंध लिखे। उनमें कई पुस्तकें स्थायी महत्त्व की हैं। उनके निधन से संसार का एक महान् मनोवैज्ञानिक उठ गया, किंतु उनकी शोध और सिद्धांत संसार में चिरकाल तक जीवित रहेंगे। उनका यशःशरीर चिरजीवी है।
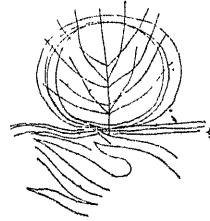
(डॉक्टर) रघुवीर

हिंदी के दुर्दिन अभी समाप्त हुए नहीं मालूम होते। सारा हिंदी संसार और भारत का विद्वत् समाज यह समाचार पढ़कर स्तब्ध रह गया कि अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के प्रसिद्ध विद्वान्, हिंदी के अनन्य समर्थक और नेता, डा० रघुवीर की मृत्यु सहसा एक मोटर-दुर्घटना में हो गयी। वे डा० राममनोहर लोहिया के चुनाव में उनका समर्थन करने के लिए जीप से फर्रुखाबाद जा रहे थे कि कानपुर से कुछ दूर जीप में कुछ खराबी आ गयी और वह एक पेड़ से टकरा गयी। डा० रघुवीर की आयु केवल ६१ वर्ष की थी। सन् १९०२ में उनका जन्म रावलपिंडी के एक साधारण परिवार में हुआ था। उन्होंने लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय से एम० ए० किया और फिर विदेश चले गये। लंडन विश्व-विद्यालय से उन्होंने पी-एच० डी० तथा हालैण्ड के यूट्रेक्ट विश्वविद्यालय से

डी० लिट्० किया। उन्होंने मध्य-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति और साहित्य का विशेष अध्ययन किया था। वे कितनी ही योरोपियन, एशियायी और भारतीय भाषाएं जानते थे। अपने सांस्कृतिक अध्ययन को सुनियोजित ढंग से चलाने के लिए उन्होंने १९३४ ई० में 'भारतीय संस्कृति की अंतर्राष्ट्रीय एकादमी' नामक संस्था स्थापित की, जो अब दिल्ली में काम कर रही है। डा० रघुवीर ने चीन, जापान, थाईदेश, मंगोलिया, जावा, बाली, कम्बोज आदि कितने ही देशों का भ्रमण किया था। वहां जाने का उनका उद्देश्य भारतीय संस्कृति के चिह्नों तथा साहित्य का अनुसंधान था। उन्होंने अपनी एकादमी में इन यात्राओं में प्राप्त अनेक ग्रंथों और वस्तुओं का बड़ा महत्त्वपूर्ण संग्रह बना लिया था। एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार के वे सर्वमान्य और प्रतिष्ठित विद्वान् माने जाते थे। इस विषय पर उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भी लिखीं। इनमें चीनी भाषा की रामायण का अंग्रेजी अनुवाद तथा एक चीनी पुस्तक का अनुवाद जिसमें भारतीय भौगोलिक परिभाषाओं का संकलन है, विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने कई वेदों के भी सुसंपादित संस्करण निकाले। सब मिलाकर उन्होंने ८८ ग्रंथों की रचना की जिनमें कई अनुवाद तथा कोश भी हैं।

हिंदी के वे अनन्य उपासक थे। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री स्वर्गीय पं० रविशंकर शुक्ल उनकी विद्वत्ता और हिंदीनिष्ठा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इन्हें नागपुर बुलाकर विश्वविद्यालय की बी० ए० और बी० एस-सी० कक्षाओं के लिए हिंदी और मराठी में विविध ज्ञान और विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने का काम सौंपा। उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम हिंदी और मराठी को कर दिया था। डा० रघुवीर केवल विद्वान् ही नहीं थे, उनमें उच्च श्रेणी की संगठन-योग्यता भी थी। उन्होंने थोड़े ही समय में विविध विषयों पर विश्वविद्यालय के स्तर की प्रायः दो दर्जन पाठ्य-पुस्तकें हिंदी और मराठी में तैयार कर दीं। जब मध्य प्रदेश में हिंदी और मराठी राजभाषाएं घोषित हुई तब प्रशासनिक शब्दों के हिंदी पर्यायों की आवश्यकता का अनुभव हुआ। संविधान में भी हिंदी भारत की राजभाषा घोषित हो चुकी थी। किंतु दिल्ली के प्रभुगण पारिभाषिक कोशों की तैयारी में ढील कर रहे थे। तब डाक्टर रघुवीर ने एक बृहद् कोश तैयार किया जिसमें न केवल प्रशासनिक शब्द हैं, ज्ञान और विज्ञान के सभी आवश्यक शब्द रखे गये हैं, यह बृहद् कोश डा० रघुवीर की कीर्ति को चिरस्थायी रखेगा। जिस प्रकार योरोपियन भाषाओं के वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द लेटिन (और ग्रीक) के आधार पर बनाये गये हैं, उसी प्रकार डा० रघुवीर ने इस विशाल कोश के शब्दों को संस्कृत के आधार पर बनाया। शब्दों का चयन बड़े वैज्ञानिक ढंग से किया गया। संस्कृतमूलक होने के कारण

तथा प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दों को ले लेने के कारण अंग्रेजी और उर्दू जाननेवाले लोगों ने इस महान् कृति का मजाक उड़ाया और उसका विरोध किया । किंतु जब लाखों रुपये खर्च करके और आठ-दस वर्षों तक काम करने के बाद भारत सरकार ने अपना कोश बनाया (जो इससे बहुत छोटा है) या जब लोकसभा ने अपना कोश तैयार किया तब मालूम हुआ कि उन दोनों कोशों में डा० रघुवीर के कोश का काफी उपयोग किया गया है । वास्तव में बात यह है कि यदि ज्ञान-विज्ञान का ऐसा पारिभाषिक कोश बनाना हो जो भारत की अधिकांश भाषाओं को ग्राह्य हो और जिससे हिंदी का गौरव बढ़े तो कोश-निर्माण के जो आधारभूत सिद्धांत डा० रघुवीर ने सामने रखे, उनको छोड़कर और कोई मार्ग नहीं है । अपेक्षाकृत अल्प अवधि में इतना बड़ा और ऐसा प्रामाणिक कोश बनाकर डा० रघुवीर ने अपनी विद्वत्ता और कर्मठता का मूर्त प्रमाण दिया । वे ऐसी कृति बना गये हैं जो भावी कोशों का मुख्य आधार होगा । इस कोश को बनाकर उन्होंने हिंदी की अभूतपूर्व सेवा की । इसी एक कृति से हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास में उनकी कृति अमर रहेगी ।

किंतु अन्य विद्वानों और साहित्यिकों की तरह वे न तो किताबी कीड़े थे और न परमुखापेक्षी थे । वे हिंदी के अनन्य भक्त थे । उनका विश्वास था कि देश का वास्तविक कल्याण तभी होगा जब हिंदी भारत की राजभाषा ही नहीं, राष्ट्रभाषा भी हो जायेगी । वे हिंदी के राजभाषा बनाये जाने को बड़ा महत्त्व देते थे । उनके लिए भारतीय संस्कृति और हिंदी का समन्वित नाम 'धर्म' था, और उनके लिए वे सब कुछ त्याग करने को तैयार थे । जब संसद में १९६५ के बाद भी अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में चलाते रहने का विधेयक लाया गया तो उन्होंने अन्य हिंदी साहित्यिकों की तरह अपने पुस्तकालय की सुरक्षा में अपने को बंद नहीं कर लिया । उन्होंने डा० लोहिया के साथ हिंदी जनता की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए संसद के सामने विशाल जन-समूह के प्रदर्शन का नेतृत्व किया । हिंदी की रक्षा के लिए इस गाढ़े समय में वे सामने आये, और यह आशा की जाती थी कि भविष्य में हिंदी का नेतृत्व उन्हीं के कुशल हाथों में रहेगा ।

उनमें अपार ऊर्जा थी । गहन अध्ययन, शोध, पुस्तक-प्रणयन के साथ-साथ वे राजनीति में भी सक्रिय भाग लेते थे । उनकी योग्यता और निष्ठा से प्रभावित होकर स्व० पंडित रविशंकर शुक्ल ने उन्हें मध्यप्रदेश की ओर से संविधान सभा में भिजवा दिया था । बाद में वे वहीं से मध्यप्रदेश की ओर से राज्यभाषा के सदस्य भी रहे । किंतु सरकार की चीन-संबंधी नीति से क्षुब्ध होकर उन्होंने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया था, और वे जनसंघ में सम्मिलित हो गये थे । जनसंघ में उन्होंने नये प्राण फूंक दिये थे ।

डा० रघुवीर के निधन से अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का एक महान् विद्वान् उठ गया। सार्वजनिक जीवन से एक त्यागी, योग्य और सिद्धांत पर दृढ़ रहनेवाला देशभक्त नेता चला गया। किंतु सबसे अधिक हानि हिंदी की हुई। ऐसा कर्मठ, विद्वान् और सूझ-बूझ का दूसरा नेता हिंदी को शीघ्र शायद ही मिले। इस संकट के समय उनके निधन से देश की अपार क्षति हुई है। हम उनकी स्मृति में विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।
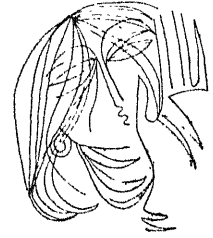
(पंडित) रविशंकर शुक्ल

मध्य प्रदेश-केसरी पं० रविशंकर शुक्ल के सहसा निधन का समाचार अनभ्र वज्रपात-सा मालूम पड़ा। आज जो लोग साठ वर्ष की अवस्था के भी हैं, वे अपने बचपन से ही इस नरपुंगव के कार्यकलाप से परिचित रहे हैं। जब से उन्होंने होश संभाला तब से शुक्लजी की भव्य मूर्ति समरस अकड़ के साथ उनके सामने रही। जैसा कि पं० द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र ने कहा है, वे हमारे प्रत्यक्ष संसार के ऐसे अभिन्न और अचल अंग हो गये थे कि कई बार प्रयत्न करने के बाद यह बात हृदय में बैठ सकी कि शुक्लजी नहीं रहे। वे केवल महान् नहीं थे, अपितु महान् मालूम भी पड़ते थे। उनका स्वर्गवास ८२ वर्ष की अवस्था में हुआ, किंतु अंतिम दिन तक वे क्रियाशील रहे। कभी उन्होंने बैठकर व्याख्यान नहीं दिया और न कभी उन्होंने बैठकर माला ही अपने गले में डलवायी। विश्राम की उन्होंने कभी इच्छा नहीं की। वे काम करते-करते संसार से जाना चाहते थे और ईश्वर ने उनकी यह इच्छा भी पूरी की। वे उस अवस्था में भी इतना परिश्रम करते थे कि जवान भी शरमा जाते थे। मेधावी ऐसे थे कि राज्य के सभी विभागों की छोटी-से-छोटी बात से परिचित थे और प्रत्येक विभाग के तथ्य और आंकड़े उनके लिए हस्तामलक थे। दूरदर्शिता, कल्पना और सूझ में उनके जोड़ के लोग इने-गिने ही निकलेंगे। किंतु इन सबसे बढ़कर उनके हृदय की महानता और सरसता ने उनके

संपर्क में आनेवालों को अपना बिना मोल का दास बना लिया था। उनकी सहृदयता और उदारता के उदाहरण कहानियों की तरह आश्चर्यजनक हैं। इसके साथ ही वे अपने सिद्धांतों के बड़े पक्के और हद दर्जे के निर्भीक पुरुष थे। 'वज्रा-दपि कठोराणि मृदूनि कुसमादपि' का उनसे अच्छा उदाहरण मिलना कठिन है। अध्यापक के महान और पवित्र कार्य से आरंभ कर उन्होंने मध्य प्रदेश के समान विशाल राज्य का मुख्यमंत्रित्व तक बड़ी योग्यता से निभाया। आज का मध्यप्रदेश शुक्लजी का साकार स्वप्न है, और वे सच्चे अर्थ में उसके पुरखा (पैट्रिआर्क) थे। उनकी राष्ट्रीयता अत्यंत बलवती और सक्रिय थी। वह व्याख्यानबाजी तक सीमित न थी। राजनीति में उनसे सफल व्यक्ति कम ही राज्य में मिलेंगे। किंतु सरस्वती और हिंदी संसार की दृष्टि में वे हिंदी के महान सेवक और रक्षक थे। आज चोटी के नेताओं में हिंदी के चाहने वालों की कमी नहीं है, किंतु वे उन इने-गिने नेताओं में थे जो वास्तव में हिंदी की ढाल थे। मध्यप्रदेश में उन्हीं की छत्रछाया में, और पं० द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र की प्रखर कल्पना के परिणामस्वरूप ही मध्यप्रदेश में भाषा विभाग स्थापित हुआ जिसने हिंदी और मराठी में विश्वविद्यालयों के लिए विविध वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें तैयार कराके यह दिखला दिया कि हिंदी में उच्चस्तर की वैज्ञानिक साहित्य तैयार किया जा सकता है। और इस विभाग ने वह अभाव बहुत कुछ दूर किया। उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि सारे हिंदी-भाषी राज्य मिलकर एक प्राविधिक शब्दावली बना लें। लखनवी लिपि का विरोध भी उन्होंने हिंदी के हित में ही किया और उसके आपत्तिजनक अंशों को मध्य-प्रदेश में प्रचलित नहीं किया। हिंदी के सबंध में मौलाना आजाद से उनका जो मतभेद था उसे वे उचित अवसर आने पर बड़ी निर्भीकता से प्रकट किया करते थे। उनके निधन से भारत, मध्यप्रदेश और हिंदी की अकथनीय हानि हुई है। राजनीति के इतिहास में, विशेषकर मध्यप्रदेश की जन-जागृति के इतिहास में तो उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। हिंदी के क्षेत्र में वे भारतेन्दु, कालाकांकर नरेश, राजा रामपालसिंह, महामना पूज्य मदनमोहन मालवीय और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की परंपरा के हिंदी-सेवी माने जायेंगे। शुक्लजी के समान महान व्यक्ति मरते नहीं। उनका भौतिक शरीर नष्ट अवश्य हो जाता है, किंतु उनकी आत्मा उनके प्रेरणादायक कामों और कीर्ति में अमर रहती है। वे जनमानस में जीवित रहते हैं। वर्तमान मध्यप्रदेश उनका मूर्त स्मारक है, और हमें आशा है कि उसके कर्णधार उनकी हिंदी-नीति पर अविचल रहेंगे।

(चक्रवर्ती) राजगोपालाचारी

श्री राजगोपालाचारी के निधन से गांधी-युग का अंतिम महान स्तंभ गिर गया। लोग उन्हें प्रेम और श्रद्धा से 'राजाजी' कहते थे। राजाजी एक व्यक्ति नहीं, एक संस्था थे। उनके समान मेधावी, दूरदर्शी, निर्भीक, स्पष्टवक्ता और अपने विश्वासों पर बड़े-से-बड़े विरोध के बावजूद दृढ़ रहनेवाला राजनीतिज्ञ शायद इस देश ने आधुनिक युग में दूसरा उत्पन्न नहीं किया। 'सादा जीवन और उच्च विचार' के वे मूर्तिमान उदाहरण थे। जब पाश्चात्य संस्कृति, सभ्यता और विचारों की आंधी से बड़े-बड़े नेताओं के पैर उखड़ गये, उनकी आस्था भारतीय आदर्शों में अडिग बनी रही। एक ओर उन्होंने इस देश के स्वतंत्रता-आंदोलन में सक्रिय भाग लेकर अनेक बार जेल की यातनाएं सहीं जिससे उन्हें दमे का शिकार होना पड़ा, तो दूसरी ओर उन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद बड़े-से-बड़े पदों को अलंकृत किया। मतभेद के कारण उन्हें अपने विरोधियों के ही नहीं, प्रत्युत मित्रों के भी कड़े विरोधों का सामना करना पड़ा। न तो विरोधों और यातनाओं से वे कभी विचलित हुए और न सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होने पर उन्हें कोई विशेष उल्लास या गर्व ही हुआ। गीता के 'सुखे-दुखे समेकृत्वा, लाभलाभौ जयाजयौ' के वे जीवित और ज्वलंत उदाहरण थे। वे सच्चे अर्थों में गीता के अनुसार 'स्थितप्रज्ञ' थे।

राजाजी का जन्म ८ दिसम्बर, १८७८ को तोरपल्ली नामक ग्राम में हुआ था। यह गांव सेलम (अंग्रेजी सालिम, मूल संस्कृत शैलम्) जिले में तमिलनाडु में, मैसूर राज्य की सीमा के पास है। वे एक अत्यंत प्रतिष्ठित श्रीवैष्णव ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम श्री चक्रवर्ती अय्यंगार था। वे एक संभ्रांत जमींदार थे और सरकार ने उनको आनरेरी (अवैतनिक) मुंसिफ बना दिया था। उनका परिवार बड़ा प्रतिष्ठित और विद्वान् था। बहुत दिन हुए हमें किसी मद्रासी सज्जन ने बताया कि वे उसी वंश के थे जिसमें भाष्यकार स्वामी रामानुजाचार्य का

जन्म हुआ था। हमें इस बात को पुष्ट करने का अवसर नहीं मिला। राजाजी के कई पूर्वपुरुष बड़े मान्य विद्वान् थे और मैसूर के दरबार में राजपंडित रहे थे। वे तीन भाइयों में सबसे छोटे थे। उनके दो बड़े भाइयों के नाम श्री नरसिंहाचारी और श्री श्रीनिवास अय्यंगार थे। आरंभिक शिक्षा अपने ही स्थान में प्राप्त कर उन्होंने बंगलौर के सेंट्रल कॉलिज से इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलिज से बी०ए० करके वहीं के लॉ कॉलिज से एल-एल० बी० की। उसके बाद सेलम में वकालत करने लगे। उनकी प्रतिभा के कारण थोड़े ही दिनों में उनकी वकालत चमक गयी और वे वहां के सर्वोत्तम वकीलों में गिने जाने लगे। यहां ही उन्होंने वकालत के साथ-साथ सार्वजनिक कामों में रुचि लेनी आरंभ की। वे सेलम की म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष चुन लिये गये। वे रामानुज संप्रदाय के श्रीवैष्णव थे। श्रीवैष्णवों में आठ प्रमुख भक्त या संत कवि हुए हैं जिन्हें 'आलवार' कहते हैं। इनमें एक (श्रीशठकोप) अंत्यज थे, किंतु हरिजन होने पर भी अपने संतत्व के कारण उनकी गणना प्रमुख श्रीवैष्णव महात्माओं में की जाती है। अतएव श्री राजगोपालाचारी का हरिजनों के प्रति दृष्टिकोण उदार था। उन दिनों वहां के आदि-द्रविड़ों को अंत्यज माना जाता था और वे स्कूल-कॉलिजों में भर्ती नहीं हो सकते थे। राजाजी ने कट्टरपंथियों के कड़े विरोध के बावजूद उनको म्युनिसिपल कॉलिज में भर्ती करने और पढ़ने की आज्ञा देकर एक बड़ा क्रांतिकारी कार्य कर डाला। यही नहीं, उन्होंने आदि-द्रविड़ों को म्युनिसिपैलिटी के जल-कल विभाग में नौकर रखकर उन्हें बम्बों (वाटर पाइपों) की मरम्मत करने के काम पर भी लगाया। इसका भी कड़ा विरोध हुआ। किंतु राजाजी ने उसकी परवाह नहीं की। हरिजन उद्धार का यह कार्य राजाजी ने महात्मा गांधी के हरिजन उद्धार से बहुत पहले ही आरंभ कर दिया था।

उनके समान प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए सेलम बहुत छोटा क्षेत्र था। मद्रास के प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'हिंदू' के प्रसिद्ध संपादक श्री कस्तूरी रंगस्वामी अय्यंगार की सलाह से १९१९ में वे मद्रास आकर वकालत करने लगे। यहां वे फौजदारी के मामलों की वकालत करते थे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने बड़ी ख्याति पैदा कर ली। कुछ राजनीतिक नेताओं पर जब सरकार ने राजद्रोह का मुकदमा चलाया तब राजाजी ने उनकी ओर से पैरवी करके उन्हें छुड़ा दिया। उनकी वकालत खूब चलने लगी और कानून के क्षेत्र में उनका भविष्य उज्ज्वल दीखने लगा।

किंतु १९२६ में महात्मा गांधी मद्रास गये और वहां एक मित्र के यहां संयोग से राजाजी की उनसे भेंट हो गयी। वे महात्माजी के दक्षिण अफ्रीका के कार्यों से परिचित थे और उनके प्रशंसक भी थे, किंतु वे उनके अनुयायी नहीं थे। इस आकस्मिक भेंट ने उनके जीवन की धारा ही बदल दी। वे उनके सहयोगी हो गये और मद्रास में वे उनके आंदोलन के प्रमुख कर्णधार बन गये। उन्होंने असहयोग आंदो-

लन का पूरा समर्थन किया। उस असहयोग में अदालतों और स्कूलों का बहिष्कार भी शामिल था। वेल्लोर में सार्वजनिक सभाएं करने पर रोक लगी थी। उन्होंने उस आज्ञा को भंग किया। इस पर वे पकड़े गये और उन्हें तीन महीने की सादी जेल हुई। यह उनकी पहली जेल-यात्रा थी। बाद में तो न मालूम कितनी बार उन्हें जेल जाना पड़ा।

उनके राजनीतिक जीवन के उतार-चढ़ावों का विवरण देने का यहां अवकाश नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि वे महात्माजी के सबसे निकट के सलाहकार हो गये। वे कई वर्षों तक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सचिव रहे, और प्रायः बीस वर्ष उसकी कार्य-समिति के भी सदस्य रहे। जब गांधीजी ने नमक सत्याग्रह के लिए डांडी यात्रा की, तब राजाजी ने भी मद्रास प्रांत में नमक सत्याग्रह के लिए यात्रा की और वे वेदारण्यम् में पकड़े गये और उन्हें जेल हुई।

वे गांधीजी के रचनात्मक कार्यों में बहुत रुचि लेते थे और उनमें वे बड़े सक्रिय रहते थे। जब श्री चित्तरंजनदास और पं० मोतीलाल नेहरू ने विधानसभाओं में जाने का आग्रह किया और इसके लिए 'स्वराज पार्टी' बनायी, तो राजाजी ने उनका विरोध किया। स्वराज पार्टीवाले तो विधानसभाओं में गये, किंतु राजाजी रचनात्मक कार्यों में लग गये। उन्होंने अपने जिले सेलम में तिरुचैनगोडी में एक आश्रम स्थापित किया और साबरमती आश्रम की तरह वहां रचनात्मक कार्य आरंभ किया। वे नशाबंदी के उतने ही उत्साही समर्थक थे जितने हरिजन उद्धार के।

सन् १९३५ में गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट पास करके ब्रिटिश सरकार ने प्रांतों को सीमित स्वायत्त शासन प्रदान किया। इन नयी विधानसभाओं के लिए जो चुनाव हुए उनमें अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस विजयी हुई, किंतु वह ब्रिटिश सरकार से यह आश्वासन चाहती थी कि गवर्नर उनके सामान्य कार्यों और निर्णयों में हस्तक्षेप न करेंगे। यह आश्वासन १९३७ में मिल पाया, और मद्रास में, राजाजी ने जुलाई में, वहां पहली कांग्रेस सरकार बनायी और उसके मुख्यमंत्री हुए। उन्होंने सबसे पहला काम यह किया कि सरकारी अधिकारियों को यह आश्वासन दिया कि वे उनपर पूरा विश्वास और भरोसा करते हैं। इससे उन्हें उनका पूरा सहयोग मिला। इसके बाद उन्होंने नशाबंदी लागू करने, हरिजनों के मंदिरों में प्रवेश करने तथा कृषकों को ऋण से मुक्त करने के कानून बनाये। उसी समय उन्होंने राज्य की आय बढ़ाने के लिए सबसे पहले बिक्री कर लगाने का कानून बनाया। किंतु १९३९ में जब दूसरा महायुद्ध छिड़ा तब ब्रिटेन द्वारा युद्ध में भारतवासियों की सहमति के बिना भारत को युद्ध में भाग लेने को विवश करने के लिए कांग्रेस ने विधानसभाओं का बहिष्कार किया और कांग्रेस मंत्रियों ने पद-त्याग कर दिया।

बहुत से लोग राजाजी को 'चाणक्य' कहते हैं। जब शत्रु विपत्ति में हो तब उस पर आक्रमण करना या उसे अपंग कर देना 'चाणक्य नीति' कहा जा सकता है। किंतु १९४० में उन्होंने कांग्रेस महासमिति में यह प्रस्ताव रखा कि जब ब्रिटेन के सामने जीवन-मरण का प्रश्न है तब हमें उसके साथ इस शर्त पर सहयोग करना चाहिए कि वह दिल्ली में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बनाने को तैयार हो। किंतु ब्रिटिश सरकार ने यह बात नहीं मानी। फिर पकड़-धकड़ शुरू हुई। ब्रिटिश सरकार ने क्रिप्स को भारत का मामला सुलझाने को भारत भेजा, किंतु मुस्लिम लीग के पाकिस्तान बनाने के हठ के कारण समस्या ज्यों की त्यों बनी रही क्योंकि कांग्रेस और गांधीजी ने पाकिस्तान बनाने की मांग को अस्वीकार कर दिया था। इस पर १९४२ में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन चलाया। दूरदर्शी राजाजी ने स्थिति को समझ लिया था और उन्होंने मुस्लिम लीग की मांग स्वीकार करने को कहा। उन्होंने 'भारत छोड़ो' आंदोलन का समर्थन नहीं किया और कांग्रेस की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। किंतु जब १९४५ में पं० जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग से मिलकर दिल्ली में अंतर्कालीन सरकार बनायी तो राजाजी फिर कांग्रेस में आ गये। वे केंद्र में मंत्री बनाये गये। जब १९४७ में स्वतंत्र भारत की सरकार बनी तो राजाजी को बंगाल का राज्यपाल बनाया गया क्योंकि उस समय वहां की स्थिति बड़ी नाजुक थी। उन्होंने बड़ी चतुरता से बंगाल का शासन किया और जो सांप्रदायिक स्थिति बिगड़ गयी थी उसे बहुत संभाला। इससे उनकी बहुत प्रशंसा हुई। इसके कुछ दिन बाद ही लार्ड माउंटबेटन इंगलैंड लौट गये और भारत के गवर्नर-जनरल का पद खाली हो गया। स्वराज्य प्राप्त हो गया था और किसी भारतवासी को उस पद पर नियुक्त करना था। राजाजी पर सारे देश की निगाह गयी क्योंकि उनसे अच्छा और इस पद के लिए उपयुक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं दीख पड़ता था। अतएव राजाजी भारत के अंतिम गवर्नर-जनरल बनाये गये। उन्होंने बड़ी गरिमा से उस पद का निर्वाह कर सारे देश ही नहीं, सारे संसार को प्रभावित किया। जब भारत गणतंत्र हो गया तब प्रथम राष्ट्रपति के चुनाव का प्रश्न आया। सामान्यतः राजाजी को ही इस पद पर चुना जाना चाहिए था, किंतु कांग्रेस पार्टी ने संविधान सभा के अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद को इस पद के लिए चुना क्योंकि संविधान सभा भारत का संविधान बनाकर समाप्त हो गयी थी और पार्टी के सदस्य उनकी अध्यक्षता से बहुत प्रभावित थे। कहा जाता है कि पं० जवाहरलाल नेहरू राजाजी ही को प्रथम राष्ट्रपति बनाने के पक्ष में थे पर पार्टी का बहुमत राजेन्द्र बाबू के पक्ष में था। अतएव राजाजी राजेन्द्र बाबू को कार्य भार सौंपकर मद्रास चले गये और उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि वे राजनीति से अलग होकर देश की सेवा करेंगे। किंतु सरदार पटेल की मृत्यु के बाद नेहरूजी के अनुरोध पर वे फिर केंद्रीय मंत्री हो गये और गृह विभाग देखने लगे।

राजाजी इस पद पर बहुत दिनों तक नहीं रह सके। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जो पहला चुनाव हुआ उसमें मद्रास-विधानसभा में कांग्रेस दल सबसे बड़ा था, किंतु उसका बहुमत नहीं था। कांग्रेस दल में भी आपसी मतभेद थे। राजाजी ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो मद्रास में स्थिति सुधार सकते थे। अतएव नेहरूजी के अनुरोध पर वे मद्रास लौट गये और उन्होंने वहां मुख्यमंत्री बनकर कांग्रेस सरकार बनायी। किंतु इस बीच देश की स्थिति बदल गयी थी। पर्मिट और कंट्रोल के कारण भ्रष्टाचार बढ़ रहा था। कितने ही कांग्रेसियों ने स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने के बहाने पुरस्कार रूप में सरकार से जमीनें ले ली थीं। राजाजी इसे अनैतिक समझते थे। उन्होंने उन्हें वे जमीनें लौटा देने के लिए विवश किया। इससे कितने ही कांग्रेसी उनके विरोधी हो गये। वे कांग्रेसियों के प्रशासन में हस्तक्षेप करने का भी विरोध करते थे और भ्रष्टाचार को दबाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए बहुत-सा प्रशासनिक कार्य वे स्वयं करते थे। अनेक कांग्रेसजन शिकायत करने लगे कि वे एकाधिकार का प्रयोग कर शासन चला रहे हैं। प्रशासन में भ्रष्टाचार दूर करने के उनके कड़े प्रयत्नों ने भी उनके अनेक विरोधी उत्पन्न कर दिये। विधानसभा में मुख्य विरोधी कम्युनिस्ट दल था। राजाजी कम्युनिस्टों के बड़े विरोधी थे। अतएव कम्युनिस्टों ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाकर उनके विरुद्ध जनता में धुआंधार प्रचार करना आरंभ कर दिया। उसी समय पुराने मद्रास प्रांत के तेलुगूभाषी जिलों में कलग 'आंध्र प्रदेश' बनाने का आंदोलन होने लगा और वे मद्रास नगर को आंध्र में सम्मिलित करने की मांग करने लगे। राजाजी अलग आंध्र प्रदेश के विरोधी नहीं थे, किंतु मद्रास नगर को तमिलनाडु से अलग नहीं होने देना चाहते थे। मद्रास नगर में मद्रास प्रांत की राजधानी होने के कारण, जिसमें तेलुगूभाषी जिले भी थे, उन दिनों तेलुगूभाषियों की संख्या काफी थी। पर मूलतः मद्रास नगर तमिलनाडु का भाग है। अतएव राजाजी ने मद्रास नगर को आंध्र में नहीं जाने दिया। आंध्र प्रदेश बन जाने के बाद नये मद्रास प्रांत में राजाजी के विरोधी और सक्रिय हो गये। श्री कामराज से भी उनका मतभेद हो गया, इसलिए कांग्रेस दल ही में उनका विरोध बढ़ गया। अतएव १९५४ में उन्होंने मुख्यमंत्री के पद से त्यागपत्र दे दिया और प्रशासन से अलग हो गये।

पदमुक्ति के बाद राजाजी को सारे देश और केंद्रीय सरकार की गतिविधियों पर सूक्ष्म विचार करने का समय मिला। वे प्रजातंत्र और कांग्रेस के आदर्शों में पूरा विश्वास करते थे। उधर पं० जवाहरलाल नेहरू 'समाजवाद' ने प्रबल समर्थक थे और वे सरकार और देश को समाजवाद की ओर तेजी से ले जा रहे थे। यद्यपि ऊपर वे कांग्रेस के आदर्शों ही की दुहाई देते थे। राजाजी का विश्वास था कि नेहरूजी की नीति कांग्रेस के आदर्शों के विपरीत है और वह देश के लिए अंततः अनिष्टकारी होगी। इसलिए वे खुलकर कांग्रेस की वामपंथी नीति का विरोध

करने लगे। उन्होंने देखा कि कांग्रेस की वामपंथी नीतियों का विरोध करने के लिए दक्षिणपंथियों का संगठन करना आवश्यक है, इसलिए १९५९ में उन्होंने जनतंत्र की रक्षा के लिए स्वतंत्र पार्टी की स्थापना की। यद्यपि वे वृद्ध हो गये थे और उनका स्वास्थ्य भी खराब हो गया था, फिर भी उन्होंने कांग्रेस की नीतियों के खतरे और स्वतंत्र पार्टी की आवश्यकता लोगों को समझाने के लिए सारे देश का दौरा किया। स्वतंत्र पार्टी स्थापित ही नहीं हो गयी, वह राजाजी के अथक प्रयत्नों से इतनी पक्की हो गयी कि १९६७ के चुनाव में उसने कई राज्यों में अच्छी सफलता प्राप्त की। बाद में श्रीमती इन्दिरा गांधी के 'गरीबी हटाओ' नारे के कारण १९७१ में स्वतंत्र पार्टी को मुंह की खानी पड़ी। इससे राजाजी को निराशा हुई, किंतु उनका साहस कम नहीं हुआ। वे उसे सबल बनाने का बराबर प्रयत्न करते रहे।

राजाजी में अच्छे कामों और उच्च आदर्शों के लिए कितनी दृढ़ता और उत्साह था, इसका एक बहुत अच्छा प्रमाण १९६२ में मिला। आणविक अस्त्रों के भय से सारी मानवता त्रस्त थी। अतएव गांधी-शांति-प्रतिष्ठान ने एक शिष्ट मंडल अमरीका भेजने का निश्चय किया और राजाजी से उसमें सम्मिलित होने की प्रार्थना की। राजाजी की अवस्था उस समय ८४ वर्ष की थी और उनका स्वास्थ्य भी अच्छा न था, फिर भी मानवतावादी राजाजी उसमें सम्मिलित होने को सहमत हो गये। अमरीका में उन्होंने वहां के राष्ट्रपति कैनेडी से भेंट की। कैनेडी उनकी वाग्मिता से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने व्यस्त होते हुए भी उन्हें बहुत काफी समय दिया। राजाजी वहां राष्ट्रसंघ के महासचिव और रूस के विदेश सचिव श्री ग्रोमिको से भी मिले। उन सबसे उन्होंने आणविक अस्त्रों को समाप्त करने का अनुरोध किया। उनके तर्कों से वे लोग बहुत प्रभावित हुए और बाद में रूस और अमरीका में आणविक अस्त्रों को सीमित करने की जो संधि हुई उसको राजाजी के प्रयत्नों का एक परोक्ष परिणाम कहा जा सकता है।

अमरीका से लौटने पर राजाजी फिर अपने काम में लग गये और देशवासियों को प्रजातंत्र और जन स्वातंत्र्य के लिए जो खतरे उत्पन्न हो रहे थे, उनसे साव-धान करते रहे।

राजाजी के जीवन की एक और विशेषता थी। हमारे अधिकांश नेता वक्ता तो हैं, किंतु उनमें से कुछ लोग लेखक भी हैं। उनमें भी साहित्यिक प्रतिभा इने-गिने लोगों ही में है और जिन्होंने लिखा भी है, उन्होंने अधिकांश अंग्रेजी में। राजाजी उच्चकोटि के साहित्यकार थे। वे अंग्रेजी और अपनी मातृभाषा तमिल —दोनों ही के—चोटी के लेखकों में गिने जाते थे। मातृभाषा की सेवा कर उन्होंने हमारे नेताओं के सामने एक अच्छा उदाहरण रखा है किंतु हमारे आज के नेता इतने अंग्रेजीपरस्त हैं कि वे निर्लज्ज होकर अंग्रेजी का पल्ला पकड़े हुए हैं और अपनी भाषाओं की प्रायः अवज्ञा करते हैं। वे वोट लेने के लिए अवश्य ही

अपनी भाषाओं का उपयोग करते हैं किंतु शेष अधिकांश काम—यहां तक कि संसद में (जहां जनता नहीं होती)—अंग्रेजी ही में करते हैं। राजाजी ने जनता के लिए अछूतोद्धार, नशाबंदी आदि पर तमिल और अंग्रेजी में सैकड़ों पैम्फलेट लिखे जिनसे जनता प्रबुद्ध हुई। वे तमिल और अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में बराबर लेख लिखा करते थे। उनमें बहुमुखी साहित्यिक प्रतिभा थी। उन्होंने तमिल में कहानियां, जीवन-चरित्र और दार्शनिक ग्रंथ लिखे। उनका धार्मिक ग्रंथों और विषयों का अध्ययन बहुत गहन था। उन पर भी उन्होंने पुस्तकें लिखीं। उन्होंने विद्यार्थियों के ज्ञानवर्द्धन के लिए विज्ञान-संबंधी पुस्तिकाएं भी लिखीं। उनकी पहली तमिल पुस्तक रोम के विचारक-सम्राट् मार्कस ऑरिलियस पर थी। गीता के दर्शन पर तमिल में उन्होंने 'कन्नन कट्टियवाड़ी' लिखी। उन्होंने तमिल में संक्षिप्त महाभारत लिखा और 'चक्रवर्ती तिरुमगन' नाम से मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवन-चरित्र लिखा। ये दोनों पुस्तकें महत्त्वपूर्ण होने के अतिरिक्त बड़ी लोकप्रिय हुईं। इनके अनुवाद अंग्रेजी में श्री के० एम० मुंशी की 'भवन सीरीज़' में और हिंदी में सस्ता साहित्य मंडल से निकले हैं। उन्होंने नम्माल-वार के 'पसुरम्' पर तमिल में 'भक्ति नेरी' नाम से एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी। 'मुदाल मूवार' के नाम से उन्होंने प्रथम तीन आलवारों के 'पसरमों' के भाष्य भी तमिल में लिखे। इन पुस्तकों और असंख्य लेखों ने राजाजी को तमिल लेखकों की प्रथम पंक्ति में बैठा दिया। अंग्रेजी में उन्होंने 'जेल डायरी' कुरल का अनुवाद 'हिंदूइज्म—डॉक्ट्रिन एंड वे आफ़ लाइफ़', 'अवर डिमोक्रेसी' आदि अनेक पुस्तकें लिखीं। वे अंग्रेजी साप्ताहिक 'स्वराज्य' में प्रति सप्ताह लिखते थे। 'सत्यमेवजयते' के नाम से उन लेखों का संग्रह तीन खंडों में प्रकाशित हो गया है। उन्होंने विद्यार्थियों के अतिरिक्त नव-साक्षर प्रौढ़ों के लिए भी तमिल में एक पुस्तक लिखी थी। उनके समान उच्च राजनीतिज्ञ का यह उच्चकोटि का साहित्यिक कृतित्व आश्चर्यजनक था और उसे 'मणिकांचन' संयोग ही कहा जा सकता है।

अंत में हम उनके हिंदी-प्रचार और विरोध के संबंध में कुछ कहना आवश्यक समझते हैं। राजाजी उन लोगों में थे जो दक्षिण में हिंदी-प्रचार के समर्थक ही नहीं, सक्रिय कार्यकर्ता भी थे। महात्मा गांधी ने अपने रचनात्मक कार्यों में हिंदी के प्रचार को प्रमुख स्थान दिया था क्योंकि राष्ट्र के लिए वे एक भाषा को आवश्यक समझते थे और उनकी सम्मति में वह हिंदी ही हो सकती थी। राजाजी उनसे सहमत थे और आरंभ ही से वे उसके प्रचार में लगे थे। जब वे मद्रास के मुख्यमंत्री हुए और उन्होंने वहां के स्कूलों की कुछ कक्षाओं में हिंदी अनिवार्य कर दी तो कुछ लोगों ने विरोध किया। जब विरोध ने उग्र रूप धारण कर लिया तब राजाजी ने उन प्रदर्शनकारियों को जेल भेजने में भी संकोच नहीं

किया। किंतु बाद में वे उसके विरोधी हो गये। लोग उनके इस असामान्य विचार-परिवर्तन को समझने में असमर्थ हैं। जहां तक हम जानते हैं इसका कारण एक घटना थी जिससे उनके हृदय पर बड़ी चोट पहुंची। महात्मा गांधी की प्रेरणा और सहायता से मद्रास में हिंदी साहित्य-सम्मेलन में 'दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा' स्थापित की थी। बाद में वह सम्मेलन से अलग होकर स्वतंत्र संस्था हो गयी। उसने दक्षिण भारत में हिंदी के प्रचार में अत्यंत प्रशंसनीय कार्य किया। महात्माजी उसके सभापति और राजाजी उसके उप-सभापति थे। महात्माजी के निधन के बाद उसके सभापति चुनने का प्रश्न आया। उस पद पर राजाजी को चुना जाना चाहिए था क्योंकि एक तो वे उससे आरंभ ही से संबद्ध थे, दूसरे वे उसके उप-सभापति थे। उनका पद और उनकी ख्याति भी ऐसी थी कि वे उस पद के सर्वथा उपयुक्त थे। किंतु सभा के सदस्यों ने सभा की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को चुना। राष्ट्रपति के पद के मामले में राजाजी राजेन्द्र बाबू से मात खा चुके थे। यहां भी—मद्रास में—उन्हें 'अपनी पराजय' से गहरा धक्का लगा। चुनाव के बाद ही उन्होंने दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और 'तबेले की बला बंदर के सिर' की तरह सभा के इस विवेकहीन कार्य ने उनमें हिंदी के प्रति विरक्ति उत्पन्न कर दी। तब से वे हिंदी-विरोधी हो गये। हमारा सदैव यह मत रहा है कि अहिंदीभाषी क्षेत्रों में हिंदी के प्रचार का काम वहीं के लोगों को करना चाहिए। उसमें हिंदीभाषियों को न पड़ना चाहिए। राजेन्द्र बाबू हिंदी-भाषी थे। यदि हमारी तरह राजाजी का भी मत यही रहा हो तो उनकी भावना की समीचीनता समझी जा सकती है। उन्होंने हिंदी के प्रचार के लिए जो महान् कार्य किया उसे भूल जाना घोर कृतघ्नता होगी।

उनका जीवन सादगी और भारतीयता से ओत-प्रोत था। मुख्यमंत्री के पद पर रहते हुए भी वे अपने सामान्य मकान में ही रहे। उनका भोजन भी सदैव सामान्य मद्रासी भोजन रहा। उन्होंने कभी अपना देशी परिधान नहीं छोड़ा। चाहे वे मुख्यमंत्री, गृहमंत्री, राज्यपाल या गवर्नर-जनरल के पद पर रहे हों, वे सदैव धोती-कुर्ता ही पहनते रहे। मद्रासी ढंग से बायें कंधे पर दुपट्टा उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। यहां तक कि राष्ट्रपति कैनेडी से भी वे इसी वेश में मिले। जब अनेक बड़े-बड़े नेता उच्च पद पाते ही धोती-कुर्ता पहनना अपनी हैसियत के विरुद्ध समझते हैं और अभारतीय पहनावा पहनना शान समझते हैं तब राजाजी ने धोती-कुर्ते की मर्यादा बनाये रखी।

इन २५ वर्षों में उच्च पद पाने पर कितने ऐसे लोग हैं जिन पर प्रत्यक्ष या परोक्ष में जातिवाद, भाई-भतीजावाद, पक्षपात या अन्य प्रकार के कोई न कोई आरोप न लगाये गये हों? किंतु राजाजी के विरुद्ध उनके शत्रुओं ने भी कभी

ऐसी कोई बात नहीं की। वे नैतिकता और शुद्धता की मूर्ति थे।

राजाजी प्रखर बुद्धि के थे, वे भावना को उत्तेजित न कर बुद्धि और तर्क-संगत बात ही करते थे। जनता भावना में बह जाती है इसीलिए वे इतने लोक-प्रिय नहीं हुए जितना कितने ही अन्य नेता, जो जनता की भावना को उत्तेजित करने में पटु हैं।

वे अंधविश्वासी नहीं थे, किंतु विवेकशील और उदार आस्तिक हिंदू थे। भारत की स्वतंत्रता की रजत-जयंती के वर्ष में, श्री वैष्णवों के तीर्थ तिरुपति में होने वाले वैकुंठ एकादशी उत्सव के अंतिम दिन तथा ईसा मसीह के जन्म-दिवस पर उन्होंने अष्टाक्षर मंत्र और विष्णु सहस्रनाम को सुनते-सुनते वैकुंठ-यात्रा की।

राजाजी के समान मेधावी,बहुमुखी प्रतिभा और उच्च चरित्रका नेता प्राप्त करना भारत का परम सौभाग्य था, किंतु खेद है कि देश ने उस महान् व्यक्ति से समुचित लाभ नहीं उठाया।

(देशरत्न) राजेन्द्रप्रसाद

मार्च, १९६३ की 'सरस्वती' के ये पृष्ठ छपने ही जा रहे थे कि हमें देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद के आकस्मिक स्वर्गवास का दुःखदायी समाचार मिला। उस दिन संध्या के समय वे पटना विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण देने वाले थे और एक दिन पहले तक स्वस्थ थे। सवेरे ही उन्हें ज्वर हो आया और कालज्वर प्रमाणित हुआ और प्रायः अठारह घंटों की अल्प अवधीय बीमारी ने भारतमाता से उसके सबसे मूल्यवान रत्न को छीन लिया।

प्रायः आधी शती तक राजेन्द्र बाबू भारत के राजनीतिक रंगमंच पर रहे। कांग्रेस के दूसरे (कलकत्ता) अधिवेशन में, जिसमें दादाभाई नौरोजी अध्यक्ष थे, उन्होंने स्वयंसेवक के रूप में कांग्रेस की सेवा आरंभ की, और अपनी योग्यता,

सेवा की उत्कृष्टता, चरित्र की निर्मलता, देश-सेवा की एकांत निष्ठा और लोकप्रियता के कारण वे अंग्रेजी राज्य में अनौपचारिक 'राष्ट्रपति' (जैसा कि उन दिनों कांग्रेस-अध्यक्ष को कहा जाता था) ही नहीं हुए किंतु स्वतंत्र भारत के पहले औपचारिक राष्ट्रपति भी चुने गये। देश ने अपनी श्रद्धा और अपने प्रेम का द्वार उनके लिए उन्मुक्त भाव से खोल दिया था। प्रेम के कारण देशवासी उन्हें 'राजेन्द्र बाबू' के प्रिय नाम से याद करते थे, किंतु श्रद्धा के कारण जनता ने उन्हें 'देशरत्न' की अनौपचारिक उपाधि दे रखी थी।

वे गांधीजी के अनन्य भक्त और अनुयायी थे। यों तो गांधीजी के अनुयायियों की संख्या अनंत थी, किंतु वे उन इने-गिने अनुयायियों में थे जो गांधी जी के वाक्यों और आदेशों को संपूर्ण रूप से स्वीकार कर लेते थे। ऐसा कभी नहीं सुना गया कि गांधीजी के दीर्घकालीन संपर्क में राजेन्द्र बाबू का उनसे कभी कोई गहरा मतभेद हुआ हो। उन्होने गांधीजी को सर्वभाव से अपना नेता और गुरु माना और आजीवन उनके चरणचिह्नों का अनुसरण किया।

वे संविधान सभा के अध्यक्ष चुने गये। संविधान सभा में सभी दलों के सदस्य थे और संविधान तैयार करने का कार्य अत्यंत जटिल था। किंतु राजेन्द्र बाबू ने जिस सफलता के साथ संविधान सभा का संचालन किया उसे देखकर सारा देश और सभी दल के लोग मुग्ध हो गये। यह कहना कठिन है कि उस सफलता का अधिक श्रेय उनकी बेजोड़ योग्यता को था या उनके मृदुल स्वभाव और व्यवहार-कुशलता को।

वे भारत के पहले राष्ट्रपति हुए। यह आधुनिक युग और भारतीय इतिहास का चमत्कार था कि एक आश्रमवासी संत अपनी कुटी छोड़कर दिल्ली के वैभवपूर्ण विशाल राजप्रासाद में जा पहुंचा। किंतु राजप्रासाद उनके सरल हृदय को प्रभावित न कर सका। ऊपरी वैभव रखते हुए भी उसे अपना वातावरण आश्रम का वातावरण बनाना पड़ा। उनके व्यक्तित्व के जादू से उसका पाश्चात्य वातावरण भारतीय हो गया।

स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति की हैसियत से उन्होंने जो परंपराएं स्थापित कीं वे स्वस्थ और भारतीय थीं। राष्ट्रपति दलगत राजनीति से ऊपर है। कांग्रेसनिष्ठ होते हुए भी राजेन्द्र बाबू ने अपने व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया कि वे दलों से ऊपर हैं। वे सारे देश के हैं। वे भारतीय आदर्शों के प्रतीक हैं; उनके रक्षक और पोषक हैं। वे सारे देश के हृदय-सम्राट् हो गये थे।

एशिया और अफ्रीका के कितने ही नव-स्वतंत्र राज्यों में जनतंत्र स्थापित हुए, किंतु असफल रहे। उनके विपरीत भारत में जनतंत्र सफल रहा। वैसे तो इस सफलता का श्रेय सारे देश के राजनीतिक बोध को है, किंतु यदि प्रथम

राष्ट्रपति में व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठकर संवैधानिक मर्यादाओं के पालन करने की अपूर्व क्षमता न होती तो यह कहना कठिन है कि हमारा जनतंत्र इतनी सफलता प्राप्त कर सकता अथवा इतने सुंदर ढंग से चल सकता या नहीं। उन्होंने अपने श्रेष्ठ व्यक्तित्व, उच्च चरित्र तथा आदर्श भारतीय शिष्टता के कारण राष्ट्रपति के गौरव और उसकी मर्यादा को इस महान् देश के राष्ट्रपति के उपयुक्त स्तर पर पहुंचा दिया।

देशरत्न अन्य नेताओं से भिन्न थे। उनकी यह भिन्नता, उनकी विनम्रता, उनकी सादगी, भारतीय आदर्शों, भारतीय जीवन-प्रणाली और धर्मनिष्ठा में परिलक्षित होती थी। उनकी हृत्तंत्री जन-मानस की भावनाओं के साथ समस्वर थी। साधारण भारतीय उनमें अपने आदर्शों, आकांक्षाओं और निष्ठा का मूर्त रूप देखता था। यही कारण है कि वे देशवासियों के हृदय के जितने निकट थे उतने और नेता नहीं हो सके। किंतु उनकी विनम्रता दुर्बलों की विनम्रता नहीं थी। सिद्धांत और सत्य के मामले में वे झुकना नहीं जानते थे। 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' के वे सजीव उदाहरण थे।

उनकी हिंदी-निष्ठा अप्रतिम थी। अन्य नेताओं की तरह उन्होंने अपनी आत्मजीवनी विदेशी भाषा में लिखकर अपनी मातृभाषा के प्रति उदासीनता और अपेक्षा नहीं दिखायी। उन्होंने अपनी आत्मकथा हिंदी में लिखी। उससे हिंदी का गौरव बढ़ा।

हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कराने में उन्होंने जो अप्रत्यक्ष सहयोग दिया उसका मूल्यांकन करना आज संभव नहीं है। हिंदी साहित्य-सम्मेलन के सभापति के पद को उन्होंने सुशोभित किया। राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा के वे आदि-सदस्य रहे। दक्षिण भारत प्रचार-सभा के गांधीजी के बाद वे अध्यक्ष हुए।

राष्ट्रपति भवन में हिंदी को उसका उचित स्थान देने में वे सदैव सतर्क रहते थे। संसद में वे हिंदी में भाषण देते थे। राष्ट्रपति के पद से उन्होंने अपने सीमित क्षेत्र में राष्ट्रभाषा हिंदी को सदैव मान्यता दी। उनके कारण दिल्ली में हिंदी को क्या स्थान मिल गया था, यह उनके वहां से हटने के बाद उसकी स्थिति से प्रत्यक्ष हो जाता है।

पहले राजर्षि टण्डन का और फिर राजेन्द्रबाबू का निधन हिंदी के लिए दुहरे वज्रपात के समान था।

सरस्वती पर उनकी विशेष कृपा थी। सरस्वती के हीरक जयंती उत्सव की अध्यक्षता उन्होंने स्वीकार कर ली थी, किंतु आकस्मिक बीमारी के कारण वे प्रयाग नहीं आ सके। अतएव उन्होंने उस उत्सव का एक भाग राष्ट्रपति-भवन में करने की अनुमति दे दी जिसमें सम्मिलित होकर उन्होंने जो मौखिक काव्यमय और साहित्यिक भाषण दिया वह सरस्वती की ही नहीं, हिंदी भाषा की एक

अमूल्य निधि है।

उनके आकस्मिक निधन से हम स्तब्ध और हत्‌बुद्धि हो गये हैं। इस समय उनके संबंध में अधिक लिखना हमारे लिए संभव नहीं है। वे आधुनिक भारत के निर्माताओं में थे। स्वतंत्रता के बाद के भारत में उनका जो महत्त्वपूर्ण कार्य था, वह आज जनता के सामने नहीं है। भविष्य में जब इतिहास के निष्पक्ष विद्वान् उन गोपनीय कागज-पत्रों का अध्ययन करेंगे जो आज उपलब्ध नहीं हो सकते, तब वे बतला सकेंगे कि स्वतंत्र भारत के जहाज के कुशल परिचालन में, उसकी गृह और परराष्ट्र नीतियों के निर्धारण में तथा भारत को भारतीय बनाये रखने में उनका कितना महत्त्वपूर्ण योग था। इतिहास ही उनके राजनीतिक व्यक्तित्व को ठीक तरह से उभारकर उनके साथ न्याय कर सकेगा। हम उनके इतने निकट हैं कि उनकी गगनचुंबी महत्ता को ठीक तरह से नहीं आंक सकते।

उनके निधन से गांधी युग की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण कड़ी टूट गयी। आचार्य विनोबा भावे गांधीजी के आध्यात्मिक, और पं० जवाहरलाल नेहरू उनके राजनीतिक उच्चाधिकारी हैं। हमारा सौभाग्य है कि वे अब भी हमारा मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। किंतु राजेन्द्र बाबू उनकी मानवता, उनके निश्छल और सरल व्यक्तित्व, उनके सिद्धांतों, उनकी राजनीति और उनकी भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय के प्रतीक थे। उनका व्यक्तित्व जीसस क्राइस्ट और गांधीजी की याद दिलाता है।

राजेन्द्र बाबू का पार्थिव शरीर भस्म हो गया, और वह भस्म माता गंगा में विसर्जित हो गयी। किंतु उनका चरित्र प्रकाश-स्तम्भ की भांति भारत की अगणित पीढ़ियों का अपनी भारतीयता और स्वतंत्रता को बनाये रखने में मार्ग-दर्शन करता रहेगा। राजेन्द्र बाबू अमर हैं!

(राजा) राधिकारमण प्रसादसिंहजी

हिंदी के प्रसिद्ध और पुराने साहित्यिक, उपन्यासकार और कथाकार राजा राधिकारमण प्रसादसिंह का स्वर्गवास मार्च, १९७१ में हो गया था। मृत्यु के समय उनकी आयु ८१ वर्ष की थी। वे हिंदी की पुरानी पीढ़ी के वरिष्ठ साहित्यकार थे। बिहार में उनके जाने के बाद उस पीढ़ी का शायद और कोई साहित्यकार नहीं रह गया। यों तो राजा साहब ने अनेक नाटक, कहानियां और निबंध भी लिखे हैं, किंतु साहित्य-क्षेत्र में उनकी ख्याति मुख्य रूप से उपन्यासकार के रूप में फैली। उनका सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'राम-रहीम' है जो १९३५ में लिखा गया। उनके अन्य प्रमुख उपन्यास हैं—'नव-जीवन', 'पुरुष और नारी', 'टूटा तारा', 'नारी क्या एक पहेली', 'पूरब और पश्चिम', 'सूरदास', 'संस्कार', 'चुम्बन और चांटा'। उनके कई कहानी-संग्रह भी निकले—'गल्प गुच्छ', 'हवेली और झोंपड़ी', 'गांधी टोपी', 'सजन सजमां', 'देव और मानवी'। इनमें 'गल्प-गुच्छ' उनका सर्वप्रथम प्रकाशन है। उनकी प्रमुख कहानी प्रसादजी के 'इन्दु' मासिक पत्र में छपी थी। उसका नाम था 'कानों में कंगना'। यह बड़ी भावपूर्ण कहानी थी और उसने तत्कालीन साहित्यकारों और आलोचकों का ध्यान राजा साहब की ओर आकर्षित किया। यह १९२८ में छपी थी। राजा साहब ने नाटक तो विद्यार्थी जीवन से ही लिखने आरंभ कर दिये थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जब वे पढ़ते थे तब उनका नाटक 'नये रिफार्मर' वहां खेला गया था। उनके अन्य उल्लेखनीय नाटक हैं 'धर्म की धुरी' और 'अपना-पराया'।

राजा साहब की भाषा की शैली 'हिंदुस्तानी' थी। वे बिहार के आभिजात्य और सामंती वर्ग में उत्पन्न हुए थे। पुरानी पीढ़ी के बिहार के सामंती वर्ग में फारसी का बड़ा प्रचलन था क्योंकि मुगल साम्राज्य के शिष्टाचार का वह वर्ग अनुकरणशील था। वहां इसके अपवाद भी थे जैसे पूर्णिया के राजा कमलानन्द

सिंहजी विशुद्ध हिंदी लिखते थे। किंतु पश्चिमी बिहार के सामंतों में फारसी का प्रभाव अधिक था। राजा राधिकारमण प्रसादसिंह संस्कृत और फारसी दोनों के विद्वान् थे, किंतु उन पर फारसी और उर्दू का प्रभाव अधिक था। फारसी और उर्दू के सैकड़ों शेर उन्हें याद थे जो उनके वार्तालाप को बराबर अलंकृत किया करते थे। इसीलिए उन्हें हिंदी की 'हिंदुस्तानी' शैली अधिक पसंद थी, और उन्होंने अपना साहित्य उसी शैली में लिखा। जिस युग में उन्होंने साहित्य रचना की उस युग में हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का विवाद जोर से चल रहा था और हिंदी संसार ने हिंदुस्तानी शैली को अस्वीकार कर दिया था। यही कारण है कि उपन्यासों की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी उनके उपन्यास हिंदी साहित्य जगत् में उतने प्रचलित और समादृत नहीं हुए जितने होने चाहिए थे। किंतु राजा साहब हृदय से हिंदी-निष्ठ थे और अपने ढंग से वे आजीवन हिंदी की सेवा करते रहे। उनके उपन्यासों में समाज के सर्वेक्षण की पैनी दृष्टि मिलती है और इसमें उसका यथार्थ और 'हृदयग्राही चित्रण' किया गया है। कहीं-कहीं व्यंग्य का कलापूर्ण उपयोग भी किया गया है। वे अच्छे कलाकार थे और उन्होंने अपनी लेखनी से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया तथा उसकी निस्पृह सेवा की।

उनके निधन से हिंदी संसार ने अपना एक वयोवृद्ध एक उच्चकोटि का साहित्यकार खो दिया। बिहार के साहित्य संसार की क्षति तो अपूरणीय है। हम उनकी स्मृति के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं तथा उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करते हैं।

(डॉक्टर) राममनोहर लोहिया

प्रसिद्ध समाजवादी नेता डा० राममनोहर लोहिया का स्वर्गवास अक्तूबर '६७ में दिल्ली में हुआ। भारत के राजनीतिक मंच से एक तूफानी, स्वतंत्रचेता, चिंतक और प्रभावशाली नेता उठ गया। फैजाबाद जिले ने दो चोटी के समाज-

वादी नेता दिये : आचार्य नरेन्द्रदेव और डा० राममनोहर लोहिया । दोनों ही मौलिक चिंतक, भारत में समाजवाद के संस्थापक और उसके स्तंभ थे। आचार्यजी सही अर्थों में उत्तर भारत के आभिजात्य वर्ग के सद्‌गुणों के मूर्तिमान् प्रतिनिधि थे। चार-पांच लाख के विशाल भवन में रहकर भी पिसती हुई जनता के दु:ख से उनकी हृत्तंत्री के तार झंकृत हो उठते थे। लोहियाजी जनता में घुल-मिलकर अपने संवेदनशील हृदय से उनके दु:ख-सुख की अनुभूति करते थे। इसी कारण अभावग्रस्त जनता से उन्हें इतनी गहरी सहानुभूति थी । वही उनके जीवन और कार्य की सबसे प्रबल प्रेरक शक्ति थी। उनका सारा चिंतन, सारे प्रयत्न उसी दलित जनता के उत्थान के लिए होते थे।

आस्ट्रेलिया के एक कवि सीली (Seeley) ने लिखा है—

No heart is pure which is not passionate,
No virtue is safe that is not enthusiastic.

"वह हृदय शुद्ध नहीं है जिसमें प्रबल आवेश नहीं है और कोई गुण बहुत दिनों नहीं बना रह सकता यदि उसके लिए अदम्य उत्साह न हो।" सीली के इस कथन के अनुसार लोहियाजी का हृदय अत्यंत शुद्ध था क्योंकि उनमें प्रबल आवेश था। उनमें सात्विक आक्रोश अनुभव करने की अपूर्व क्षमता थी। और उनकी अपने विश्वासों में इतनी प्रबल निष्ठा थी, उन्हें साकार करने का इतना अदम्य उत्साह और साहस था कि वे उनके विषय में कोई समझौता नहीं कर सकते थे। इस देश ने तुष्टीकरण और समझौता करने में कमाल कर रखा है। हम डाकुओं का, राज-द्रोहियों का और शत्रुओं तक का तुष्टीकरण करने को सदैव तैयार रहते हैं। झगड़े से बचने के लिए बड़ी-से-बड़ी बात पर समझौता करने को प्रस्तुत रहते हैं। यदि हमारी चलती तो सीताहरण के बावजूद हम राम और रावण में समझौता कराने का प्रयत्न करते। ऐसे वातावरण में लोहिया का 'न दैन्यं न पलायनम्' का रूप यदि लोगों को अटपटा मालूम होता था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किंतु उन्हें इसकी परवाह न थी। वे इतने ऊंचे थे कि सस्ती लोकप्रियता और वाहवाही उन्हें स्पर्श भी न कर सकती थी। वे निर्भीकता की मूर्ति थे। जिस बात को वे ठीक समझते वह कितनी ही कड़वी क्यों न हो और उससे बड़े-से-बड़ा आदमी भी नाराज क्यों न होता हो—उसे कहने में उन्हें रत्ती-भर भी हिचक नहीं होती थी।

यह आलोचना उनके 'सतत आंदोलन' का एक अंग थी। वे जबर्दस्त आंदोलन-कारी थे, और आंदोलन में उन्होंने अपने अनुयायियों को असाधारण तरीके ग्रहण करना सिखलाया था जिनके कारण संसद और विधानसभाओं के गंभीर वातावरण में कभी-कभी काफी हंगामे हो जाते थे। उन्हें सत्ता नहीं मिली, इसलिए उनकी रचनात्मक प्रतिभा का व्यावहारिक रूप देखने का लोगों को अवसर नहीं मिला,

किंतु ध्वंसात्मक कार्यों में वे हिंदुओं के त्रिदेवों में से तीसरे रूप 'शिव' थे। १९४२ के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में गुप्तवास कर उन्होंने अपनी ध्वंसात्मक प्रतिभा का अच्छा और बड़ा सफल परिचय दिया था।

उनकी इसी ध्वंसात्मक प्रतिभा के कारण उसी प्रवृत्ति के बहुत से लोग आकर्षित होकर उनके अनुयायी हो गये थे। सच तो यह है कि उनके अनुयायियों में कितने ही ऐसे लोग थे जो शिव की बारात के सदस्य होने योग्य थे। वे एक विशेष प्रतिभा और स्वभाव के लोगों के साथ ही काम कर सकते थे। इसीलिए वे अन्य लोगों के साथ समन्वय नहीं कर पाते थे, और इसी कारण बार-बार समाजवादी संस्थाओं में परिर्तन होते रहे। उन्होंने जो संयुक्त समाजवादी दल बनाया उसमें ऐसे-ऐसे तत्व हैं जो उनके व्यक्तित्व और प्रतिभा से दबे और अनुशासित रहते थे, किंतु अब उनके बाद यदि ये तत्व मिले रहे और इस दल को चलाते रहे तो आश्चर्य ही होगा।

व्यक्तिगत रूप से लोहियाजी निस्पृह साधु थे। नेहरूजी की तरह ही वे धर्म-निरपेक्ष—या लामजहब—थे। किंतु उनका हृदय बड़ा सरस था और उनकी विनोद-प्रियता ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा। मृत्यु-शय्या पर भी उनका विनोद चलता रहा। श्री मुरारजी देशाई उन्हें देखने गये। जब वे चले गये तब उनके कुछ मित्र, जो बाहर चले गये थे, कमरे में आये। उन्होंने उनसे पूछा कि मुरारजी भाई क्या कहते थे। लोहियाजी बोले—"यहां भी वही कहा जो मुझसे संसद में कहा करते हैं कि चुप रहो, शांत रहो !" डाक्टरों के यह कहने पर कि हमें दुख है कि हम आपको शीघ्र अच्छा नहीं कर पा रहे, वे बोले—"चिंता मत कीजिए। इस देश में राजनीतिज्ञों और डाक्टरों का अज्ञान एक समान है।" एक पुराने मित्र उन्हें देखने गये। लोहियाजी ने उनसे पूछा—"आप क्या समझते हैं—मैं अच्छा हो जाऊंगा ?" उन्होंने कहा—"निश्चित रूप से। आप शीघ्र ही तंदुरुस्त हो जायेंगे।" लोहियाजी ने उत्तर दिया—"मालूम पड़ता है कि तुम भी झूठों की पलटन में भर्ती हो गये हो।

उनका जीवन देश, दरिद्रनारायण और मानवता की सेवा में अर्पित था। वे आजीवन अविवाहित रहे और अपरिग्रह उनका व्रत था। हिंदी के वे एकांत भक्त थे। लोहियाजी के समान प्रखर बुद्धि, दृढ़ और निर्मल चरित्र तथा विशुद्ध सेवाभाव वाले लोग जब कभी ही उत्पन्न होते हैं। उनकी मृत्यु पर उनके राज-नीतिक विरोधियों तक ने उनकी ईमानदारी, उनकी निस्पृहता, उनकी जनता को उठाने की तीव्र इच्छा और प्रयत्नों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनकी मृत्यु से भारत के राजनीतिक आकाश का एक अत्यंत उज्ज्वल नक्षत्र टूट गया।

उनके चरित्र के इस पहलू का पहला परिचय तब मिला जब वे जर्मनी में विद्यार्थी थे। वे जिनेवा गये हुए थे जहां उन दिनों लीग आफ नेशन्स का अधिवेशन

हो रहा था। वे दर्शकों की दीर्घा में बैठे थे। एक महाराजा (शायद अलवर नरेश) को ब्रिटिश सरकार ने भारत का प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। जब वे बोलने खड़े हुए तब नवयुवक लोहिया को यह अत्यंत असंगत और अपमानजनक मालूम हुआ कि भारत की जनता का प्रतिनिधित्व एक महाराजा करे। लीग आफ नेशन्स का वातावरण बड़ा शांत था। उस गौरवपूर्ण वातावरण में जोर से बोलना भी अशिष्ट समझा जाता था। लोहिया अकेले थे। कोई दाद देनेवाला या साथ देनेवाला भी न था। किंतु वे भारत के प्रतिनिधित्व की यह छीछालेदर सहन न कर सके। उन्होने दीर्घा में खड़े होकर पूरी आवाज में महाराज के प्रतिनिधित्व का विरोध किया। लीग आफ नेशन्स के विशाल भवन में इस असंभावित घटना से तहलका मच गया। पुलिस ने उन्हें निकाल दिया। किंतु जिस धातु के वे बने थे, उसके कारण उन्होंने जो किया उसके लिए वे विवश थे। लोकसभा में उनकी उग्रता से कभी-कभी कुछ लोग असंतुष्ट हो जाते थे, और उनके इस व्यवहार का कारण राजनीतिक असफलता-जनित कुंठा बतलाते थे। किंतु वे यह भूल जाते थे कि सत्रह वर्ष की अवस्था में जो एकाकी व्यक्ति विदेश में (और वह भी लीग आफ नेशन्स के गंभीर वातावरण में) उस चीज को सहन नहीं कर सका जिसे वह बेहूदा या अनुचित समझता था (जब उसे कोई कुंठा नहीं हो सकती थी) तब अपने ही देश की जनता की प्रतिनिधि सभा में उसका वैसा व्यवहार कितना स्वाभाविक था।

उनके प्रबल अंग्रेजी-विरोध का कारण भी जनता का हित ही था। वे जानते थे कि जनता देश की समस्याओं को तभी समझ सकती है और उनके सुलझाने में तभी सक्रिय सहयोग दे सकती है जब देश का सब काम उसकी भाषा में हो। जब तक अंग्रेजी रहेगी तब तक जनता अपनी मालिक नहीं हो सकती, और सत्ता देश के मुट्ठी-भर अंग्रेजीदां लोगों के हाथ में रहेगी। शायद इस बात को दूसरे बहुत-से नेता भी समझते हैं, किंतु उनमें अपने निहित स्वार्थों का इतना मोह है या वे परिवर्तन से इतने डरते हैं कि वे सिद्धांततः इसे सही मानते हुए भी इसका खुलकर समर्थन नहीं कर सकते। लोहियाजी में इतना साहस था कि वे इस बात को जोर से कह सकें। कहें ही नहीं, उसके लिए उग्र उपाय भी करें। वे संसद में सदैव हिंदी में बोलते थे। वे ही नहीं, उनके अनुयायी भी—जो विभिन्न प्रांतों के हैं—हिंदी ही में बोलते रहे हैं। देशी भाषाओं के इतने ईमानदार और सबल समर्थक देश में कितने हैं ?

लोहियाजी व्यक्ति-पूजा के विरुद्ध थे। कहना चाहिए कि वे मूर्तिभंजक थे। देश में पंडित जवाहरलाल नेहरू की व्यक्ति-पूजा बहुत बढ़ गयी थी। लोहियाजी ने कटु आलोचनाओं के हथौड़ों के प्रहारों से जनता के मानस में बनी उनकी मूर्ति को बहुत कुछ भग्न करने का प्रयास किया। यह कहना कठिन है कि उन्हें कितनी

सफलता मिली, किंतु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे एकदम असफल ही रहे। उनकी आलोचनाओं के पहले देश में खुले ढंग से नेहरूजी की आलोचना बहुत कम होती थी, किंतु उनकी आलोचनाओं से और लोगों को भी प्रोत्साहन मिला। जनता की आय (जिसे नेहरूजी ने अधिक और लोहियाजी ने तीन आना प्रतिदिन बतलाया था) लेकर संसद में दोनों के बीच बड़ा मनोरंजक वाद-विवाद हुआ था, और अंत में नेहरूजी को लोहियाजी के मत की सत्यता स्वीकार करनी पड़ी।
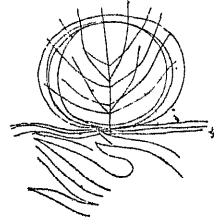
(पंडित) रामनरेश त्रिपाठी

हिंदी के प्रसिद्ध लेखक और कवि पं० रामनरेश त्रिपाठी का स्वर्गवास १६ जनवरी १९६२ को प्रयाग में हो गया था। मृत्यु के समय उनकी आयु ७२ वर्ष की थी। वे सरस्वती हीरक जयंती समारोह में सम्मिलित होने के लिए १२ जनवरी को प्रयाग पधारे थे। वे दोपहर में प्रयाग पहुंचे और संध्या के समय समारोह में सम्मिलित हुए। वहां उनका बहुमान हुआ। वे स्वस्थ और प्रसन्नचित्त थे। समारोह में सम्मिलित होकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रयाग में वे हिंदी साहित्य-सम्मेलन के अतिथि-भवन 'सत्यनारायण कुटीर' में ठहरे थे। दूसरे दिन संध्या समारोह में आये हुए अज्जनों के लिए जलपान का आयोजन किया गया था। उन दिनों प्रयाग में शीत कुछ अधिक थी। अतएव उन्होंने शीत के कारण संध्या के समय जलपान में न आने के लिए क्षमायाचना का पत्र लिखा। दूसरे दिन, अर्थात् १४ जनवरी को सबेरे प्रायः चार बजे उन्हें सहसा हृदय का दौरा हो आया। पास के कमरे में सूचना विभाग के उपसंचालक पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र ठहरे हुए थे। हृदय के दौरे के कारण त्रिपाठीजी को सांस लेने में कठिनाई हो रही थी और वे जोर-जोर से हांफ रहे थे। उनके हांफने की आवाज सुनकर मिश्रजी उनके कक्ष में गये। उन्होंने समझा कि त्रिपाठीजी को शीत लग गयी है और उन्हें निमोनिया हो गया है जिससे उन्हें सांस लेने में कष्ट हो रहा है। तुरंत ही पड़ोस के एक

डाक्टर बुलाये गये। उन्होंने उनका परीक्षण करके उनके रोग को हृदय का दौरा बतलाया। तुरंत ही टेलीफोन से नगरप्रमुख श्री बालकृष्ण राव को और हमें सूचना दी गयी। हम लोग उनके पास पहुंचे। श्री राव ने त्रिपाठीजी की बराबर देखरेख के लिए डाक्टरों का तथा चिकित्सा का समुचित प्रबंध कर दिया। उनका चाप गिरने लगा किंतु संध्या को ९० अंश पर स्थिर हो गया। दूसरे दिन सबेरे उनका रक्तचाप १०० अंश हो गया और संध्या को १०५ अंश पहुंच गया। इससे हम लोग आश्वस्त हुए। उस दिन हम अंतिम बार उन्हें देखने रात्रि में आठ बजे गये और उन्हें बहुत प्रसन्नचित्त पाया। उनके बड़े सुपुत्र श्री आनन्दकुमार भी सुलतानपुर से आ गये थे और मझले पुत्र श्री वसंतकुमार तो उनके साथ आये ही थे। १६ जनवरी को सबेरे पांच बजे वे शौच के लिए उठे। डाक्टरों ने उन्हें उठने-बैठने, चलने-फिरने के लिए मना कर दिया था। उनके परिचारिकों ने उनसे कहा कि चारपायी पर ही शौच का प्रबंध कर दिया गया है और उन्हें शौचालय नहीं जाना चाहिए। किंतु वे नहीं माने। उठकर शौचालय गये। वहां पहुंचते ही उन्हें हृदय में पीड़ा मालूम हुई और उनके चिल्लाने से लोगों ने लाकर उन्हें चारपायी पर लेटा दिया। उन्होंने काफी मांगी और पी ली। इस बीच डाक्टर के लिए आदमी भेज दिया गया था। किंतु डाक्टर के आने के पहले ही सहसा उनके हृदय की गति रुक गयी।

इसके पहले उन्हें कभी हृदय का दौरा नहीं हुआ था। इधर उन्हें स्वास्थ्य की कोई विशेष शिकायत न थी। शीत से वे अवश्य घबराते थे और इसीलिए वे सुलतानपुर से प्रयाग दिन ही में आये। समारोह में सम्मिलित हुए, किंतु दूसरे दिन कहीं नहीं गये। ऊपर से स्वस्थ होने पर भी उन्हें अपने अंत का कुछ आभास हो गया था। समारोह से वे पं० रामप्रताप त्रिपाठी के साथ लौटे। रास्ते में उन्होंने रामप्रतापजी से कहा कि अब यह शरीर अधिक नहीं चलने का। जो कुछ भी करना है वह तुरंत कर लेना चाहिए। उन्हें प्रयाग बहुत प्रिय था। वही उनका कर्मक्षेत्र रहा। हिंदी और हिंदी साहित्य सम्मेलन से उन्हें बड़ी ममता थी। नियति उन्हें प्रयाग ले आयी। वहां कितने ही पुराने साहित्यिक मित्रों से एक साथ भेंट हो गयी। उत्तरायण के सूर्य में, एकादशी के दिन, गंगाजी के किनारे प्रयाग में, पुत्रों और मित्रों के बीच, हिंदी के मंदिर में उन्होंने प्राण छोड़े। हिंदू मान्यताओं के अनुसार ऐसी मृत्यु पुण्यात्माओं को ही मिलती है। किंतु उनके निधन से हिंदी की पिछली पीढ़ी का एक कर्मठ, स्वावलंबी और कल्पनाशील प्रमुख साहित्यकार चला गया। ग्रामगीतों का उद्धार कर उन्होंने जनता का ध्यान उनके अध्ययन और संरक्षण की ओर खींचा। खड़ीबोली कविता को लोकप्रिय बनाने में उनका योगदान बड़ा मूल्यवान् था। हिंदी कविता-कौमुदी ने कितने ही हिंदी पाठकों का परिचय हिंदी काव्य से कराया। उनके 'पथिक' और 'मिलन'

खड़ी बोली काव्य के विकास के स्मरणीय सौपान हैं। और यह सब उपलब्धियां उन्होंने अपने ही बल पर प्राप्त कीं। हमें उनके निधन से बहुत दुःख हुआ। सरस्वती के वे बहुत पुराने लेखकों में थे। हम उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(श्री) रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी

हिंदी के बहुमुखी प्रतिभाशाली लेखक और स्वतंत्रता-संग्राम के एक प्रमुख सेनानी श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी के निधन के समाचार से सारा हिंदी संसार शोकमग्न हो गया। बेनीपुरी जी बिहार ही नहीं, हिंदी संसार के प्रमुख लेखकों में थे। इधर कई वर्षों से वे अस्वस्थ थे। कई वर्ष पहले उन पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ था। उससे वे बच तो गये किंतु उनका स्वास्थ्य चौपट हो गया। बेनीपुरी जी ऐसे जीवन से ओत-प्रोत और सदैव सक्रिय रहनेवाले कर्मठ व्यक्ति को रोग के कारण निष्क्रिय देखकर दुःख होता था। वे उस पीढ़ी में थे जिसकी युवावस्था में देश ने युवकों को स्वतंत्रता के संघर्ष के लिए ललकारा था। बेनीपुरी जी उस संघर्ष में मनसा-वाचा-कर्मणा कूद पड़े थे। कई बार उन्हें जेल जाना पड़ा, और उनके सक्रिय जीवन का अधिकांश ईसी संघर्ष में बीता। वे प्रायः बारह वर्ष जंगलों में रहे। किंतु हृदय से वे साहित्यकार थे। राजनीति में तो वे देश की विवशता के कारण पड़े थे। अतएव अपने संघर्षमय जीवन में समय निकालकर वे बराबर साहित्य-साधना करते रहे। वे ऊंचे दर्जे के शैलीकार थे उनकी भाषा में एक अनोखी आत्मीयता और लोच थी जो उनकी कृतियों को विशिष्टता प्रदान करती थी। उनका लेखन किसी एक विधा में सीमित न था। उन्होंने कहानियां, निबंध, नाटक, समीक्षा आदि नाना प्रकार की चीजें लिखीं। उनकी कृतियों की संख्या एक सौ से भी अधिक है। अपने बिखरे हुए साहित्य को उन्होंने 'बेनीपुरी ग्रंथावली' में एक जगह संकलित करने की योजना बनायी थी। उसके कई खंड

प्रकाशित भी हो गये हैं। उनके नाटक मुख्य रूप से ऐतिहासिक हैं। इनमें 'अम्बपाली', 'सीता की मां' और 'सिंहल-विजय' ने विशेष ख्याति पायी। उनकी कृतियों में 'माटी की मूरतें', 'गेहूं और गुलाब', 'लाल तारा', 'चिता के फूल' अत्यंत शक्तिशाली हैं। बेनीपुरी जी का एक और रूप था—वह था संपादक का रूप। वास्तव में उन्होंने साहित्य में प्रवेश पत्रकारिता ही के माध्यम से किया था। वे प्रायः एक दर्जन पत्र-पत्रिकाओं के संपादक रहे। उन्होंने १९२१ में सर्वप्रथम 'तरुण भारत' नामक साप्ताहिक का संपादन किया और मृत्यु से कुछ दिनों पहले तक वे बिहार की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'युगधारा' के संपादक रहे। उनके संपादन में 'हिमालय' नाम का जो मासिक पत्र निकला था वह हिंदी मासिक पत्रों के इतिहास में एक कीर्तिमान बन गया है। उनकी संपादकीय टिप्पणियां बड़ी प्रभावशाली होती थीं। विचारों से प्रगतिशील और नवयुग के प्रतिनिधि थे। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा तो हिंदी की अपूर्व सेवा की ही, किंतु इससे भी अधिक सेवा उन्होंने हिंदी का प्रचार करके और नवयुवकों को हिंदी सेवा की प्रेरणा देकर की। वे वर्षों बिहार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के मंत्री रहे। १९५१ में वे उसके सभापति चुने गये। बेनीपुरीजी बड़े जिंदादिल व्यक्ति थे। उनके साथ जो समय बीतता, वह बड़ा ज्ञानवर्द्धन और मनोरंजन करने वाला होता था। उनके भाषण और संभाषण दोनों ही रोचक और प्रभावशाली होते थे। वे बड़े विनम्र, शिष्ट और सहृदय थे। उनके स्वर्गवास से हिंदी संसार का एक प्रकाशवान नक्षत्र टूट गया। हम उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(महापंडित) राहुल सांकृत्यायन

पिछले एक वर्ष से हिंदी पर बड़े क्रूर ग्रह आये हुए थे। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद, बाबू शिवपूजन सहाय, श्रीसियारामशरण गुप्त,

बाबू गुलाबराय आदि प्रख्यात हिंदी-सेवकों और साहित्यकारों को इस अभागे वर्ष ने हमसे छीन लिया। १३ अप्रैल '६३ को लोकसभा में अंग्रेजी को इस देश में अचल करके हिंदी को उसके न्याय और वास्तविक स्थान से वंचित करने का विधेयक प्रस्तुत किया गया। उसी दिन संध्या को बाबू गुलाबराय का देहांत हुआ और चौबीस घंटे के भीतर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी शरीर छोड़ दिया। इतिहास में हिंदी के ऊपर इतने अल्पकाल में इतनी विपत्तियां एकसाथ कभी नहीं आयीं।

राहुलजी असाधारण व्यक्ति थे। यदि वे भारत के अतिरिक्त किसी दूसरे देश में पैदा हुए होते, अथवा यदि भारत में ही उन्होंने हिंदी में काम न करके अंग्रेजी में लिखा होता तो अंग्रेजीदां नेताओं ने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का व्यक्ति घोषित करके उन्हें कितना उछाला होता ! जितना काम राहुलजी ने किया उतना अपने क्षेत्र में कम ही भारतवासियों ने किया है, किंतु हिंदी में काम करने के कारण देश के अंग्रेजीदां समाज का ध्यान उनकी ओर उचित मात्रा में नहीं गया। राहुलजी के समान अप्रतिम साहित्यकार, विद्वान्, पर्यटक और बहुभाषाविद् व्यक्तियों को भी ये अंग्रेजीदां उचित मान्यता देने को तैयार नहीं हैं क्योंकि वे देशी भाषाओं की सेवा करते हैं। देशी भाषाओं का महत्त्व घटाने के कारण ही उनके चोटी के कार्यकर्त्ताओं की उपेक्षा होना स्वाभाविक है। एक ओर तो यह कहा जाता है कि देशी भाषाओं में कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं होता, दूसरी ओर जो काम करते हैं उनकी उपेक्षा कर और उन्हें उचित मान्यता न देकर उन्हें निरुत्साहित करने का प्रयत्न किया जाता है। तब देशी भाषाएं कैसे पनपें ? हमारे राजनीतिक नेताओं में द्वितीय श्रेणी के राजनीतिज्ञों की मृत्यु पर भी 'संदेश' देने की होड़-सी लग जाती है, किंतु राहुलजी की मृत्यु पर कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। और तो और, हिंदी प्रदेशों के राज्यपालों और उनके मुख्यमंत्रियों ने भी उनकी मृत्यु पर कोई ध्यान नहीं दिया। उत्तर प्रदेश में तो वे पैदा ही हुए थे। बिहार से उनका घनिष्ठ संबंध था। इनके राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों को भी इस क्षेत्र की महान् सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षति का कोई अनुभव नहीं हुआ। दिल्ली के दो अंग्रेजीदां राजनीतिक नेताओं ने अवश्य ही समवेदना प्रकट की। हम इसके लिए उनके आभारी हैं।

राहुल सांकृत्यायन जी का जन्म उत्तरप्रदेश के आजमगढ़ जिले के एक गांव के सरयूपारी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका वास्तविक नाम केदारनाथ पांडे था। उन्होंने गांव में और काशी में संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की। उनका विवाह भी हुआ, और उनकी पहली पत्नी तब गांव में ही थी। किंतु वे एका-एक विरक्त होकर वैष्णव वैरागी हो गये और उनका नया नाम हुआ बाबा

रामउदार। 'सरस्वती' में जब उन्होंने लिखना आरंभ किया तब उनके आरंभिक लेख इसी नाम से छपे थे। वैरागियों का जीवन रुचिकर मालूम होने का शायद एक कारण यह भी था कि वैरागी सतत परिव्राजक होते हैं, और उन्हें आरंभ ही से घूमने का शौक था। वैष्णव धर्म भक्तिप्रधान है। उनकी बुद्धि तर्कप्रधान थी। अत-एव वैष्णवत्व उनसे बहुत दिनों तक नहीं निभा, और वे आर्यसमाजी हो गये। किंतु घूमना जारी रहा। घूमते-घामते वे लंका पहुंचे। वहां बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर वे बौद्ध ही गये। कुछ दिनों भिक्खु भी रहे, किंतु बाद में गृहस्थ हो गये। उनके समान तीक्ष्णबुद्धि एवं विचारवान् व्यक्ति देश की तत्कालीन राजनीतिक हलचलों से अप्रभावित नहीं रह सकता था। वे असहयोग आंदोलन में कूद पड़े। कई बार जेल गये। किंतु उनका विद्रोही हृदय कांग्रेस के संयम, समन्वयवाद आदि से संतुष्ट नहीं रह सका। वे कम्युनिस्ट हो गये। बाद में उन्होंने कांग्रेस का विरोध भी किया, और कांग्रेसी जेल का भी अनुभव प्राप्त किया। किंतु इधर कुछ वर्षों से उन्होंने सक्रिय राजनीति से एकदम वैराग्य ले लिया था। वे अपना सारा समय पठन-पाठन, लेखन और भ्रमण ही में लगाते थे।

वे महान् यात्री थे। यह कहना शायद अत्युक्ति न हो कि भारत के ज्ञात इतिहास में (हमारी जानकारी में) इतना बड़ा भारतीय पर्यटक और कोई नहीं हुआ। उन्होंने श्रीज्ञान और दीपंकर की परंपराओं का पालन ही नहीं किया, उन्हें और आगे बढ़ाया। उन्होंने चार बार तिब्बत की, तीन बार चीन की, कई बार जापान और रूस की तथा मध्य एशिया, ईरान, अफगानिस्तान, योरोप आदि की यात्राएं कीं। किंतु उन्होंने अपने देश की उपेक्षा नहीं की। न मालूम कितनी बार उन्होंने सारे देश का चक्कर लगाया। और उनकी यात्राएं सुगम और 'फैशनेबुल' जगहों तक ही सीमित नहीं थीं। उदाहरण के लिए आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले उन्होंने दुर्गम लद्दाख की यात्रा की थी। ये यात्राएं सैर-सपाटे के लिए नहीं होती थीं, वे कुछ उद्देश्य को लेकर होती थीं। एक-दो बार तिब्बत की यात्रा करने के बाद उन्होंने देखा कि वहां के मठों में ऐसे अनेक हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं जो अब भारत में या अन्यत्र अलभ्य हैं। वे उन्हें ला नहीं सकते थे। किंतु उन्होंने वहां के कई मठों के अध्यक्षों से उनकी प्रतिलिपि या फोटो लेने की अनुमति प्राप्त कर ली थी। उन दिनों पुस्तकों के माइक्रो-फिल्म बनाने की प्रथा बहुप्रचलित नहीं थी, और साधनहीन राहुलजी उसका प्रबंध कर भी नहीं सकते थे। तिब्बत की बीहड़ यात्रा करने को कोई फोटोग्राफर न मिलता था। वे स्वयं विद्याप्रेम के कारण यह सब कर रहे थे, और रुपये के जोर से किसी फोटोग्राफर को ले जाना उनके लिए संभव नहीं था। उन दिनों हम इलाहाबाद में एक सरकारी पद पर थे। उन्होंने अपनी समस्या हमसे कही। न मालूम क्यों उन्हें विश्वास था कि हम यह समस्या हल कर सकेंगे। राहुलजी हमारे मित्र तो थे ही, हमें उनके विद्याप्रेम और अलभ्य

संस्कृत ग्रंथों के उद्धार के कार्य से बड़ी सहानुभूति थी। स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल उनके बड़े मित्र थे और उनका इतिहास प्रतिष्ठान इस यात्रा में उनकी कुछ सहायता कर रहा था। किंतु कोई अच्छा फोटोग्राफर न मिल रहा था जो बिना धन के लोभ के तिब्बत की लंबी, साहसिक और कष्टकर यात्रा करने को तैयार हो। दूसरी बात यह भी थी कि राहुलजी के समान व्यक्ति के साथ निर्वाह करना भी सबका काम न था। यात्रा में दुर्गम पहाड़ों पर चलना आरंभ करते तो सबेरे से संध्या तक अविश्रांत चलते ही चले जाते। लिखने-पढ़ने का काम करने लगते तो एक आसन पर लगातार पंद्रह-बीस घंटे काम ही करते रहते। ऐसे व्यक्ति का साथ देने योग्य व्यक्ति, और वह भी बिना पैसे के लोभ के, कहां मिलता ! संयोग से उन दिनों इंडियन प्रेस में एक नवयुवक फोटोग्राफर काम करता था। वह अविवाहित, स्वस्थ, कष्टसहिष्णु और साहसिक था। बड़ा अच्छा फोटोग्राफर था। हमारी उससे जान-पहचान थी और वह हमें मानता भी था। इंडियन प्रेस के तत्कालीन जनरल मैनेजर श्री हरिकेशव घोष (पटेल बाबू) ने उसे एक लाइका कैमरा दे रखा था जो उन दिनों सर्वोत्तम कैमरा समझा जाता था। हमने उस नवयुवक को राहुलजी के साथ जाने को राजी किया। पटेल बाबू ने भी सहमति दे दी। बिना किसी आर्थिक प्रलोभन के, केवल हमारे कहने पर, उस साहसिक युवक ने तिब्बत ऐसे दुर्गम स्थान की लंबी और कष्टकर यात्रा स्वीकार कर ली। इसके लिए हम उसके सदैव कृतज्ञ रहेंगे। राहुलजी भी उसके कार्य और व्यवहार से बहुत संतुष्ट रहे। उसने उस यात्रा में, राहुलजी के आदेशानुसार और उनके निरीक्षण में, तिब्बती मठों की संस्कृत हस्तलिपियों के कई हजार पृष्ठों के उत्कृष्ट फोटोग्राफ लिये। उस नवयुवक फोटोग्राफर का नाम फेनी मुकर्जी था और वह भारत सरकार के सूचना विभाग में फोटोग्राफर था। उसने लौटकर अपनी यात्रा और राहुलजी की कार्यप्रणाली का जो विवरण दिया उससे हम आश्चर्यचकित रह गये। उस अभियान में लिये गये संस्कृत ग्रंथों के फोटो के एलबम पटना के जायसवाल प्रतिष्ठान में सुरक्षित हैं।

राहुलजी ने जो साहित्य लिखा उसका विषय-वैविध्य, गुण और आकार देख कर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है, विशेषकर तब जब इस बात पर भी विचार करें कि उनके चंचल और अशांत चरण सतत भ्रमण करते रहते थे। उन्हें अपनी लिखी पांडुलिपि को दुहराने का न धैर्य था, न अवकाश। उससे उसमें त्रुटियां भी रह जाती थीं, जो अच्छे संपादन से अनायास दूर हो सकती थीं। उनके अनूदित और मौलिक ग्रंथों की संख्या १५० और २०० के बीच है। उनका शायद सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 'त्रिपिटक' का हिंदी अनुवाद है जिसमें उनका पालि भाषा का पांडित्य भली भांति परिलक्षित होता है। उन्होंने यात्रा-संबंधी अनेक पुस्तकें लिखकर हिंदी यात्रा-साहित्य की समृद्धि की। इनमें उनकी सोवियत रूस और लद्दाख संबंधी

यात्राओं की पुस्तकें अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने कितने ही उपन्यास, कहानियां और नाटक भी लिखे। किंतु ये सब सोद्देश्य थे, अपने विचारों का प्रचार करने के लिए। और इसीलिए वे बहुत विवादग्रस्त रहे, जैसे 'वोल्गा से गंगा तक'। किंतु इन पुस्तकों में भी वे तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण चित्रित करने में सफल रहे। अंतिम कुछ वर्षों से वे इतिहास और दर्शन में विशेष रुचि लेने लगे थे। उनका मध्य एशिया का इतिहास हिंदी का गौरव-ग्रंथ है। उसके जोड़ की पुस्तक अन्य भाषाओं में भी शायद ही कोई हो। उसे साहित्य अकादमी से पुरस्कार भी मिला था। घूमने और सैलानीपन की मात्रा उनमें इतनी अधिक थी कि उन्होंने 'घुमक्कड़-शास्त्र' नाम की अपने ढंग की एक अनोखी और मनोरंजक पुस्तक ही लिख डाली थी। वह भी हिंदी साहित्य की एक अपूर्व निधि है।

उनकी हिंदी-निष्ठा बहुत गहरी थी। हिंदी उनके लिए 'धर्म' थी। उस युग में हिंदी-निष्ठावाले कई नेता थे, किंतु उनकी हिंदी-निष्ठा किसी से कम नहीं थी। जब उनका नाम हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व के लिए प्रस्तावित किया गया तब कुछ अनजान हिंदी-प्रेमियों को उनके संबंध में शंका थी क्योंकि राहुलजी कम्यु-निस्ट थे, और कम्युनिस्ट पार्टी उर्दू या हिंदुस्तानी की समर्थक समझी जाती रही है। कम्युनिस्ट दल का अनुशासन भी बड़ा कड़ा है और लोगों को शंका थी कि दल के अनुशासन के कारण वे हिंदी के हितों की समुचित रूप से रक्षा न कर सकेंगे। किंतु हम लोग जो उन्हें जानते थे, इस बात से आश्वस्त थे कि हिंदी के हित उनके हाथों में पूर्णरूप से सुरक्षित हैं। और जब शंकालु लोगों को आश्वस्त कर दिया गया तब प्रायः सर्वसम्मति से वे सम्मेलन के अध्यक्ष चुन लिये गये। बाद में अपनी हिंदी-निष्ठा के कारण उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी से अलग भी होना पड़ा, किंतु वे हिंदी के प्रति कभी कर्त्तव्यच्युत नहीं हुए। हिंदी के ऐसे निष्ठावान् समर्थक (जो राज-नीति के क्षणिक लाभ को त्याग कर हिंदी के हितों के लिए डट सकें) आज कितने हैं? इसीलिए इस समय, जब हिंदी पर ऐसा संकट है और हमें उनके समान दृढ़ निष्ठावाले नेता की आवश्यकता है, उनका निधन हमारी वेदना को और बढ़ा देता है।

राहुलजी महापंडित और बहुभाषाविद् थे। तिब्बती, चीनी, रूसी आदि दर्जनों विदेशी भाषाओं को वे भली भांति जानते थे। उन्हें बोल सकते थे। उनमें लिख-पढ़ सकते थे। संस्कृत, पालि और अपभ्रंश के तो वे मान्य पंडित थे। दर्शन और इतिहास तथा तुलनात्मक धर्म के वे अद्वितीय विद्वान् थे। अपनी विद्वत्ता के कारण वे रूस के लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए। श्रीलंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष बनाये गये। किंतु हमारे लिए यह लज्जा की बात है कि अपने देश में उनके लिए कोई स्थान नहीं था, क्योंकि वे अंग्रेज़ी के विद्वान् नहीं थे और न उन्होंने किसी

विश्वविद्यालय से वह एम० ए० या पी-एच० डी० ही किया था जिसे आजकल के अपरिपक्व नवयुवक आसानी से कर लेते हैं और जिनके बल पर वे अपरिपक्व युवक विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक-पद पा जाते हैं। इस देश में स्वतंत्रता के बाद भी अंग्रेजी का इतना प्रभुत्व है कि केवल अंग्रेजी की डिग्री न होने के कारण महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन के समान प्रकांड विद्वान् को भी भारत के किसी विश्व-विद्यालय में स्थान नहीं मिल सका। और फिर भी हमारे नेता भारतीय विद्या और पांडित्य के ह्रास पर घड़ियाली आंसू बहाते हैं! किंतु अंग्रेजी न जाननेवाले महान् विद्वान् को भी वे एकदम अयोग्य समझते हैं। स्वदेशमें इस उपेक्षा के कारण तथा अर्थाभाव से पीड़ित होकर, खराब स्वास्थ्य रहने पर भी, उन्हें विवश होकर लंका के विश्वविद्यालय की नौकरी स्वीकार करनी पड़ी। विश्वविद्यालयों की कौन कहे, दूसरी संस्थाओं में भी 'डाक्टरों' के सामने उनकी पूछ नहीं थी। जब काशी नागरी-प्रचारणी सभा में 'हिंदी विश्वकोश' के लिए एक संपादक की आव-श्यकता हुई, तब उनका नाम भी प्रस्तावित हुआ। उनके समान और कोई कर्मठ और विद्वान् व्यक्ति उपलब्ध नहीं था। किंतु डिग्री और डाक्टरी-पदवीहीन राहुल-जी उस पद पर भी न लिये जा सके, और एक डाक्टर उपाधिधारी सज्जन उस पर रखे गये। यह है वह व्यावहारिक सराहना जो इस देश में उन विद्वानों को मिलती है जिन्होंने अंग्रेजी डिग्रियों और डाक्टरी पदवियों को संग्रह न करने की मूर्खता की है! किसी समय कहा जाता था : 'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति'। और आज के स्वतंत्र भारत में 'सर्वेगुणाः अंग्रेजीमाश्रयन्ति'!

रही सम्मान की बात! उत्तर प्रदेश (राहुलजी जहां पैदा हुए थे) अंग्रेजीदां और अंग्रेजीपरस्त लोगों द्वारा शासित विश्वविद्यालयों ने पिछले दस-पंद्रह वर्षों में कितने ही मिनिस्टरों से लेकर बहुचर्चित उपन्यासकारों, लेखकों और कवियों को 'आनरेरी डाक्टरेट' की उपाधियों से सम्मानित किया है। किंतु इन विश्वविद्यालयों के अंग्रेजी वातावरण में विचरनेवाले महाप्रभुओं और आत्मतुष्ट तथा संकुचित हिंदी विभागों ने राहुलजी को इस सम्मान के योग्य भी नहीं समझा। भारत सरकार भी इतने दिनों सोती रही, किंतु वह संयोगवश उनकी मृत्यु से चार महीने पहले सहसा जाग उठी, और उसने उन्हें 'पद्मभूषण' का सम्मान दिया जिसे ग्रहण करने के पहले ही वे चल बसे। किंतु देर से ही सही, और पद्मभूषण ही सही, भारत-सरकार ने उनकी विद्वत्ता और कृतित्व को कुछ मान्यता तो दी! हम इसी के लिए उसके आभारी हैं।

हिंदी जगत् ने अवश्य उन्हें सिर-आंखों पर रखा। उन्हें हिंदी की सर्वोच्च सम्मानित उपाधि 'साहित्य वाचस्पति' भी प्रदान की गयी थी। कम लोग ही जानते हैं कि 'साहित्य वाचस्पति' का सम्मान कितना ऊंचा और महत्त्वपूर्ण है। इतना बतला देना पर्याप्त है कि महात्मा गांधी ने कभी कोई सम्मान या

पदवी स्वीकार नहीं की थी। किंतु जब हिंदी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि देने का प्रस्ताव किया तब उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया था। उसी 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से राहुलजी को सम्मानित किया गया था जिससे गांधीजी तक अपने को सम्मानित समझते थे। हिंदी संसार ने उन्हें दूसरा सर्वोच्च सम्मान हिंदी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाकर दिया।

राहुलजी का व्यक्तित्व बड़ा सरल और आकर्षक था। गंभीर होने पर भी उनमें मानवीयता और विनोदशीलता की पर्याप्त मात्रा थी। हम बहुधा सोचा करते थे कि हममें और राहुलजी में इतनी घनिष्ठता और सौहार्द क्यों है। हममें उनमें कोई साम्य नहीं था। ऐसे दो विषम व्यक्ति मुश्किल से मिलेंगे। हमारे और उनके धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों में आकाश-पाताल का अंतर था। फिर भी प्रायः तीस-पैंतीस वर्ष के परिचय में, जिसने प्रगाढ़ मैत्री का रूप ले लिया था, हमारा उनका मतभेद कभी नहीं हुआ। उनकी प्रगाढ़ हिंदी-निष्ठा और गंभीर विद्वत्ता हमें उनके निकट लाने का कारण थी, किंतु इतने लंबे समय के स्निग्ध संबंध के लिए ये ही बातें पर्याप्त नहीं थीं। वास्तविक कारण उनके हृदय की विशालता, उदारता और दूसरों की भावनाओं का सम्मान करने की प्रवृत्ति थी। वे हमारे साथ कई बार ठहरे। वे जानते थे कि वैष्णव और पुराने ढंग के ब्राह्मण परिवारों में किन बातों का विचार करना चाहिए। हमारे घर की स्त्रियों या बच्चों को उनके व्यवहार या बातचीत से यह कभी नहीं मालूम हुआ कि वे एक 'जातिहीन', 'नास्तिक' या 'मांसभक्षण के प्रचारक' का अतिथि-सत्कार कर रहे हैं। दूसरों की व्यक्तिगत भावनाओं का ध्यान रखना उनकी ऐसी विशेषता थी जिससे उनके सैद्धांतिक मतभेदों की तीक्ष्णता का बोध नहीं होता था। इसीलिए वे सब प्रकार के लोगों में घुलमिल जाते थे और उनके मित्रों तथा प्रशंसकों का समुदाय इतना विस्तृत था।

'सरस्वती' को इस बात का श्रेय और गर्व है कि राहुलजी का साहित्यिक जीवन उसी के पृष्ठों में आरंभ हुआ। उन्होंने हमें कई बार बतलाया था कि 'सरस्वती' ने उन्हें हिंदी साहित्य की ओर प्रवृत्त किया था। उन्होंने सरस्वती के माध्यम से हिंदी की सेवा आरंभ की। उस समय आचार्य द्विवेदीजी इसका संपादन छोड़ चुके थे किंतु जब उन्होंने इनके लेख पढ़े तो तत्कालीन संपादक से लिखकर पूछा कि 'यह नवीन प्रतिभा कौन है?' राहुलजी हमारे मित्र थे, किंतु सरस्वती का संपादन-भार लेने पर हमने उन्हें लेख भेजने को नहीं लिखा। सारे जीवन सरकारी सेवा करने के बाद मित्रों के दबाव से हमने यह नया और गुरुभार ले लिया था, किंतु अपनी अयोग्यता और त्रुटियों को हम समझते थे। इस अनधिकार चेष्टा के कारण साहित्य के महारथियों को (वे भले ही मित्र क्यों न हों) लेख के लिए

लिखने में संकोच होता था। कितने ही मित्रों ने हमारे इस दु:साहस की सफलता पर संदेह भी प्रकट किया था। किंतु राहुलजी ने हमारे बिना मांगे लेख तो भेजे ही, हमारे साहस की सराहना भी की। मृत्यु ने दो-तीन वर्ष पहले जब वे मिले तो बातों-ही-बातों में कहने लगे कि मैं 'सरस्वती' की संपादकीय टिप्पणियों से बहुत घबराता हूं। हमने इसका कारण पूछा तो बोले कि 'सरस्वती' की स्थिति ऐसी है कि उसकी फाइलें भारत ही नहीं संसार के भी कितने ही बड़े पुस्तकालयों में रहती हैं। अन्य पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें कम रखी जाती हैं। इसमें जो कुछ छप जायेगा वह स्थायी अभिलेख हो जायेगा, और आज से सौ-पचास वर्ष बाद जब कोई शोध करेगा तो इसके संपादकीय इस समय की गतिविधियों तथा विचारों के प्रमाण माने जायेंगे। दैनिक, साप्ताहिक तथा कुछ दिन प्रकाशित होनेवाली या नयी पत्रिकाओं की वह स्थिति नहीं है। इसलिए जो कुछ 'सरस्वती' में छपता है उसका स्थायी महत्त्व है।' उन्होंने यह भी कहा कि इसीलिए मुझे संतोष है कि इसके संपादकीय संतुलित होते हैं। हमें किसी की प्रशंसा से इतनी प्रसन्नता नहीं हुई जितनी राहुलजी की इस सरल और हार्दिक सम्मति से। बीमार होने से एक-दो सप्ताह पहले उन्होंने एक लेख भेजा था, किंतु शायद उस समय तक उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो चुका था। अक्षर इतने अस्पष्ट थे कि हम उसे पढ़ ही नहीं सके, और उसके बाद ही वे इतने बीमार हो गये कि उसे उनके पास फिर से लिखने के लिए भेजना बेकार हो गया था। 'सरस्वती' के हीरक जयंती समारोह में सरस्वती के वरिष्ठ लेखक के रूप में उनका भी सम्मान किया गया था, किंतु उन दिनों वे कलकत्ते के अस्पताल में बेहोश पड़े थे और उत्सव में न आ सके। किंतु हमें संतोष था कि उसके विशेषांक के लिए वे एक लेख भेज चुके थे जो उसमें छपा था।

राहुलजी के समान बहुमुखी प्रतिभा के कर्मठ व्यक्तियों को पैदा करने में प्रकृति अत्यंत कृपण है। ऐसे व्यक्ति कभी-कभी ही पैदा होते हैं। वे जन्मजात विद्रोही थे, किंतु पिछले कुछ वर्षों से उनके स्वभाव में बड़ी मृदुता और स्निग्धता आ गयी थी। शिष्टता की वे मूर्ति थे, और अपने विरोधियों से भी उनका व्यवहार कभी भी कटुता या अशिष्टता के निकट नहीं पहुंच सकता था। वे स्वयं विद्वान् थे और विद्वानों का सम्मान करना जानते थे। संस्कृत के सीधे-सादे पंडित, जिनकी विद्वत्ता की थाह हम अपने अज्ञान के कारण नहीं पाते थे और इसलिए हम उनका समुचित आदर नहीं करते थे, उनसे सदैव समादृत होते थे। एक बार एक समिति में हम उनके साथ थे। उसमें दो पुराने ढंग के वैयाकरण थे, और एक आधुनिक ढंग के डाक्टर भी थे। पंडितों ने जो बात कही वह डाक्टर साहब को कुछ 'पंडिताऊ' लगी और उन्होंने उसका विरोध किया। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने राहुलजी से दाद चाही क्योंकि व उन्हें प्रगतिशील समझते थे। किंतु प्रश्न पांडित्य का था। राहुलजी ने बड़ी नम्रता के साथ कहा कि उन दोनों महान् वैया-

करणों के मत के विरुद्ध जाने का मैं साहस नहीं कर सकता। लखनऊ के सम्मेलन ने देवनागरी लिपि में जो 'इ' और 'ई' की मात्राओं में गड़बड़ी पैदा कर दी थी, तथा देवनागरी लिपि में और भी कितने ही ऐसे परिवर्तन कर दिये थे जो जनमत के विरुद्ध थे, उन्हें ठीक कराकर देवनागरी लिपि का रूप शुद्ध करने में भी राहुल-जी का बड़ा हाथ था।

हिंदी की भावी पीढ़ियां इस महान् व्यक्ति को सदैव याद करेंगी। उनकी कर्मठता, उनकी हिंदी-निष्ठा, उनका विद्या-प्रेम, उनका साहस हमारे देश के नव-युवकों को अनंतकाल तक प्रेरणा देते रहेंगे। राहुलजी का चैतन्य अंश तो मृत्यु से साल भर पहले ही समाप्त हो चुका था; पार्थिव शरीर अब समाप्त हुआ। किंतु उनका यशःशरीर चिरजीवी है। उनके आदर्शों और कृतियों से हिंदी का गौरव बढ़ता रहेगा और उनका आदर्श हिंदी लेखकों और कार्यकर्ताओं को बराबर प्रेरणा देता रहेगा।

(पंडित) रूपनारायण पांडे

'सरस्वती' को इस समाचार से हार्दिक दुःख हुआ कि हिंदी के पुराने और प्रतिष्ठित लेखक, कवि, संपादक, अनुवादक और विद्वान् पं० रूपनारायण पांडे का स्वर्गवास हो गया। मृत्यु के समय उनकी अवस्था प्रायः ७५ वर्ष की थी। वे लखनऊ के रहनेवाले थे और वहीं अपने घर पर ही उनकी मृत्यु हुई। उनसे हमारा परिचय सन् १९१५ के लगभग हुआ जब वे कुछ दिनों के लिए प्रयाग चले आये थे और हमारे पड़ोस में ही रहते थे। ज्यों-ज्यों हमारा परिचय बढ़ा त्यों-त्यों हमारा उनके अध्यवसाय, पांडित्य, जीवन की सादगी और विनम्रता के प्रति आदर भी बढ़ता गया। 'सरस्वती' में उन्होंने सन् १९१२ में लिखना आरंभ किया था। उस समय उनकी कई कविताएं प्रकाशित हुई थीं। उस समय वे युवक थे। द्विवेदी जी ने उनकी कविताएं छाप दी थीं, किंतु वे उन्हें जानते न

थे। एक बार जब भेंट हुई तो द्विवेदीजी को संदेह हुआ कि शायद उनकी भेजी हुई प्रौढ़ कविताएं स्वयं उनकी नहीं हैं। द्विवेदीजी दूसरे ढंग के व्यक्ति थे और संदेह का निराकरण किये बिना नहीं मानते थे। उन्होंने पांडेजी को अपने घर पर बुलाया और उनकी परीक्षा लेने के लिए दो समस्याएं देकर उनकी पूर्ति करने को कहा। पांडेजी ने तत्काल बड़ी सुंदर पूर्तियां कर दीं। द्विवेदीजी बहुत प्रसन्न हुए और तब उन्होंने अपने मन का संदेह बतलाया। पांडेजी संस्कृत और बंगला के विद्वान् थे। जिस युग में उन्होंने साहित्य-सेवा आरंभ की उसमें हिंदी साहित्य के भंडार को भरने के लिए दूसरी भाषाओं की पुस्तकों के अनुवादों की बड़ी आवश्यकता थी। पांडेजी ने बहुत से बंगला उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद किया। हिंदीभाषियों को बंगला साहित्य से परिचित कराने में जो काम पांडेजी ने किया, वह किसी ने नहीं किया। उनके अनुवाद इतने अच्छे होते थे कि अनुवाद मालूम ही नहीं पड़ते थे। उनके पढ़ने में मूल पुस्तक का आनंद आता था। उन्होंने श्रीमद्भागवत का दो बार अनुवाद किया। पहला अनुवाद 'शुकोक्ति सुधासागर' के नाम से निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ। दूसरा अनुवाद 'श्रीमद्भागवत' के नाम से हिंदुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ ने बड़ी सजधज से निकाला। प्रकाशकों ने महामना मालवीयजी से इसका 'आमुख' लिखने की प्रार्थना की। पूज्य मालवीयजी श्रीमद्भागवत के बड़े भक्त थे और नित्य उसका पारायण करते थे। उन्होंने कहा कि जब तक मैं अनुवाद को मूल से न मिला लूंगा तब तक 'आमुख' नहीं लिखूंगा। उन दिनों वे बीमार होकर मसूरी चले गये थे। अतएव पांडेजी अनुवाद लेकर उनकी सेवा में पहुंचे और महामना ने प्रायः पंद्रह दिन उस अनुवाद को आद्योपांत देखा। अनुवाद की शुद्धता और भाषा के सौष्ठव से वे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने बड़े प्रेम से 'आमुख' लिख दिया। पांडेजी ने बहुत सी कविताएं लिखीं, किंतु उनका संग्रह प्रकाशित नहीं कर सके। इन दिनों वे उनका संग्रह तैयार करने में लगे थे और हमसे उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं की प्रतिलिपियां मांगी थीं। उनकी छोटी कविताओं में 'दलित कुसुम' बड़ी सुंदर और हृदयग्राही कविता है। वह खड़ी बोली के आरंभिक युग में लिखी गयी थी, और उसमें खड़ी बोली की अभिव्यक्ति शक्ति को देखकर बहुत से शंकाग्रस्त लोगों को उसकी शक्ति में विश्वास हो गया था। पांडेजी की प्रसिद्धि 'माधुरी' और 'सुधा' के संपादन के कारण बहुत हुई। उन पत्रिकाओं का सफल संपादन करके पांडेजी ने अपनी संपादन-शक्ति का अच्छा प्रमाण दिया था। वे बड़े निरभिमानी और विनम्र थे। कितने ही लोगों को उन्होंने साहित्य-सेवा की दीक्षा दी और लिखना सिखाया। किंतु वे दलबंदियों से दूर एकांत जीवन पसंद करते थे। दुर्भाग्यवश आज हिंदी संसार में प्रचार के बिना लोगों का मान नहीं होता। इसीलिए हिंदी संसार ने उनकी सेवाओं का ठीक-ठीक मूल्यांकन

नहीं किया। किंतु वे हिंदी के मौन सेवक थे। उन्होंने हिंदी की सेवा में अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया था। वे प्रतिदान के इच्छुक नहीं थे। उन्हें हिंदी की उन्नति देखकर ही संतोष हो जाता था। ऐसे विद्वान् और मौन तपस्वी के निधन से हिंदी की बड़ी क्षति हुई है। हम उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।
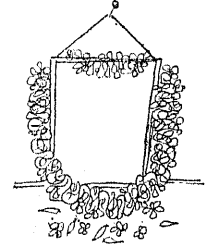
(पंडित) लक्ष्मणनारायण गर्दे

जनवरी '६० में हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ पत्रकार, लेखक, गांधीवादी, सनातन धर्म के व्याख्याता और देशभक्त साहित्य-वाचस्पति गर्देजी का स्वर्गवास ७० वर्ष की अवस्था में काशी में हुआ। गर्दे जी का परिवार पिछली शती में रत्नागिरि जिले से आकर, सागर और झांसी होता हुआ, काशी में बस गया था। काशी में उनकी शिक्षा हुई किंतु वह अधूरी ही रह गयी और उनका विवाह श्री सखाराम देउस्कर की द्वितीय पुत्री के साथ हो गया। देउस्करजी का परिवार प्रसिद्ध मराठा सेनापति भास्कर पंडित के साथ बंगाल आया था और संथाल परगना में बस गया था। देउस्करजी उसी प्रकार बंगवासी हो गये थे। जिस प्रकार गर्देजी युक्तप्रदेशवासी। देउस्करजी बंगला के अच्छे लेखक और गरम राष्ट्रीय विचारधारा के व्यक्ति थे। वे 'हितवाद' के संपादक थे और उनकी बंगला पुस्तक 'देशेर कथा' ने सारे भारत में ख्याति प्राप्त कर ली थी। उसमें उन्होंने अंग्रेजों द्वारा देश के शोषण का इतिहास बड़ी खोज और परिश्रम से लिखा था। वह इस शती का प्रथम दशक था। उस समय देशी भाषाओं में वह अपने ढंग की पहली पुस्तक थी। उसके निकलते ही उसकी धूम मच गयी। अनेक देशी भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ। पहला हिंदी अनुवाद पं० राधा-कृष्ण मिश्र ने किया था जो श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई में छपा था। उसका दूसरा अनुवाद शायद ज्ञानमंडल काशी ने छापा था। ऐसे गरम राष्ट्रीय विचारों के

पत्रकार के जामाता होने का प्रभाव गर्देजी पर यह पड़ा कि वे भी पत्रकारिता की ओर झुके। देउस्करजी के प्रभाव से उन्हें कलकत्ते के हिंदी बंगवासी के संपादकीय विभाग में स्थान मिल गया। हिंदी बंगवासी हिंदी पत्रकारों की प्रशिक्षण-भूमि थी। कलकत्ते का शायद ही कोई हिंदी पत्रकार हो जिसने आरंभिक काल में हिंदी बंगवासी में काम न किया हो। वह अपने समय का सबसे अधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय हिंदी पत्र था। गर्देजी ने भी उसमें पत्रकारिता-कला का आरंभिक पाठ लिया, और वे कई वर्ष उसमें काम करते रहे। फिर अपनी अधूरी शिक्षा पूरी करने के लिए वे काशी लौट गये। जब पं० अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी ने 'भारतमित्र' छोड़ने का विचार किया तो उन्होंने प्रयत्न करके उन्हें उस स्थान पर (संपादक के पद पर) बुलवा लिया। गर्देजी ने कई वर्ष तक उसका बड़ी योग्यता से संपादन किया। बाद में कलकत्ते के प्रसिद्ध डा० बर्मन ने 'श्रीकृष्ण संदेश' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकाला। उनके आग्रह से गर्देजी ने उसका संपादन करना स्वीकार कर लिया। 'श्रीकृष्ण संदेश' अपने ढंग का अनोखा सप्ताहिक पत्र था। उसके अंक—विशेषकर विशेषांक—आज भी पठनीय हैं, और गर्देजी की योग्यता और संपादकीय प्रतिभा के प्रमाण हैं। बाद में वे काशी चले आये। लखनऊ से 'नवजीवन' निकलने पर वे उसके संपादक नियुक्त हुए। किंतु वहां वे अधिक टिक न सके। वे कांग्रेसी थे, किंतु गांधीजी की अपेक्षा तिलक से अधिक प्रभावित थे। उनके धार्मिक विचार भी साधारण कांग्रेसी से न मिलते थे। गीता के वे अनन्य भक्त थे और उसका उन्होंने बड़ा गहन अध्ययन किया था। वे हिंदी के लेखक ही नहीं, उसके बड़े समर्थक भी थे। हिंदी पत्रकारों में उनका नाम उस पीढ़ी के तीन प्रमुख संपादकों में (पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और पराड़करजी के साथ) लिया जाता था। उनका व्यक्तिगत जीवन एक राष्ट्रीय और धार्मिक व्यक्ति का आदर्श जीवन था जिसमें सादगी, सरलता, स्नेहशीलता, उदारता और स्वाभिमान के बराबर दर्शन होते थे। उनकी हिंदी-सेवा के लिए हिंदी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया था। उनका जीवन संघर्ष में बीता। उनके निधन से हिंदी साहित्य और पत्रकारिता का एक स्तंभ ढह गया। हम उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करके उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(श्री) लालबहादुर शास्त्री

ताशकन्द में शास्त्रीजी का अचानक स्वर्गवास भारत के लिए अनभ्र वज्रपात था। ऐसी दुःखांत नाटकीय घटना की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि जब एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अंतर्राष्ट्रीय वार्तालाप में गौरवपूर्ण कार्य करके वे सारे संसार में प्रतिष्ठा, सम्मान और स्नेह के चरम शिखर पर पहुंचे उसी क्षण उन पर यम के दंड का प्रहार होगा। ऐसे रसापकर्ष का स्वप्न में भी भान नहीं किया जा सकता था। किंतु कभी-कभी जीवन की सत्य घटनाएं कल्पनातीत होती हैं। ताशकन्द समझौते पर हस्ताक्षर करने के प्रायः तुरंत बाद ही उनका अचानक स्वर्गवास ऐसी ही कल्पनातीत घटना है।

यह अक्षरशः सत्य है कि उनकी मृत्यु के समाचार से सारा देश स्तब्ध हो गया था। जनता में वे कितने लोकप्रिय हो गये थे इसका प्रमाण वे लाखों सामान्य स्त्री-पुरुष थे जो दुःख से कातर हो उनकी शवयात्रा में सम्मिलित होकर अपनी मौन श्रद्धांजलि दे रहे थे। कश्मीर से कन्याकुमारी तक तथा कांडला से तिनसुखिया तक जनता समान रूप से दुखी थी। केवल अठारह महीने प्रधान-मंत्रित्व के पद पर उन्होंने अपनी दृढ़ता, शिष्टता, नम्रता और कार्यकुशलता से जनता के हृदयों को जीत लिया था। वे संसार के एक विशिष्ट महान् व्यक्ति के तुरंत बाद ही प्रधान मंत्री बने थे। नेहरू के समान तेजस्वी और प्रतिभाशाली व्यक्ति के बाद उनकी कुर्सी पर बैठनेवाले को शासन और जनता में अपना स्थान बनाने में जो असुविधाएं और कठिनाइयां हो सकती हैं और जो हुई होंगी, उनकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। संसार को इस बात की बड़ी आशंका थी कि नेहरू के बाद भारत की नाव का संचालन करने के योग्य देश में कोई व्यक्ति है भी कि नहीं। सारा संसार सोच रहा था कि नेहरू के बाद क्या होगा! ऐसे अव-सर पर नियति ने इस विनम्र और सरल व्यक्ति के कंधों पर इस विशाल देश का

भार रख दिया। उन्हें उत्तराधिकार में अनेक उलझी हुई समस्याएं मिलीं। चीन के आक्रमण से देश के सम्मान, प्रभाव और भावना को जो ठेस पहुंची थी वह तो थी ही, साथ ही कितने ही प्रभावशाली देश भारत से विरक्त या विमुख हो रहे थे। विदेशी मुद्रा की कमी बढ़ती जा रही थी तथा विदेशी सहायता भी अनिश्चित थी। इस कारण चौथी योजना खतरे में पड़ गयी थी। इन्द्र भगवान् के असहयोग के कारण अन्न की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया था और हमारे 'अन्न-दाता' अमरीका का रुख बदल गया था। मानो इतनी आपत्तियां पर्याप्त नहीं थीं और जो कमी रह गयी थी उसकी पूर्ति पाकिस्तान ने कच्छ के रण पर अकारण आक्रमण करके कर दी। कच्छ के रण में पाकिस्तान को अपार सुविधाएं और भारत को असीम असुविधाएं थीं। पाकिस्तान को पीछे हटाने के लिए एक ही उपाय था कि उसके पार्श्व पर राजस्थान से आक्रमण किया जाय। इससे पाकिस्तान को हानि हो सकती थी। इसलिए उसके हिमायती अमरीका और इंग्लैंड सक्रिय हो उठे। एक ने धमकी दी कि यदि पाकिस्तान पर भारत ने आक्रमण किया तो उसके हित में अच्छा न होगा, दूसरे ने मुरब्बी बनकर झगड़े को पंचायत में डाल दिया। शांतिप्रिय शास्त्रीजी अपनी सरलता के कारण यह समझकर राजी हो गये कि पाकिस्तान तुष्ट हो जायेगा। किंतु एक ओर तो वह समझौते पर हस्ताक्षर कर रहा था तथा दूसरी ओर कश्मीर में घुसपैठियों को भेजकर वहां तोड़-फोड़ करने तथा विद्रोह कराने एवं छम्ब होकर कश्मीर पर भीषण आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। और जब उसने आक्रमण किया तब विनम्र और सरल शास्त्रीजी ने अपना तेजस्वी रूप प्रकट किया। उन्होंने पाकिस्तान के आक्रमण का सामना जिस दृढ़ता से किया उससे उनके उस 'वज्रादपि कठोराणि' अंग का परिचय मिला जिससे लोग अपरिचित थे। शांति और युद्ध में उन्होंने समान रूप से अपनी योग्यता का परिचय दिया, और जो सबसे बड़ी बात उन्होंने की वह यह थी कि भारत का खोया हुआ आत्मसम्मान उसे फिर से प्राप्त कराया तथा उसका आत्मविश्वास दृढ़ किया। उनके अठारह महीनों के कार्यकाल में लोग नेहरूजी के अभाव को अपने आप भूल गये। उन्हें यह विश्वास हो गया कि शासन की बागडोर दृढ़, कुशल एवं ईमानदार हाथों में है। केवल अठारह महीनों में यह उपलब्धि एक राजनीतिक चमत्कार थी।

शास्त्रीजी ने एक काम और किया। जनतंत्र में छोटे-से-छोटा व्यक्ति भी ऊंचे पद पर पहुंच सकता है, किंतु सामान्यतः देखा यही जाता है कि जिन लोगों को प्रभावशाली और समृद्ध परिवार में उत्पन्न होकर शिक्षा-दीक्षा की अच्छी सुविधाएं मिलती हैं प्रायः वे ही ऊंचे पदों पर पहुंचते हैं। नेहरूजी राजकुमारों की तरह पले थे और उन्हें अच्छी-से-अच्छी शिक्षा मिली थी। इसके विपरीत शास्त्रीजी एक प्राइमरी स्कूल के 'मुदर्रिस' के पुत्र थे और बाल्यावस्था ही में पितृहीन हो गये

थे। वे चरम दरिद्रता में पले थे और सच्चे अर्थ में आत्म-निर्मित व्यक्ति थे। किंतु दरिद्रता में रहकर भी उन्हें कभी धन का लोभ नहीं हुआ। उन्होंने कभी धन-संग्रह की कामना नहीं की। उन्होंने अपना सारा जीवन लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित 'लोकसेवक मंडल' (सर्वेण्ट आफ पीपुल सोसाइटी) को दे दिया और अंत तक वे उसके सदस्य बने रहे। इस संस्था को जीवन देना मानो जीवन-भर के लिए अपरिग्रह का व्रत लेना है। इसी अपरिग्रह का परिणाम था कि शास्त्रीजी को न कभी बैंक में खाता खोलने की आवश्यकता हुई और न कभी उनके पास इतना धन हुआ कि एक छोटा-मोटा मकान ले लें।

वे सरलता, नम्रता और शिष्टता की मूर्ति थे। यों तो उन पर आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि नेताओं का बड़ा राजनीतिक प्रभाव रहा, किंतु वे सबसे अधिक प्रभावित राजर्षि टण्डन से थे। वे उनके पट्ट शिष्य थे। राजर्षि भी शायद इतना अधिक स्नेह और किसी से नहीं करते थे जितना लालबहादुरजी से। वे उनके अनन्य विश्वास-पात्र थे। उनके जीवन की सादगी, चरित्र की प्रामाणिकता और उच्च आदर्श बहुत कुछ राजर्षि के प्रभाव का परिणाम थे। किंतु राजनीतिक व्यावहारिकता के लिए वे टण्डनजी के आभारी नहीं थे। यह उनकी नैसर्गिक प्रवृत्ति थी। यह उनका अपूर्व गुण था कि वे राजर्षि, नेहरूजी, किदवई साहब और पन्तजी के समान विरोधी तत्त्वों में समान रूप से घुल-मिल ही न जाते थे प्रत्युत उनका एकांत विश्वास भी प्राप्त करने में समर्थ रहते थे। कांग्रेस में वे ही एक व्यक्ति थे जिन पर परस्पर विरोधी नेताओं का समान रूप से विश्वास था।

लालबहादुरजी उस 'जनता' में उत्पन्न हुए थे जिसको उठाने और सुखी करने के लिए शासन प्रयत्नशील है। अभाव, दरिद्रता, कष्टों से उनका निकट का परिचय था। इसलिए वे जानते थे कि जनता की भावना क्या है। वे उसके सुख-दुःख से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे। इसीलिए वे जनता को इतने प्रिय हुए।

वे केवल अठारह महीने प्रधान मंत्री रहे, किंतु ये अठारह महीने भारत के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। गुलाब दो दिन फूलकर अपनी सुषमा और सुरभि से संसार की जो तृप्ति करता है वह पचास साल खड़े रहकर बबूल नहीं कर पाता। उन्हें शासन-संचालन का समय बहुत कम मिला। किंतु जो कुछ उन्होंने इस अल्प अवधि में कर दिखाया वह कितने ही दस-बीस वर्ष में भी न दिखा सकेंगे। किंतु इस संकटकाल में देश की जो क्षति हुई है उसको आंका नहीं जा सकता। सारा देश शोक-कातर है। ऐसी अवस्था में उनके परिवार को कौन सांत्वना दे सकता है? इतने ही से संतोष करना पड़ता है कि वे जिस शान से जिये उसी शान से उन्होंने मृत्यु का आलिंगन किया।
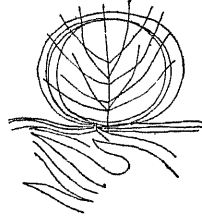
(पंडित) लोचन प्रसाद पांडेय

हिंदी के वयोवृद्ध और द्विवेदी-युग के प्रतिष्ठित साहित्यकार तथा सरस्वती के पुराने लेखक पं० लोचनप्रसाद पांडेय के स्वर्गवास से हिंदी-जगत् की भारी क्षति हुई। पांडेयजी का एक लेख हमने दो-तीन महीने पहले ही प्रकाशित किया था और हम 'सरस्वती' की हीरक जयंती पर उनका विशेष सम्मान करने की कल्पना कर रहे थे। किंतु भगवान् को यह स्वीकार न था और १८ नवम्बर '५९ को हृदय के सहसा रुक जाने से उनकी मृत्यु अपने घर, रायगढ़ में हो गयी। मृत्यु के समय उनकी अवस्था ७५ वर्ष की थी। पांडेयजी लेखक थे, कवि थे, बहुभाषाविद् थे और साहित्य के अतिरिक्त इतिहास, पुरातत्त्व तथा लोकसंस्कृति के अच्छे ज्ञाता थे। वे महाकोशल इतिहास परिषद् के संस्थापक थे, और उन्होंने महाकोशल के इतिहास से सबंधित कितनी ही बहुमूल्य सामग्री का संग्रह किया था। साहित्यकार होने के अतिरिक्त वे साहित्यिक गतिविधियों और हिंदी-आंदोलन में भी रुचि लेते थे। वे १९२० में मध्यप्रदेश के प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये थे। उस अवसर पर उन्होंने बड़ा विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया था। मध्यप्रदेश ही नहीं, सारे हिंदी जगत् में वे द्विवेदी-युग के इने-गिने अवशिष्ट प्रतिनिधियों में रह गये थे। द्विवेदीजी के संपादकत्व काल में उन्होंने 'सरस्वती' में लिखना आरंभ किया और वे वर्षों 'सरस्वती' में नियमित रूप से लिखते रहे। पांडेयजी गद्य भी लिखते थे और कविता भी करते थे। उनकी कविता द्विवेदी युग की खड़ी बोली की कविता थी और उससे उन्हें अच्छी ख्याति मिली थी। साहित्य-सेवा के अतिरिक्त वे छत्तीसगढ़ के सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान में रुचि लेते रहे और राष्ट्रीय विचारधारा के होने के कारण उन्होंने अपने क्षेत्र में राष्ट्रीय सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनका व्यक्तित्व सौम्य था और अपने सहज शील के कारण वे शीघ्र

ही अपरिचितों के भी आदर और स्नेह के पात्र हो जाते थे। उनके निधन से पिछले युग की एक साहित्यिक कड़ी टूट गयी। हम पांडेयजी की स्मृति के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(श्री) वचनेशजी

हमें यह समाचार पढ़कर अत्यंत दुःख हुआ कि हिंदी के वयोवृद्ध और प्रसिद्ध कवि श्री वचनेशजी का स्वर्गवास हो गया। मृत्यु के समय उनकी अवस्था ८५ वर्ष की थी। उनका पूरा नाम बच्चनलाल मिश्र था, किंतु वे अपने उपनाम 'वचनेश' से ही प्रसिद्ध थे। वे लड़कपन से ही छंद बनाने लगे थे। जब उनकी अवस्था चौदह वर्ष की थी तब एक बार कालाकांकर-नरेश 'तत्रभवान्' राजा रामपालसिंह फर्रुखाबाद गये। किसी समारोह में वचनेशजी ने उन्हें अपने छंद सुनाये। उनसे वे इतने प्रभावित हुए कि वचनेशजी को अपने साथ कालाकांकर ले गये। तब से वचनेशजी का संपर्क कालाकांकर से हुआ और उनका अधिकांश जीवन वहीं बीता। हिंदी का पहला दैनिक 'हिंदोस्थान' राजा साहब ने काला-कांकर से निकाला था। महामना मालवीयजी कुछ दिनों उसके संपादक रहे। वचनेशजी उसके संपादकीय विभाग में काम करने लगे। बाद में वे कुमार अवधेशसिंह के अध्यापक नियुक्त हुए। राजा अवधेशसिंह की मृत्यु के बाद उनका मन कालाकांकर से उचट गया और वे अपने घर लौट आये और मृत्युपर्यंत फर्रुखावाद में रहे। राजा रामपालसिंहजी बड़े उग्र राजनीतिक विचारों के व्यक्ति थे। पिछली शती के अंतिम चरण में ऐसे विचारों के व्यक्ति बहुत ही कम थे—और तालुकदारों में तो वे एकमात्र राष्ट्रीय विचारों के सज्जन थे। वचनेश जी भी राष्ट्रीय विचारों के थे और दोनों में अच्छी पटती थी। उन्होंने असंख्य राष्ट्रीय कविताएं, हास्यरस की कविताएं और साहित्यिक कविताएं लिखीं। वे

ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता करते थे। हास्यरस की और राष्ट्रीय कविताएं वे साधारणतः खड़ी बोली में, और साहित्यिक रचनाएं ब्रज-भाषा में लिखते थे।

वचनेशजी की गंभीर कविताओं से उनकी प्रतिभा का सच्चा परिचय मिलता है। 'शबरी' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। वह ब्रजभाषा में है, और आधुनिक ब्रज-भाषा काव्य में उसका स्थान बहुत ऊंचा है। उसमें आस्तिक हिंदू दृष्टिकोण को रखते हुए उन्होंने महात्माजी के हरिजन-उद्धार संबंधी विचारों का बड़ा काव्य-मय प्रभावशाली और चमत्कारपूर्ण सम्मिश्रण किया है। उनकी अधिकांश कृतियां हनुमंत प्रेस, कालाकांकर में छपी थीं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने नाटक भी लिखे थे और वे उन्हें कालाकांकर में खेलते भी थे। उन्हें चित्रकला का भी अच्छा विश्वास था। काव्यशास्त्र का उन्होंने सांगोपांग अध्ययन किया था और उसके अच्छे पंडित थे। वात्सल्य को वे सर्वोत्कृष्ट रस मानते थे। तीन वर्ष हुए, फर्रुखाबाद में जब उत्तर प्रदेशीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था, तब वचनेशजी का ८० वर्ष का अभिनंदन समारोह मनाया गया था। हमने उस समय उनका अंतिम बार काव्य-पाठ सुना था। उस समय भी उनके स्वर की कड़क सुनकर साश्चर्य आनंद होता था। दो-चार हजार श्रोताओं को कविता सुनाने के लिए उन्हें माइक्रोफोन की आवश्यकता वृद्धावस्था में भी नहीं पड़ती थी। वे अत्यंत शालीन और सरल प्रकृति के थे। बच्चों, युवकों और वृद्धों में वे आसानी से घुलमिल जाते थे। वे हिंदी के उस गौरवशाली युग के अवशेष थे जिसमें भारतेन्दु, राजा रामपालसिंह, महाराज प्रतापसिंह, महामना मालवीयजी, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने हिंदी-आंदोलन की नींव डाली थी। -उनसे मिलने पर उस युग का जीवित चित्र सामने आ जाता था। उनके निधन से उस युग की अंतिम कड़ी टूट गयी। हम आदर और श्रद्धा से सदैव उनका स्मरण करेंगे।

(श्री) वासुदेवशरण अग्रवाल

श्री वासुदेवशरणजी के स्वर्गवास से हिंदी ही नहीं, भारतीय संस्कृति और प्राचीन भारतीय इतिहास का एक जाज्वल्यमान नक्षत्र टूट गया। वे अपूर्व विद्वान् विचारक और भारतीय संस्कृति के व्याख्याता थे। वैसे तो हमारा उनका सामान्य परिचय पहले ही से था, किंतु जब वे मथुरा के कर्जन संग्रहालय के अध्यक्ष थे तब हमें उन्हें निकट से जानने का अवसर मिला। कई बार जब हम दौरे पर मथुरा गये तब हमें उनका आतिथ्य ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय वे ब्रज की संस्कृति, कला और साहित्य का विशेष अध्ययन कर रहे थे। मथुरा संग्रहालय कुशानकालीन कला का संसार में सर्वोत्तम संग्रहालय है और वासुदेवशरणजी ने अपनी सूझबूझ से उसकी काया पलट दी तथा उसे भारत का एक अत्यंत सुव्यवस्थित संग्रहालय बना दिया। बाद में जब वे दिल्ली के मध्य एशिया संग्रहालय के अध्यक्ष हुए तो उन्होंने मध्य एशिया से प्राप्त प्राचीन बौद्ध भित्तिचित्रों के प्रदर्शन में बड़ा सराहनीय कार्य किया। संग्रहालयों की अत्यंत दक्ष और कुशल व्यवस्था के साथ-साथ उनका अध्ययन और लेखन-कार्य बराबर चलता रहता था। लगातार वर्षों तक चलनेवाले इस दुहरे घोर शारीरिक और मानसिक परिश्रम को उनका सुकुमार शरीर न झेल सका, और उन्हें भयंकर मधु-मेह हो गया। कई बार उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया और अंत में प्रकृति ने उनकी जीवनलीला समाप्त करके ही दम लिया।

सुकुमार शरीर और चिंताजनक स्वास्थ्य के बावजूद उन्होंने जो कार्य किया उसे देखकर आश्चर्य होता है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके सांस्कृतिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक लेखों की संख्या एक हजार से भी अधिक होगी। उनमें उच्च कोटि की सामग्री भरी पड़ी है। उनके कोई-कोई लेख तो शैली और विषयवस्तु की दृष्टि से हिंदी-साहित्य के गौरव हैं। उन्होंने कुछ वर्ष पूर्व

अहमदाबाद की गुजरात विधानसभा में स्वर्गीय दादा साहब मावलंकर की अध्यक्षता में मथुरा कला पर चार व्याख्यान दिये थे। वासुदेवशरणजी ने ये व्याख्यान अंग्रेजी में न देकर हिंदी में दिये थे। इस पर वहां के प्रमुख गुजराती पत्र 'प्रजाबंधु' ने लिखा था—"डा० अग्रवाले व्याख्यानो आपवाने माटे अंग्रेजी नो नहीं पण हिंदी नो आश्रय लीधो हतो। ए विशे श्रोताजनोनुं ध्यान खेंचीने दादा साहेबे जणाव्युं हतुं के अंग्रेजी विना चाले ज नहीं ए मान्यताने एम करीने एमणै पडकार आप्यो छे। अंग्रेजी करतां हिंदी मां व्याख्यानो अपायाथीं लोको बधारे संख्यां मां लाभ लई शक्या छे अने वधारे प्रमाणमां समजी पण शक्या छे। हिंदुस्तानी राष्ट्रभाषा छे एनुं पण व्याख्यानो एक प्रमाण छे।" गुजरात में हिंदी में व्याख्यान देकर उन्होंने अपनी हिंदी-निष्ठा ही व्यक्त नहीं की, प्रत्युत भारी संख्या में श्रोताओं की उपस्थिति ने यह भी प्रमाणित कर दिया कि गुजराती-भाषी सुधी जनता को हिंदी समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। उसने यह भी प्रमाणित कर दिया कि कोठारी कमीशन की यह सिफारिश कि अंग्रेजी इस देश की बौद्धिक आदान-प्रदान की भाषा बनी रहे, कितनी लचर और बुद्धिहीन है। ये व्याख्यान वास्तव में 'गागर में सागर' के समान हैं। ये ऐसे व्याख्यानों के लिए आदर्श हैं। इनसे उनके अगाध ज्ञान और अध्ययन तथा स्पष्ट विचारों का पता लगता है। उनकी शैली इतनी सरल और रोचक है कि विषय से अनभिज्ञ सामान्य पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी उनसे लाभ उठा सकता है। किंतु उनकी कीर्ति के स्मारक उनके ग्रंथ हैं जिनमें कुछ तो हिंदी वाङ्मय के गौरव ग्रंथ हो गये हैं। उनकी विशेष महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं: 'पृथ्वी-पुत्र', 'उरु-ज्योति', 'कला और संस्कृति', 'कल्पवृक्ष', 'माता भूमि', 'हर्ष चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन', 'भारत की मौलिक एकता', 'मलिक मोहम्मद जायसी का पद्मावत', 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', 'भारत सावित्री', 'कादंबरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन'। इनमें पाणिनिकालीन भारतवर्ष तो उनका डाक्टरेट का शोध-निबंध है। हर्षचरित और कादंबरी के अध्ययनों को मिलाकर उन्होंने भारत के इतिहास के तीन युगों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का सप्रमाण जीता-जागता चित्र खींच दिया है। यदि उन्होंने इन तीन कृतियों के अतिरिक्त और कुछ न लिखा होता तो भी ये तीन पुस्तकें उन्हें अमर करने के लिए पर्याप्त थीं। 'भारत सावित्री' वास्तव में महाभारत की अद्यतन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक व्याख्या है। यह अध्ययन सी० वी० वैद्य की 'महाभारत-मीमांसा' की टक्कर का है। यह अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण और मौलिक है। पुस्तक और लेख लिखने के अतिरिक्त उन्होंने कई ग्रंथों के अनुवाद और संपादन भी किये। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण संपादित ग्रंथ 'पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ' है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा स्मृति-ग्रंथ के बाद हिंदी में यही एक ऐसा अभिनंदन-ग्रंथ है जिसका स्थायी महत्त्व है। उसे इस

स्तर का बनाने का श्रेय वासुदेवशरणजी की सूझ-बूझ, योग्यता और उनके अथक परिश्रम को है।

'विद्या ददाति विनयम्' के वे मूर्त प्रमाण थे। इतनी गंभीर विद्वत्ता के बावजूद उन्हें अहंकार छू नहीं गया था। स्वभाव से वे अत्यंत सरल और व्यवहार में निश्छल थे। उनमें दंभ का लेश नहीं था। विद्वानों का वे हृदय से आदर करते और जो युवक अध्ययन में रुचि दिखलाते उनको सदैव प्रोत्साहन देते और उनका मार्ग-दर्शन करते। उनका जीवन आदर्श भारतीय अध्यापक का जीवन था। उनके निधन से देश की जो क्षति हुई उसका अनुमान करना भी कठिन है। उनके चले जाने से हमें जो शोक है उसको शब्दों में व्यक्त करने की हममें सामर्थ्य नहीं। उनकी यश-सुरभि हिंदी संसार को सदैव सुरभित करती रहेगी—इसमें हमें संदेह नहीं। हम शोकाकुल हृदय से उन्हें अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति निवेदित करते हैं।

(श्री) विक्रम साराभाई

आणविक आयोग के अध्यक्ष और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के आणविक वैज्ञानिक श्री विक्रम साराभाई का निधन अल्पायु में अचानक त्रिवेन्द्रम के निकट हो गया। वे थुम्बा के प्रक्ष्येप संस्थान को देखने गये थे। रात में यथासमय सोये, किंतु सबेरे जब बहुत देर तक नहीं उठे तो लोगों को चिंता हुई और वे उनके कमरे में पहुंचे तो उन्हें मृत पाया। शायद सोते हुए ही हृदय की गति रुक जाने से उनकी मृत्यु हुई। उनका शव विमान से अहमदाबाद लाया गया और उनके गांव में उनकी अंत्येष्टि की गयी।

आणविक आयोग के प्रथम अध्यक्ष श्री भाभा की मृत्यु स्विट्जरलैंड में कुछ वर्षों पूर्व एक विमान दुर्घटना में हुई थी। वे इतने सफल और कुशल आणविक

विज्ञानवेत्ता थे कि उस समय उनके स्थान की पूर्ति असंभव मालूम होती थी। श्री विक्रम साराभाई उनके सहायक थे और वे उस पद पर बहुत सोच-विचार के वाद नियुक्त किये गये, किंतु उन्होंने जिस योग्यता से आणविक अनुसंधान का कार्य किया उसे देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ। उनकी प्रेरणा और मार्ग-दर्लन में कई नये आणविक ऊर्जा के उत्पादक खोले गये, आणविक शक्ति से बिजली उत्पन्न करने में प्रगति हुई तथा थुम्बा के अतिरिक्त आंध्र के श्री हरिकोट अंतरिक्ष में प्रक्ष्येप छोड़ने का नया संस्थान बनाया गया।

श्री विक्रम साराभाई गुजरात के एक करोड़पति उद्योगपति परिवार मेंउत्पन्न हुए थे और उनका अपना उद्योग इतना विस्तृत था कि उसकी देखभाल और संचालन ही उन्हें व्यस्त रखने को पर्याप्त था। किंतु विद्यार्थी जीवन ही से उन्हें भौतिक और आणविक विज्ञान में विशेप रुचि थी। इसके साथ ही उनमें विज्ञान की मौलिक प्रतिभा थी। इसलिए उन्होंने विज्ञान को वरण किया। वे सर सी० वी० रामन के शिष्यत्व में रहे और फिर इंग्लैंड में जाकर उन्होंने शोध और अनुसंधान का कार्य किया। जब भारत में श्री भाभा की अध्यक्षता में आणविक ऊर्जा आयोग गठित हुआ तो वे अपने विज्ञान-प्रेम से प्रेरित होकर उसमें आ गये और अपनी प्रतिभा और कार्य से उन्होंने अपनी योग्यता का ऐसा प्रमाण दिया कि श्री भाभा की मृत्यु के बाद वे उनके उत्तराधिकारी नियुक्त हुए।

श्री विक्रम साराभाई में गजव की प्रतिभा और कार्यक्षमता थी। वैज्ञानिक होते हुए भी उनकी परिष्कृत रुचि बहुमुखी थी। वे साहित्य और विशेषकर संगीत के बड़े प्रेमी थे—प्रेमी ही नहीं, उसकी बारीकियों को समझते तथा उसके मर्मज्ञ थे, उससे आनंद लेते थे। उनकी पत्नी श्रीमती मृणालिनी साराभाई अपनी नाट्यकला के लिए सुप्रसिद्ध हैं। आयोग के प्रशासन और जटिल वैज्ञानिक समस्याओं में अत्यंत व्यस्त रहते हुए भी वे संगीत और नृत्य का आनंद लेने तथा अपने पारिवारिक उद्योग की देखभाल के लिए समय निकाल लेते थे।

उनका व्यक्तित्व अत्यंत भव्य था। उनके चेहरे पर सदैव मुस्कुराहट खेला करती थी। वे छोटे-वड़े सबसे सरल भाव से मिलते थे। वे महान् वैज्ञानिक ही नहीं थे, एक महान् सज्जन और सद्गृहस्थ भी थे। 'विद्या ददाति विनयम्' के वे मूर्तिमान उदाहरण थे। उनके निधन से भारत ने एक ऐसा महान् सुपुत्र और वैज्ञानिक अल्पायु में खो दिया जिससे देश को भविष्य में बड़ी-बड़ी आशाएं थीं।
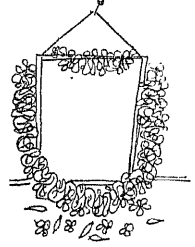
(डॉक्टर) विश्वेश्वरैया

अप्रैल '६२ में १०० वर्ष और प्रायः ७ महीने की परिपक्वावस्था में भारत-रत्न डा० विश्वेश्वरैया का स्वर्गवास हो गया। डा० विश्वेश्वरैया मैसूर की चामुंडी पहाड़ी के पास के एक गांव में पैदा हुए थे और उन्होंने इंजीनियरी की शिक्षा पायी थी। वे बम्बई राज्य में इंजीनियर रहे और कुछ वर्षों सेवा करके वे सेवा-निवृत्त हो गयें। बाद में हैदराबाद और मैसूर राज्यों में वे इंजीनियर रहे। वे अत्यंत प्रतिभाशाली इंजीनियर थे। उन्होंने सिन्ध के सक्कर बैरज का नक्शा ठीक किया था। हैदराबाद और मैसूर में कितने ही बांध तैयार किये। मैसूर का प्रसिद्ध कृष्णराजसागर बांध उनकी इंजीनियरी का जीवित स्मारक है। उन्होंने बांध से पानी निकालने के फाटकों की बनावट में मौलिक सुधार करके उन्हें अत्यंत उपयोगी बना दिया। उनकी प्रतिभा और प्रशासनिक योग्यता से प्रसन्न होकर महाराज मैसूर ने उन्हें अपना दीवान (मुख्यमंत्री) बना लिया था। वे उस पद पर केवल साढ़े छः वर्ष रहे, किंतु उसी अल्प अवधि में उन्होंने मैसूर राज्य की काया पलट दी। उन्होंने राज्य का उद्योगीकरण किया। आज मैसूर की जो असाधारण औद्योगिक उन्नति दीख पड़ती है, उसको आरंभ करने का श्रेय डा० विश्वेश्वरैया को ही है। उन्होंने राज्य में औद्योगिक शिक्षा का आरंभ किया, और उनका स्थापित किया हुआ औद्योगिक विद्यालय आज भी देश के सर्वश्रेष्ठ औद्योगिक विद्यालयों में गिना जाता है। उन्होंने उच्च शिक्षा को बढ़ाया और अनिवार्य आरंभिक शिक्षा आरंभ की। उनसे पहले कभी कोई इंजीनियर दीवान नहीं हुआ था, किंतु उन्होंने अपनी अद्भुत प्रशासनिक योग्यता के कारण मैसूर के शासन को अत्यंत कुशल बना दिया। उनके दीवानी छोड़ने के कारण से उनके व्यक्तित्व की महत्ता और सिद्धांत निष्ठा का पता लगता है। उस समय लोगों ने देखा कि मैसूर में अधिकांश सरकारी पदों पर ब्राह्मण जाति के लोग हैं। उस

समय (और दुर्भाग्य से आज भी) राजनीतिक कारणों से पिछड़े वर्ग के लोगों को शासकीय पद देने, या विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में पर्याप्त योग्यता न होने पर भी विशेप प्रतिनिधित्व देने की बात चल रही थी। इसके लिए पहले ही एक समिति बना दी गयी थी और उसने यह प्रस्ताव किया कि कम योग्यतावाले पिछड़े वर्ग के लोगों के साथ रियायत करके उन्हें सरकारी सेवाओं और शैक्षणिक या प्राविधिक संस्थाओं में लिया जाय। डा० विश्वेश्वरैया इसके विरुद्ध थे। वे सरकारी सेवाओं या शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए एकमात्र योग्यता पर बल देते थे। उनका कहना था कि शासन को कुशलता से चलाने के लिए योग्यतम व्यक्तियों को ही लिया जाना चाहिए—उनकी जाति या वर्ग का विचार न करना चाहिए। उनकी बात नहीं मानी गयी। इस पर उन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। जिस बात को वे सिद्धांततः अनुचित समझते थे उसे न मानकर बड़ेसे बड़ेपद को छोड़ देना, उनके चरित्र की दृढ़ता का मूर्त प्रमाण है। डा० विश्वेश्वरैया ने देश को 'उत्पादन करो या नष्ट हो जाओ' (प्रोड्यूस ऑर पैरिश) का नारा दिया। जो योजनाएं हमारी स्वतंत्र सरकार आज चला रही है, उनकी मूल कल्पना डा० विश्वेश्वरैया ही ने की थी। वे पहले भारतवासी थे जिन्होंने सारे देश को इकाई मानकर उसकी समृद्धि के लिए औद्योगीकरण की योजना बनायी थी, जिसके आधार पर आज की योजनाएं बनी हैं। उड़ीसा के हीराकुंड बांध की योजना भी उन्हीं की कल्पना थी। डा० विश्वेश्वरैया का जीवन अत्यंत सादा था। वे पुराने ढंग से रहते थे। वृद्धावस्था में भी उनकी मानसिक शक्ति विलक्षण रूप से सजग थी। जिस दिन उनकी मृत्यु हुई उस दिन उनके पिता का वार्षिक श्राद्ध-दिवस था। उस दिन वे उनका श्राद्ध किया करते थे। अनेक वर्षों से पंडित लोग उस दिन श्राद्ध कराने आया करते थे। उस दिन भी वे यह समझकर आये थे कि डा० विश्वेश्वरैया अपने पिता का श्राद्ध करेंगे। किंतु पंडितों के आगमन के थोड़ी देर पहले ही उनका स्वर्गवास हो चुका था। संयोग की बात पिता और पुत्र की मृत्यु एक तिथि को ही हुई। डा० विश्वेश्वरैया ने उस वर्ष (१८६१ में) जन्म लिया था जिसमें महामना मदनमोहन मालवीय, पंडित मोतीलाल नेहरू और रवीन्द्रनाथ टैगोर उत्पन्न हुए थे। इनमें डा० विश्वेश्वरैया को ही अपने जीवन में अपना जन्मशती-उत्सव देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यही नहीं, उन्होंने भारत की स्वतंत्रता देखी, और देखा कि भारत की समृद्धि के लिए उन्होंने उसके औद्योगीकरण की जो कल्पना की थी, वह कार्यान्वित होने लगी है। वे उन महान् व्यक्तियों में थे जो जब कभी ही पैदा होते हैं। अपने सपनों को मूर्त होते देखना तो और भी बड़े भाग्य की बात है। वास्तव में, प्रत्येक अर्थ में वे भाग्यवान् थे। देश के इस मनीषी, नेता, विचारक और कर्मठ अभियंता की स्मृति में हम श्रद्धा और आदर से नतमस्तक हैं।

(श्री) वृन्दावनलाल वर्मा

अभी हिंदी संसार डॉ० सम्पूर्णानन्द, श्री रामचन्द्र वर्मा और श्री ब्रजकिशोर नारायण के वियोग के दु:ख को भूल भी न पाया था कि सहसा हृदय की गति रुक जाने से हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू वृन्दावनलाल भी चले गये।

वर्माजी हिंदी संसार में एक व्यक्ति न होकर एक संस्था बन गये थे। बहुत कम लोगों को हिंदी की सेवा इतने दीर्घकाल तक करने का अवसर मिला, जितना वर्माजी को। साहित्य संसार में उन्होंने कहानी-लेखक के रूप में प्रवेश किया। वे हिंदी के आरंभिक लेखकों में थे। उनकी पहली कहानी सरस्वती में सन् १९०९ में प्रकाशित हुई थी। इस प्रकार उन्होंने कथा साहित्य में १९०९में प्रवेश किया, और वे अपनी मृत्यु तक (१९६९ तक)पूरे साठ वर्ष हिंदी की अनवरत सेवा करते रहे। कहानी-लेखन से उन्होंने आरंभ अवश्य किया, किंतु जो कुछ वे कहना चाहते थे उसके लिए कहानी का माध्यम उन्हें उपयुक्त न मालूम हुआ। इसलिए वे उपन्यास-लेखन की ओर उन्मुख हुए।

हिंदी में तिलस्मी उपन्यासों के बाद किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम मेहता आदि ने अनेक सामाजिक उपन्यास अवश्य लिखे थे, किंतु वास्तव में हिंदी में उपन्यासों का युग मुंशी प्रेमचन्द के उन उपन्यासों से आरंभ हुआ जिनमें जनता के सुख-दु:ख का चित्रण होता है। प्राय: उन्हीं के साथ वृन्दावनलाल जी ने ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा आरंभ की। इतिहास उनका प्रिय विषय था, यह इस बात से भी स्पष्ट है कि उनकी पहली कहानी भी ऐतिहासिक थी। उनका 'गढ़ कुंडार' नामक बृहत् उपन्यास हिंदी का पहला सफल ऐतिहासिक उपन्यास था। उसने हिंदी में एक नया कीर्तिमान स्थापित कर दिया और एक नयी परंपरा को जन्म दिया। उसने हिंदी जगत् में वर्माजी को सफल उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। उसके बाद उन्होंने अपनी सारी शक्ति उपन्यासों के लिखने

में लगा दी और एक दर्जन से अधिक श्रेष्ठ उपन्यास हिंदी संसार को भेंट किये। उनमें 'कुण्डली चक्र', 'विराटा की पद्मिनी', 'मृगनयनी', 'कचनार', 'मुसाहबजू', 'अचल मेरा सुहाग', 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' आदि बहुत लोकप्रिय हुए। 'मृगनयनी' तो इतनी लोकप्रिय हुई कि अनेक विश्वविद्यालयों में स्नातकीय स्तर पर पाठ्य पुस्तक निर्धारित की गयी।

उन्हें बुन्देलखण्ड से अत्यंत प्रेम था। उन्होंने देखा कि उसके अतीत का गौरव भुला दिया गया है। उन्होंने अपनी जादू की लेखनी से बुन्देलखण्ड के इतिहास के विभिन्न युगों के जीते-जागते चित्र प्रस्तुत किये जो पाठकों को उन युगों का यथार्थ परिचय कराते हैं। अपने उपन्यासों को यथार्थ और सजीव बनाने के लिए वे अथक परिश्रम करते थे। वैसे तो सारा बुन्देलखण्ड उनका देखा हुआ था, किंतु जब किसी उपन्यास के कथानक के लिए कोई विशेष क्षेत्र चुनते तो महीनों घूम-घूमकर उसका निरीक्षण करते, और साथ ही तत्कालीन इतिहास के लिए उपलब्ध पुस्तकों, कथाओं, किंवदंतियों का संग्रह करके उनका अध्ययन करते। बाद में तो इतिहास के प्रति ईमानदार रहने की उनकी प्रवृत्ति इतनी बढ़ गयी थी कि वे जिस विषय पर लिखने का निश्चय करते उस पर पूरी शोध ही कर डालते थे और कभी-कभी भूल जाते थे कि मैं इतिहास नहीं, उपन्यास लिख रहा हूं।

उनके उपन्यासों की मनोरंजकता और सफलता का रहस्य इस बात में है कि उनमें बुन्देलखण्ड की धरती की सोंधी महक है। उनको पढ़ते समय हम अपने को अतीत में पाते हैं और तत्कालीन समाज का चित्र हमारे मानस-पटल पर सिनेमा के फिल्म की तरह घूम जाता है। उनकी कथा में अबाध प्रवाह होता है। अपने अतीत के प्रति रुचि उत्पन्न करने में बंगला भाषा में जो काम डी० एल० राय ने ऐतिहासिक नाटक लिखकर किया, वही काम हिंदी में वर्माजी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा किया।

वे कोरे साहित्यकार न थे। उन्होंने बहुत दिनों वकालत की और सफल वकील रहे। इसके अतिरिक्त उन्होंने खेती में भी बड़ी रुचि ली। उन्होंने एक बहुत बड़ा कृषि-फार्म बनवाया था जिसकी देख-रेख वे स्वयं करते थे। उन्हें कृषकों की समस्याओं और उनके बहुमुखी सुधार में बड़ी रुचि थी। इसीलिए वे आरंभ ही से सहकारी आंदोलन से संबद्ध थे और जिले के सहकारी बैंक के संचालकों में रहे। उन्हें शिकार का भी शौक था और वे बड़े अच्छे शिकारी थे। उन्हें राजनीति में भी दिलचस्पी थी, और स्वतंत्रता-संग्राम में तथा कांग्रेस के आन्दोलनों में वे सक्रिय भाग लेते थे। क्रांतिकारियों से भी उनकी सहानुभूति थी, और कितनी ही बार उन्होंने उन्हें प्रश्रय दिया था। इस प्रकार उनका जीवन कोरा साहित्यिक और एकांगी नहीं था, वह बहुमुखी था। उनका अनुभव विस्तृत था और इसीलिए उनके उपन्यासों में कल्पना और यथार्थ के इतने सुंदर और

सफल सम्मिश्रण की छटा मिलती है।

वर्माजी के उपन्यास ही नहीं, वे स्वयं भी बड़े लोकप्रिय थे। उनमें साहित्य और जनता के लिए अगाध प्रेम था। इसीलिए उनकी दीर्घकालीन सेवाओं और उनके महत्त्वपूर्ण कार्य को लोगों ने हृदय से सराहा। हिंदी संसार में शायद ही कोई सम्मान या पुरस्कार हो जिसके वे पात्र हों और वह उन्हें न मिला हो। साहित्य सम्मेलन ने उन्हें हिंदी के सर्वोच्च सम्मान 'साहित्य-वाचस्पति' से, और भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' के अलंकरण से सम्मानित किया था। आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें सम्मानार्थ डी०लिट्० की उपाधि दी थी। सोवियत भूमि का पुरस्कार भी उन्हें दिया गया था। उनके 'झांसी की रानी' तथा कई उपन्यासों का रूसी भाषा में अनुवाद कराकर रूस के साहित्य प्रकाशन विभाग ने साहित्यकार के रूप में उन्हें मान्यता दी थी। उनकी पुस्तकों के अनुवाद रूस में बहुप्रशंसित और लोकप्रिय रहे और उनके कई संस्करण हुए।

यों तो इस देश में अस्सी वर्ष की आयु अच्छी आयु समझी जाती है, किंतु वर्माजी का शरीर इतना कसरती और स्वस्थ था कि वे साठ वर्ष से अधिक के न मालूम होते थे। वे स्वयं कहा करते थे कि मैं ७५ वर्ष का जवान हूं। इसलिए हमें आशा थी कि वे बहुत दिनों हमारे बीच रहेंगे और हिंदी की सेवा ही नहीं करते रहेंगे, प्रत्युत नये साहित्यकारों को प्रेरणा और मार्गदर्शन भी देते रहेंगे। वे बराबर डंड-बैठक किया करते थे क्योंकि उन्हें कसरत-कुश्ती का बड़ा शौक था। वे अपना स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए उसे आवश्यक समझते थे। किंतु शायद उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि वय की वृद्धि होने पर उतना व्यायाम नहीं किया जा सकता जितना जवानी में। वाग्भट ने व्यायाम के संबंध में लिखा है—'वृद्ध जीर्णी च तं त्यजेत्'। शायद इसी अति व्यायाम के कारण उनका हृदय उस परिश्रम को सहन न कर सका और कमजोर हो गया था। उनकी सबसे छोटी पुत्री का विवाह था। उन्होंने उसमें सम्मिलित होने के लिए हमसे आग्रह किया था। हमें अपार खेद है कि हम उसमें नहीं पहुंच सके और उनके अंतिम दर्शन न कर सके।

उन्होंने जितने दीर्घकाल तक हिंदी की सेवा की, उतनी शायद ही और किसी ने की हो। उन्होंने उच्चकोटि के अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर हिंदी को समृद्ध किया। उपन्यासकार और शैलीकार के रूप में वे हिंदी में अमर रहेंगे। वे हमारे पुराने मित्र थे। हमारा उनका एक संबंध और था। हम 'सरस्वती' के संपादक थे और उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन 'सरस्वती' में आरंभ किया था तथा वे उसके सबसे पुराने और वरिष्ठ जीवित लेखक थे। इन सब कारणों से उनके स्वर्गवास से हमें व्यक्तिगत रूप से जो दुःख हुआ उसे व्यक्त करना कठिन है। हिंदी की तो अपूरणीय क्षति हुई है। उनका यशःशरीर अमर है।
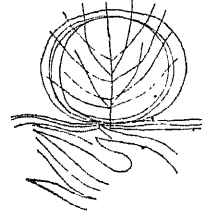
(पंडित) वेंकटेशनारायण तिवारी

'सरस्वती' को यह समाचार सुनकर अत्यंत दुःख हुआ कि २१ जून '६५ को हिंदी के वयोवृद्ध लेखक, पत्रकार और विचारक पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी का मस्तिष्क में रक्तस्राव होने के कारण ७५ वर्ष की आयु में दिल्ली में शरीरांत हो गया। तिवारीजी ने 'सरस्वती' में आचार्य द्विवेदी के संपादनकाल में उनकी प्रेरणा से लिखना आरंभ किया था और वे इस समय 'सरस्वती' के द्विवेदी-काल के इने-गिने लेखकों में बच रहे थे। वे 'सरस्वती' में बराबर लिखते रहते थे। उनका जन्म कानपुर के उस प्रसिद्ध तिवारी परिवार में हुआ था जिसके एक उदार और परम धार्मिक सदस्य श्री प्रयागनारायण तिवारी ने कानपुर का प्रसिद्ध मंदिर बनवाया था। उनकी शिक्षा कानपुर में हुई, किंतु उन्होंने एम० ए० और एल-एल० बी० इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालिज से किये। उन दिनों इतनी योग्यता के व्यक्ति अच्छी सरकारी नौकरियां पा सकते थे किंतु तिवारीजी में आरंभ ही से सार्वजनिक सेवा की भावना घर कर गयी थी। इसलिए उन्होंने अपना जीवन 'सर्वेण्ट आफ इंडिया सोसाइटी' को अर्पित कर दिया। स्वनामधन्य श्री गोपाल कृष्ण गोखले उसके संस्थापक और अध्यक्ष थे। उनके साथ रहकर तिवारीजी ने सार्वजनिक प्रश्नों के सांगोपांग अध्ययन की शिक्षा पायी। वे आर्थिक स्वायत्तशासी संस्थाओं और राजनीतिक प्रश्नों में विशेष रुचि लेने लगे और कालांतर में वे उनके अधिकृत विषशेज्ञ हो गये। उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र प्रयाग को चुना और वहीं रहकर वे सार्वजनिक सेवा का कार्य करने लगे। विद्यार्थी जीवन ही से उन्हें हिंदी से प्रेम था और आचार्य द्विवेदी के संपर्क और प्रेरणा से वे 'सरस्वती' में लिखने लगे। बाद में वे महामना मालवीयजी के निकट संपर्क में आये और उन्होंने 'भारत' और अभ्युदय' कासंपादन किया। वे साहित्यिक वाद-विवाद में बड़ी रुचि लेते थे। उनके दो लेखों—'हरिऔधजी का बुढ़भस' और

'राधा—स्वकीया या परकीया' ने (विशेषकर अंतिम लेख ने) हिंदी जगत् में एक तूफान खड़ा कर दिया था। जब हिंदी और उर्दू का विवाद चला और उर्दू-वाले हिंदी को सरकारी मान्यता देने के विरुद्ध सुसंगठित आंदोलन करने लगे तब हिंदी के दो विद्वानों ने उर्दू आक्रमणों का सफल सामना किया था। वे थे स्व० पं० चंद्रबली पांडेय और पं० वेंकटेशनारायण तिवारी। उन्होंने उर्दूवालों के तर्कों के उत्तर में अनेक लेख लिखे और एक पुस्तिका लिखी जिसकी दस हजार प्रतियां इंडियन प्रेस के स्वामी स्वर्गीय श्री हरिकेशव घोष ने अपने व्यय से छपवा-कर विना मूल्य वितरित की थीं। उनके लेखों ने विरोधियों को निरुत्तर कर दिया था। इसी प्रकार मुसलमानों के विशेष प्रतिनिधित्व की समस्या पर भी उन्होंने गहन अध्ययन करके अनेक लेख लिखे थे जिनका तत्कालीन राजनीतिक विचारकों और कार्यकर्ताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। सर्वेण्ट आफ इंडिया सोसाइटी नरम दलवालों की संस्था थी और तिवारीजी के समान कर्मठ व्यक्ति उससे संतुष्ट नहीं रह सकते थे। अतः महात्माजी के आंदोलन आरंभ करने पर वे उससे आक-र्षित होकर कांग्रेस में सम्मिलित हो गये और तब से मृत्युपर्यंत कांग्रेस के निष्ठा-वान सदस्य बने रहे। वे प्रत्येक आंदोलन में जेल गये। जब उत्तरप्रदेश में पहली कांग्रेसी सरकार बनी तब स्व० गोविन्दवल्लभ पन्त ने उन्हें अपना मुख्य पालिया-मेंटरी सचिव नियुक्त किया। बाद में वे उत्तरप्रदेश विधान सभा, संविधान सभा में चुन लिये गये और फिर कानपुर से लोकसभा में पहुंच गये। वे बड़े मेधावी, अध्ययनशील और स्पष्ट विचारों के व्यक्ति थे। वे विधान सभा और संसद में स्वयं बहुत कम बोलते थे, किंतु वे अपने सहयोगियों को अधिकृत सामग्री, तथ्य, आंकड़े आदि देकर उनकी बराबर सहायता किया करते थे। उनकी स्मरण शक्ति अत्यंत तीक्ष्ण थी। उन्हें पुरानी घटनाओं के छोटे-छोटे विवरण, दूसरों के भाषणों के और पढ़ी हुई पुस्तकों के महत्त्वपूर्ण अंश वर्षों याद रहते थे। वे एक प्रकार के चलते-फिरते संदर्भ ग्रंथ थे। उनके परिचितों में से जब किसी व्यक्ति को कोई बात जाननी होती तो वे तिवारीजी की सहायता लेते, और वे उनकी पूरी-पूरी सहायता करते थे। कांग्रेस दल में उनके समान अध्ययनशील और विचारक व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे। जब वे लोकसभा के सदस्य होकर दिल्ली में रह रहे थे तब उन्होंने 'जनसत्ता' नामक एक दैनिक का संपादन भी किया। उनके कुशल संपादन में वह पत्र थोड़े ही दिनों में बड़ा लोकप्रिय और प्रभावशाली हो गया था।

पिछले चुनाव में वे हार गये थे और दिल्ली ही में रहने लगे थे। उनका स्वास्थ्य गिर गया था, किंतु उनके विद्याव्यसन में कोई कमी नहीं हुई थी। अत्य-धिक अध्ययन के कारण उनकी आंखें बहुत कमजोर हो गयी थीं। किंतु उन्हें इसकी परवाह नहीं थी। हमने अपने जीवन में ऐसा विद्याव्यसनी और पुस्तक-प्रेमी नहीं देखा।

तिवारीजी ऊपर से कुछ असहिष्णु और तेज मिजाज के मालूम होते थे। बात यह है कि वे लोगों के अज्ञान और गलत ज्ञान को सहन नहीं कर सकते थे। अपने को 'ज्ञानवान्' समझनेवाले लोगों के मुंह से गलत तथ्यों और आंकड़ों को सुनने का धैर्य उनमें नहीं था। किंतु वे जिज्ञासुओं को बड़े धैर्य और परिश्रम से एक-एक बात समझाते थे। उन्हें दूसरों को ज्ञान देने में—चाहे वह राजनीति, अर्थ-शास्त्र, साहित्य आदि से संबंधित हो और चाहे 'आसन' ऐसे विषयों से—बड़ा आनंद आता था और उस समय उनकी प्रकृत सहृदयता का परिचय मिलता था।

तिवारीजी ने हिंदी-आंदोलन में जो योगदान दिया, उसका मूल्यांकन नहीं हुआ। उनके साहित्यिक विवादों के तीक्ष्ण लेख पुराने लोगों को अब भी याद हैं। वे हिंदी के जागरूक प्रहरी, साहित्य के मर्मज्ञ और कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे। हमारा उनका संबंध बीसों वर्ष पुराना था। हमारे ऊपर उनकी विशेष कृपा थी। अतएव उनके निधन से हमारे जीवन में एक ऐसी रिक्तता उत्पन्न हो गयी है जिसकी पूर्ति संभव नहीं है। 'सरस्वती' के वे सम्माननीय वरिष्ठ लेखक थे और 'सरस्वती' की हीरक जयंती के अवसर पर उनका बहुमान किया गया था। अपने पुराने यशस्वी लेखक और आदरणीय मित्र के निधन से हमें हार्दिक दुःख हुआ है। हम उनकी स्मृति के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(आचार्य) शिवपूजन सहाय

आचार्यजी के सहसा निधन से हिंदी संसार को बड़ा धक्का लगा। उससे छः महीने पहले, हम पटना गये थे और आचार्यजी से मिले थे। उस समय हमें क्या मालूम था कि हमारी उनकी वही अंतिम भेंट है। उस समय वे स्वस्थ और प्रसन्न-चित्त दिखलायी पड़ते थे। १५ जनवरी '६३ को वे संध्या समय राष्ट्रभाषा परिषद्

गये। वहां से लौटने में कुछ विलंब हो गया। खुली रिक्शा में उन्हें कुछ सर्दी लग गयी और १६ तारीख को उन्हें ज्वर हो आया। वह बढ़ते-बढ़ते संध्या को १०३ अंश हो गया। किंतु सहसा तापमान कम होकर केवल ६८ अंश रह गया। उनके डाक्टर बुलाये गये। उन्होंने उन्हें तुरंत अस्पताल में भर्ती कराने की सलाह दी। रात्रि में वे अस्पताल पहुंचाये गये और उन्हें जनरल वार्ड में भर्ती कर दिया गया। दूसरे दिन सबेरे प्रायः चार बजे वे संज्ञाहीन हो गये। उन्हें पुराना मधुमेह (डायाबिटीज) था और उसके कारण उन्हें मधुमेही मूर्छा (डायाबिटिक कोमा) हो गयी। उस समय से जो वे अचेत हुए तो अंत तक उन्हें चेत नहीं हुआ। सबेरा होने पर डाक्टर लोग जब आये तब विधिवत् चिकित्सा आरंभ हुई, किंतु तब तक अति विलंब हो चुका था। यदि अस्पताल में पहुंचते ही, रात्रि में, उनकी समुचित चिकित्सा आरंभ कर दी जाती तो संभवतः स्थिति न बिगड़ती। हमारी सार्वजनिक संस्थाएं निष्प्राण यंत्र की तरह काम करती हैं और नियमों तथा औपचारिक परंपराओं के बंधनों में इतनी जकड़ी हुई हैं कि सद्भावना और शुभकामनाओं के रहते हुए भी उनके कार्य में वह मानवीय तत्परता नहीं आ पाती जिसके बिना कभी-कभी अनर्थ तक हो जाता है। दूसरे दिन सबेरा होने पर डाक्टरों ने उनकी परीक्षा करके उनकी चिकित्सा आरंभ की। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी ने जब उनकी अस्वस्थता का हाल सुना तो उन्होंने अपने डाक्टर भी भेजे। किंतु सब प्रयत्न व्यर्थ हुए और २१ जनवरी को प्रातःकाल ३ और ४ के बीच में आचार्यजी चिरनिद्रा में सो गये। उनकी मृत्यु के समाचार से पटना नगर शोक में डूब गया। उनका शव बिहार प्रांतीय सम्मेलन में लाया गया, जहां पटना के साहित्यकारों और नागरिकों ने उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। उनकी शवयात्रा में अभूतपूर्व भीड़ थी। रास्ते में पड़नेवाली सार्वजनिक संस्थाओं ने अर्थी रोक-रोककर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। जनता ने उस कई मील की यात्रा में उनकी अर्थी के ऊपर इतने फूल बरसाये कि सड़कें फूलों से पट गयी थीं। इस बात का पता उस दिन लगा कि जनता के हृदय में उनके प्रति कितना सम्मान और प्रेम था।

हम लोग प्रेम के कारण उन्हें 'शिवजी' कहते थे। शिवजी के निधन से हिंदी का एक स्तंभ गिर गया और द्विवेदी युग की प्रायः अंतिम कड़ी टूट गयी। कविता को छोड़कर हिंदी का कौन-सा ऐसा क्षेत्र है जिसको उन्होंने अपनी प्रतिभा और लेखनी से नहीं चमकाया? निबंध, आलोचना, कथा और संपादन के क्षेत्रों में उन्होंने प्रायः आधी शती तक अनवरत और ठोस काम किया। वह काम उस अलंकरण बनानेवाले शिल्पी की तरह नहीं था जो सारे जीवन में एक-दो सुंदर कलाकृतियां बना देता है। उनका काम तो उस स्थपति की तरह था जो अनवरत परिश्रम से एक दृढ़ विशाल भवन को एक-एक ईंट चुनकर खड़ा करता है। ऐसे

निर्माण कार्य में बड़ी तड़क-भड़क नहीं होती। किंतु उसकी साधना से जो दृढ़ और उपयोगी भवन निर्मित होता है उससे जनता को पीढ़ियों तक लाभ होता है। उन्होंने अपने सतत परिश्रम और अध्यवसाय से हिंदी भाषा और साहित्य का स्तर उठाने का अनाकर्षक और पित्तामारी का काम किया। किंतु वह काम अत्यंत उपयोगी था। निश्चय ही उससे हिंदी सबल हुई और निखरी।

वे लेखक थे, अध्यापक थे, संपादक थे। प्रत्येक क्षेत्र में वे सफल रहे और उनकी सफलता का रहस्य हाथ में लिये हुए काम के साथ अपने को एकरस कर देना था। वे गणेशशंकर विद्यार्थी या पराड़कर की पंक्ति के संपादक न थे। वे महावीरप्रसाद द्विवेदी की परंपरा के संपादक थे। उनका संपादन समाचारों को लेकर नहीं, विचारों को लेकर होता था। यह दुर्भाग्य है कि उन्हें संपादन के लिए कोई दीर्घायु पत्र नहीं मिला। इस कारण उनकी संपादन-प्रतिभा से हिंदी को उतना लाभ नहीं हुआ जितना हो सकता था। उनके सरल व्यक्तित्व और विनम्र व्यवहार को देखकर किसी को यह संदेह भी नहीं हो सकता था कि उनमें ऊंची श्रेणी की कार्य-कुशलता की क्षमता भी है। संयोग से उन्हें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का भार दे दिया गया। वहां उन्होंने सक्रिय रूप से दिखला दिया कि उनमें किसी संस्था को सुचारु रूप से संगठित करने, योजना बनाने और संचालन करने की कितनी योग्यता है। जितने भी सरकारी साहित्यिक संस्थान इस देश में बने उनमें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का कार्य सबसे अधिक सुनियोजित और सुचारु रूप से चला। उस पर शिवजी के व्यक्तित्व की छाप लग गयी।

व्यक्तिगत रूप से शिवजी अतिशय विनम्र और सरल थे। उनकी महानता पर भिनम्रता का ऐसा आवरण था कि साधारणतया वह छिपी रहती थी। किंतु उस विनम्रता के नीचे फौलादी शक्ति थी। हिंदी के लिए उनमें इतनी प्रगाढ़ भावना थी और उसके हितों के वे इतने सजग प्रहरी थे कि उन हितों की रक्षा के लिए वे उग्र भी हो सकते थे और बड़े-से-बड़े व्यक्ति का भी विरोध कर सकते थे। फिर भी उनकी सरलता बच्चों की तरह थी। एक बार श्री विनोद शर्मा ने हास्य और व्यंग्य की पुस्तक छपायी। केवल मित्रों में बांटने के लिए ही वह छपायी गयी थी और उसका संस्करण केवल १५० प्रतियों का था। अतएव वह केवल विशेष व्यक्तियों ही को दी जाती थी। एक सज्जन ने उन्हें यह पुस्तक दिखलायी। उन्हें पसंद आयी और उन्होंने पूछा कि वह किस प्रकार मिल सकती है। उन सज्जन ने कहा कि जो लोग लिखकर अपने को मूर्ख घोषित करते हैं, उन्हें ही यह पुस्तक दी जाती है। इस पर शिवजी ने श्री विनोद शर्मा को एक पोस्टकार्ड लिखा और उसमें लिखा कि मैं इतना मूर्ख हूं कि लोगों ने मुझे आजीवन मूर्ख बनाया है। फिर भी मैं मूर्खता न छोड़ सका। मेरी मूर्खता का इससे बढ़कर क्या प्रमाण होगा कि मैं खुले पोस्टकार्ड पर यह स्वीकारोक्ति कर रहा हूं ? इस घटना

से उनकी सरलता का और विनोदप्रियता का पता लगता है।

शिवजी चले गये। आजीवन उन्होंने एकनिष्ठ भाव से हिंदी की सेवा की। उन्होंने हिंदी की सेवा ही नहीं की, सैकड़ों युवकों को हिंदी की सेवा के लिए अनुप्राणित किया। उनका जीवन सफल और सार्थक था। जो लोग उनके मोहक व्यक्तित्व से परिचित थे वे आजीवन उनकी सरल और सौम्य मूर्ति को याद रखेंगे। उनके निधन से हिंदीवालों को एक आत्मीय का बिछोह हुआ है। हम उनकी स्मृति के प्रति श्रद्धा से नत हैं और उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(श्री) श्रीप्रकाश

श्री श्रीप्रकाशजी के निधन के साथ उत्तर प्रदेश की पुरानी पीढ़ी के भारत-विश्रुत राजनीतिक नेताओं की श्रृंखला समाप्त हो गयी। वे हिंदू पुनर्जागरण के सर्वोत्कृष्ट रत्नों की पीढ़ी में थे जो पिछली शती के अंतिम भाग में उत्पन्न हुई थी। हिंदू पुनर्जागरण का उद्देश्य भारत को अपने अतीत गौरव का स्मरण दिलाना तथा भारतीयों को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराना था। उस पुनर्जागरण का सार, स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र के शब्दों में 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्थान' था। अतएव इस पुनर्जागरण से प्रेरित उत्तर भारत के उस समय के सभी विचारशील नवयुवक उससे प्रभावित और प्रेरित हुए थे। वह युग था जिसने स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, तिलक, लाजपतराय, महामना हंसराज ऐसी विभूतियां दी थीं। उनमें हिंदी भाषा, भारतीय धर्म और देश के प्रति एक अपूर्व ममता जागृत हुई थी। इसीलिए उस समय के उत्तर भारत के चिंतक और नेता भाषा, धर्म और देश के उत्थान में समान रूप से रुचि लेते थे। किंतु कुछ अंग्रेजी-शिक्षित लोगों को धर्म का वह स्वरूप और वह व्याख्या जो उपर्युक्त विभूतियों ने दी थीं, बहुत आकर्षक नहीं

मालूम हुई। उसी समय भारत में श्रीमती ऐनीबीसेंट का आगमन हुआ और उन्होंने जिस भाषा में और जिस ढंग से हिंदू धर्म कीव्याख्या की वह अंग्रेजी-शिक्षित लोगों को अधिक आकर्षक मालूम हुआ और इस प्रकार देश में थियोसोफी का प्रारंभ हुआ। श्रीमती बीसेंट ने हिंदू धर्म की नयी व्याख्या के अनुसार हिंदू बालकों को शिक्षित करने के लिए काशी में सेंट्रल हिंदू स्कूल की स्थापना की जो बाद में मालवीयजी के हिंदू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। सेंट्रल हिंदू स्कूल में देश-विदेश के चोटी के विद्वान् और शिक्षाशास्त्री सेवा की भावना से उसमें अध्यापक हो गये। श्री श्रीप्रकाशजी के पिताश्री डा० भगवानदास भी उससे संबद्ध थे और श्री श्रीप्रकाशजी ने भी उससे प्रेरणा प्राप्त की थी। वे बहुत दिनों श्रीमती बीसेंट के अनुयायी और सहयोगी रहे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करके वे कैंब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने गये जहां उनका परिचय श्री जवाहरलाल नेहरू से हुआ जो उस समय वहां विद्यार्थी थे। वह मित्रता आजीवन बनी रही, और वे ही एक व्यक्ति थे जो बिना किसी संकोच के अंत तक उनसे अपने विचार और अपना मत स्पष्ट रूप में व्यक्त कर सकते थे।

पुनर्जागरण की तीन प्रवृत्तियों ने सभी लोगों को एक ही प्रकार प्रभावित नहीं किया—किसी ने कम, किसी ने अधिक। श्री श्रीप्रकाशजी में उसकी अंतिम प्रवृत्ति—देश-भक्ति अधिक मात्रा में थी और जब गांधीजी का आंदोलन आरंभ हुआ तो वे उसमें कूद पड़े और आजीवन गांधीवादी बने रहे। अन्य कार्यकर्ताओं की तरह उन्होंने भी जेल की यातनाएं सहीं, और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद वे उन थोड़े से नेताओं में थे जो सर्वोच्च पदों पर प्रतिष्ठित हुए। वे पाकिस्तान में भारत के प्रथम उच्च आयुक्त थे, केंद्रीय मंत्रिमंडल में मंत्री रहे और फिर असम, मद्रास और बम्बई के राज्यपाल रहे। राज्यपाल के पद से हटने पर वे सक्रिय राजनीति से अलग हो गये और कुछ दिनों देहरादून रहने के बाद काशी में आकर अपने पैतृक मकान में रहने लगे जहां जून १९७१ की २३ तारीख को उनका स्वर्गवास हो गया।

इधर समाचार-पत्रों में वे बहुधा लेख लिखा करते थे और उनसे स्पष्ट था कि वे वर्तमान राजनीतिक स्थिति और सरकार की अनेक नीतियों से संतुष्ट नहीं थे। अपनी मृत्यु से प्राय: दो सप्ताह पूर्व उन्होंने कुनूर-निवासी अपने एक पुराने मित्र श्री एस० आर० सत्यनारायण ऐयर को लिखा था : "जैसा स्वराज आज हमें मिला है उसे देखकर मैं प्राय: सोचने लगता हूं कि अपने जीवन के जो ५० वर्ष मैंने स्वराज्य के संघर्ष में लगाये थे वे सब बिल्कुल बेकार गये। शायद भारत-वासियों को वैसी ही सरकार मिली जिसके वे पात्र हैं और वर्तमान स्थिति के लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं।" इस कथन से उनकी व्यथा भली भांति व्यक्त होती है। उनके लेख गंभीर अनुभव और चिंतन पर आधारित होते थे और उनसे

उनके दूरदर्शी राजनीतिक (स्टेट्समैन) होने के प्रमाण मिलते थे। किंतु जब इस सरकार पर ही उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था तो जनता पर प्रभाव पड़ने की बात ही नहीं उठती।

श्री श्रीप्रकाशजी एक अत्यंत कुलीन वंश में उत्पन्न हुए थे और आभिजात्य वर्ग के श्रेष्ठ गुण उनमें साकार हुए थे। उनकी शिष्टता, विनम्रता, समय का पालन, पत्रों का तुरंत उत्तर देने का नियम आदि कुछ ऐसे गुण थे जो उनके आभिजात्य के प्रदर्शक थे और जो सामान्य नेताओं में कम ही पाये जाते हैं। इसके साथ ही वे बड़े निरभिमानी थे, और जिनसे उनका या उनके परिवार का संबंध या मित्रता हो जाती उसे वे बराबर निभाते थे। अतिथि-सत्कार तथा लोगों की सहायता करने के लिए वे विख्यात थे। उनका चरित्र इतना ऊंचा था कि उनसे किसी ओछे कार्य या व्यवहार की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। किंतु साथ ही वे सत्य के इतने प्रेमी और स्वाभिमानी थे कि अवसर आने पर बड़े शिष्ट ढंग से अप्रिय सत्य भी कह देते थे। अभिनंदन ग्रंथों में जो लेख लिखे जाते हैं वे प्राय: स्तुति या प्रशंसापूर्ण ही होते हैं। उनके मित्र और सहयोगी स्वर्गीय डा० सम्पूर्णानन्दजी के एक अभिनंदन-ग्रंथ में उनसे लेख मांगा गया। उसमें उन्होंने उनकी प्रशंसा तो की ही किंतु साथ ही उन्हें उनमें जो दोष मालूम हुए उनके लिखने में भी उन्होंने कोई संकोच नहीं किया। वे हिंदी भक्त थे, और आचार्य द्विवेदी के संपादन-काल में (सन् १६१६ में) उन्होंने 'सरस्वती' में एक लेख (शिक्षा किस भाषा में दी जानी चाहिए) भेजा। द्विवेदीजी 'सरस्वती' की भाषा में एकरूपता लाने और उसे अपने ढंग से परिनिष्ठित करने के लिए लेखों का बहुत काफी संपादन कर दिया करते थे जिससे कभी-कभी वह लेखक की भाषा या शैली में न होकर द्विवेदीजी की भाषा और शैली में हो जाता था। उन्होंने श्री श्रीप्रकाशजी के लेख का भी उसी प्रकार संपादन कर दिया। श्री श्रीप्रकाश को यह बात इतनी नापसंद हुई कि फिर उन्होंने 'सरस्वती' में लेख नहीं भेजा। वे हिंदी के अच्छे लेखक और पत्रकार थे और काशी के 'आज' से उनका बहुत दिनों संबंध रहा। वे शिक्षक भी थे और पुण्यश्लोक स्वर्गीय बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने जब काशी विद्यापीठ की स्थापना की तो वे बहुत दिनों उसमें अध्यापन का कार्य करते रहे। मृत्यु के समय वे उसके कुलपति (चांसलर) पद को विभूषित कर रहे थे।

इस छोटी-सी टिप्पणी में हम उनके जीवन की विविध प्रवृत्तियों और कार्य-कलाप पर अधिक कहने में असमर्थ हैं। किंतु वास्तव में उनका जीवन, उनका कार्यकलाप, उनका चिंतन और उनका आभिजात्य इतना महत्वपूर्ण और प्रेरक है कि उसे किसी अधिकारी विद्वान् द्वारा लिखा जाना चाहिए। उनकी मृत्यु से भारत का एक वरिष्ठ, प्रतिभाशाली, आदर्शवादी और चरित्रवान राजनीतिज्ञ, शिक्षक और चिंतक उठ गया। काशी की पुरानी पीढ़ी का अंतिम राजनीतिज्ञ

चला गया। उत्तर प्रदेश का पिछली पीढ़ी का अंतिम स्मारक स्तंभ ढह गया। आज भारत, शिक्षा क्षेत्र और हिंदी की जो अपार क्षति हुई है उसका आंकना कठिन है। हम उनके प्रति अपनी विनम्रश्रद्धांजलि अर्पित करते और उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करते हैं।

(डॉक्टर) सम्पूर्णानन्दजी

१० जनवरी '६९ को काशी में ८० वर्ष की आयु में साहित्य वाचस्पति डॉ० सम्पूर्णानन्दजी का कैलासवास हो गया। उनके साथ काशी के आधुनिक युग के महान पुरुषों की वह लड़ी टूट गयी जिसमें डॉ० भगवानदास दानवीर शिवप्रसाद गुप्त, आचार्य नरेन्द्रदेव की गणना की जाती थी। डॉ० सम्पूर्णानन्दजी उस लड़ी के अंतिम रत्न थे। काशी ही नहीं, उत्तर भारत के मनीषियों में उनका बड़ा ऊंचा स्थान था। हिंदी संसार में तो वे विद्या और कृतित्व के क्षेत्र में अप्रतिम थे।

वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। वे शिक्षक, शिक्षा-शास्त्री, विज्ञानवेत्ता, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, प्रशासक, साहित्यकार और चिंतक थे, और प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें सफलता मिली। एक अत्यंत साधारण मध्यवित्त के परिवार में जन्म लेकर और सामान्य अध्यापक के पद से आरंभ कर वे एक विश्वविद्यालय के कुलपति, एक बड़े राज्य के मुख्य मंत्री और दूसरे बड़े राज्य के राज्यपाल पद तक पहुंचे। उनका जीवन सफल ही नहीं, सार्थक भी था क्योंकि उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में ठोस काम किया और उस पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ी।

महात्मा गांधी की पुकार पर और देशसेवा की उद्दाम भावना से प्रेरित होकर साधनहीन होते हुए भी उन्होंने एक कालिज के अच्छे वेतनवाले प्रिंसिपल के पद को छोड़कर आर्थिक संकट का वरण किया और अपना भविष्य तथा जीवन देश की सेवा में समर्पित कर दिया। उन दिनों कौन जानता था कि देश स्वतंत्र

हो जायेगा और भारतवासियों को देश के सर्वोच्च पद संभालने पड़ेंगे ? उस समय देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर कितने ही लोगों ने देश-सेवा का व्रत लिया था, किंतु उन लोगों की अपेक्षा जिनके पास अपना या पैतृक धन था और जो आर्थिक अभाव से पीड़ित न थे, उन लोगों का त्याग कहीं अधिक ऊंचा था जो आर्थिक दृष्टि से विपन्न थे और जिन पर अपने ही नहीं परिवार के भरण-पोषण की भी जिम्मेदारी थी। राजर्षि और डॉ० सम्पूर्णानन्दजी उन्हीं लोगों में थे इसीलिए उसका त्याग बहुत ऊंचा था।

वास्तव में डॉ० सम्पूर्णानन्दजी व्यावहारिक राजनीति के लिए नहीं बने थे। वे देश की परिस्थिति के कारण राजनीति में आये। वह दूसरी बात है कि अपनी प्रतिभा के कारण वे उसमें सफल हुए और ऊंचे से ऊंचे पद पर पहुंचे। किंतु मुख्य मंत्री और राज्यपाल हो जाना बहुत बड़ी बात नहीं है। कितने ही मुख्य मंत्री और राज्यपाल पद की क्षणिक शान-शौकत से हटते ही इतिहास की रद्दी की टोकरी में पटक दिये जाकर भुला दिये जाते हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द उनके अपवाद हैं। वे राजनीति में थे अवश्य, किंतु उसमें लिप्त नहीं थे। उनका हृदय राजनीति की क्षणिक तात्कालिक और महत्त्वहीन समस्याओं में उलझ नहीं सकता था। वह अधिक सारवान् और स्थायी महत्त्व की बातों में रस लेता था। उनमें दार्शनिक की दृष्टि थी और वे वस्तुओं और समस्याओं का उचित मूल्यांकन करके वास्तविक महत्त्व की बातों में अधिक ध्यान देते थे।

उनके चरित्र का सबसे बड़ा गुण था—नैतिक साहस। महात्माजी की आध्यात्मिकता के बावजूद कांग्रेस में उन लोगों का प्राधान्य हो गया था जो पश्चिम के भौतिकवाद से प्रभावित होकर जड़वादी हो गये थे। वे लोग जब कभी आध्यात्मिक या नैतिक मूल्यों की मौखिक प्रशंसा तो कर दिया करते थे, किंतु इस धर्म-प्रधान देश में वे धर्म की खिल्ली उड़ाकर उसको कमजोर करने का सतत प्रयास करते थे। अन्य धर्मों की खिल्ली उड़ाने का तो उनमें साहस न था, किंतु हिंदू धर्म का प्रत्यक्ष या परोक्ष विरोध वे बराबर किया करते थे। उन्होंने 'हिंदू' को 'प्रतिक्रियावादी' का पर्याय बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से राजनीतिक कार्यकर्ता केवल राजनीति ही में नहीं, व्यक्तिगत जीवन में भी धर्म-निरपेक्ष हो गये। अपने को हिंदू कहने में भी उन्हें संकोच या लज्जा का अनुभव होने लगा। ऐसे वातावरण में विशेषकर जब राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्तिगत उन्नति के लिए 'प्रगतिशील' होना परमाश्यक समझा जाता था, डॉ० सम्पूर्णानन्द में इतना नैतिक साहस था कि वे अपने को निष्ठावान् हिंदू घोषित करने में तनिक भी हिचक नहीं करते थे। वे नियमित रूप से पूजन करते थे, चंदन भी लगाते थे, किंतु इन बातों को वे न तो छिपाते थे और न इसके लिए उनमें कोई हीन भावना ही थी। उन्हें ज्योतिष में विश्वास था और वे ज्योतिषशास्त्र में शोध करके उसे अद्यतन

बनाने को उत्सुक थे। वे अपने विश्वासों को डंके की चोट तर्कसंगत रीति से विज्ञापित करते थे। वे उन तथाकथित प्रगतिशील नेताओं की तरह दम्भ नहीं करते थे जो एक ओर तो सार्वजनिक रूप से ज्योतिष का मजाक उड़ाते, और दूसरी ओर मित्रों अथवा संबंधियों द्वारा परोक्ष रूप से ज्योतिषियों से अपना भविष्य जानने को उत्सुक रहते।

उनका नैतिक साहस उनके जोरदार हिंदी के समर्थन में भी देखा जा सकता था। हिंदी का उचित पक्ष लेकर देश के चोटी के शक्तिशाली नेताओं से उन्होंने लोहा लिया था। स्कूलों की रीडरों में रामायण-महाभारत आदि की कथाओं को देने पर एक वर्ग के लोगों ने आपत्ति की थी और भारत सरकार में शिक्षा-मंत्री ने उस आपत्ति का परोक्ष रूप से समर्थन किया था। उस आपत्ति का उन्होंने जो उत्तर दिया था, वह अपने में तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही वह उनके नैतिक साहस का बड़ा अच्छा परिचायक भी है।

निष्ठावान् हिंदू होते हुए वे मुसलमानों में बड़े लोकप्रिय थे। आज से पचास-साठ वर्ष पहले तक निष्ठावान् हिंदुओं और दीनपरस्त मुसलमानों में काफी सौहार्द रहता था। इस युग में डॉ० सम्पूर्णानन्द उसी परंपरा को जीवित रखे हुए थे और इस बात का जीवित प्रमाण थे कि दूसरे धर्म के लोगों से सौहार्द रखने में अपने धर्म की निष्ठा बाधक नहीं होती। उनकी मृत्यु पर कितनी ही मुस्लिम संस्थाओं ने जो हार्दिक शोक प्रकट किया है, वह इस बात का प्रमाण है।

उन्होंने जो कार्य किया उसका संक्षिप्त वर्णन भी इस छोटी टिप्पणी में नहीं किया जा सकता। केवल कुछ ही कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने नैनीताल में भारत की अपने ढंग की पहली वेधशाला स्थापित की। आज वह कृत्रिम उपग्रहों आदि के चालन का पर्यवेक्षण करके अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर रही है। उन्होंने राज्य के ६० वर्ष से अधिक अवस्था के अकिंचन व्यक्तियों के लिए पेंशन की व्यवस्था करके देश को कल्याणकारी कार्य करने का मार्गदर्शन किया। वयोवृद्ध साहित्यकारों और कलाकारों को राज्य की ओर से पेंशन देने की योजना देश में पहली बार चलायी जिसका भारत सरकार तथा कई अन्य राज्यों ने अनुकरण किया। उनकी योजना में साहित्यकारों के आत्मसम्मान का पूरा ध्यान रखा जाता था। भारत सरकार की योजना में वे भिक्षुक समझे जाते हैं। इसी प्रकार उन्होंने उत्तर प्रदेश में हिंदी समिति की स्थापना कर राज्य द्वारा उच्च स्तर की ज्ञान-विज्ञान की हिंदी पुस्तकों की रचना और अनुवाद कराकर हिंदी-साहित्य की श्रीवृद्धि करने की व्यवस्था की। हिंदी, संस्कृत और उर्दू की नयी अच्छी पुस्तकों को राज्य की ओर से पुरस्कार देने की योजना का भी उन्होंने श्रीगणेश किया। कला के क्षेत्र में उन्होंने लखनऊ के मैरिस म्यूजिक कालिज का कायाकल्प करके उसे संगीत विश्वविद्यालय के नमूने का बना दिया। वाराणसी

के संस्कृत कालिज को संस्कृत विश्वविद्यालय बनाकर उन्होंने संस्कृत शिक्षा की प्रतिष्ठा बढ़ायी और उसके संस्कृत-विद्वानों को अन्य विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के स्तर पर बिठा दिया। ये थोड़े-से उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने पर उन्होंने अन्य राजनीतिक पुरुषों की तरह अपने कार्यकलाप को केवल राजनीतिक क्षुद्र स्वार्थों और प्रशासकीय समस्याओं तक सीमित नहीं रखा। उनका विशाल दृष्टिकोण राज्य को वास्तविक रूप से कल्याणकारी और सुसंस्कृत राज्य बनाने के लिए प्रयत्नशील था।

सर्वोपरि वे चिंतक और साहित्यकार थे। वे हिंदी के लेखक थे। उनकी सर्वोत्तम कृतियां हिंदी में हैं। वैसे तो उन्होंने कई दर्जन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, किंतु 'चिद्विलास', 'आर्यों का आदि देश' और 'समाजशास्त्र' हिंदी के गौरव ग्रंथ हैं। हिंदी साहित्य सम्मेलनके पूना अधिवेशनके अध्यक्ष-पद पर चुनकर, हिंदी का सर्वोच्च पुरस्कार (मंगलाप्रसाद पुरस्कार) देकर हिंदी-जगत् के सर्वोच्च सम्मान साहित्यवाचस्पति से अलंकृत कर एवं काशी नागरीप्रचारिणी सभा का संरक्षक बनाकर हिंदी संसारने उनकेप्रति अपनेहार्दिक सम्मान और स्नेहको व्यक्त किया। वे हिंदी के प्रबल समर्थक थे और हिंदीआंदोलन को उनसेसदैव बलमिलता रहा।

उनके निधन से देश की, उत्तर प्रदेश की और हिंदी संसार की जो क्षति हुई है उसका अनुमान करना कठिन है। ८० वर्ष के सफल और सार्थक जीवन के बाद सर्वजयी मृत्यु उन्हें ले गयी, किंतु अपने कृतित्व में वे अमर रहेंगे और भावी पीढ़ियों को प्रेरणा देते रहेंगे। 'सरस्वती' उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करती है और उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करती है।

(श्री) सजनीकान्त दास

बंगला की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'शनिवारेर चीठी' के संस्थापक और संपादक श्री सजनीकान्त दास का स्वर्गवास हो गया। सजनीकान्त बाबू

की मृत्यु से बंगला साहित्य का एक देदीप्यमान नक्षत्र टूट गया। उनकी प्रतिभा और उनके व्यक्तित्व ने बंगला साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है, और पिछले तीन दशकों में बंगला साहित्य ने जो रूप ग्रहण किया उसको स्थिर करने में उन्होंने बड़ा काम किया। यद्यपि वे कवि और कथाकार भी थे तथापि उनकी ख्याति मुख्यत: आलोचक के रूप में ही थी। आज से तीस वर्ष पहले मार्क्स और फ्रायड के सिद्धांतों ने नवीन बंगला-लेखकों को सहसा प्रभावित किया और नवीन साहित्य में जीवन और उसकी समस्याओं को उन्हीं सिद्धांतों के दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। आज—इतने दिनों बाद—हम कह सकते हैं कि वह दृष्टिकोण यथार्थ और वैज्ञानिक था, और उससे साहित्य का हित ही हुआ। किंतु उन दिनों एक तो वह दृष्टिकोण नवीन और अपरिचित था, दूसरे, नूतनता के उत्साह में उसका उपयोग करने में कुछ लोगों ने अति कर दी थी। सजनी बाबू ने अपनी प्रखर आलोचनाओं से उन लेखकों में संतुलन स्थापित किया। वे ऊंचे साहित्यकार तो थे ही, साथ ही विद्वत्तापूर्ण एवं शास्त्रीय आलोचना भी कर सकते थे, किंतु उन्होंने व्यंग्य और हास्य शैली को अपनाकर असंतुलित नूतनतावादियों की अनेक बातों को जनता के सामने हास्यास्पद बना दिया। उनमें व्यंग्य की गजब की प्रतिभा थी। व्यंग्य और हास्य का तनिक भी अवसव पाने पर वे उसे हाथ से नहीं जाने देते थे और चुटीली भाषा में ऐसा व्यंग्य करते थे कि व्यंग्य का शिकार तिलमिला कर रह जाता था। वे छोटे-बड़े किसी को भी नहीं छोड़ते थे। महाकवि रवीन्द्र-नाथ स्वदेशी के बड़े भक्त थे। स्वदेश में बनी किसी भी वस्तु की वे सराहना कर देते थे। कहते हैं कि एक बार किसी ने एक ब्लेड बनाया और वह महाकवि के पास प्रशंसापत्र के लिए जा पहुंचा। देश में तब तक शायद ब्लेड नहीं बने थे। वे उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए कि देश में ब्लेड बनने लगे हैं। बनानेवाले ने एक प्रशंसा-पत्र की याचना की। अपनी सरलता में उन्होंने उसी से स्वयं प्रशंसापत्र लिखने को कह दिया और जो प्रारूप उसने लिखकर दिया उस पर उन्होंने हस्ताक्षर कर दिये। बनानेवाले ने उस प्रशंसापत्र को अपने विज्ञापन में छपवा दिया। उस प्रशंसापत्र में लिखा था कि 'मैंने इस ब्लेड का उपयोग किया और इसे बहुत अच्छा पाया।' सजनी बाबू की निगाह में वह विज्ञापन आया। भला वे कब चूकनेवाले थे! उन्होंने कहा कि हमें गुरुदेव से मिलने का बहुधा अवसर मिलता है। अभी पिछले सप्ताह ही हमने उनके दर्शन किये और उन्हें केवल धोती पहने उघारे शरीर बैठे देखा। उनमें बालों की कहीं कोई कमी नहीं दिखलायी पड़ी। तब यह समझ में नहीं आता कि उन्होंने किस प्रकार और कहां उस ब्लेड का उपयोग करके उसका परीक्षण किया। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वे किसी को भी नहीं छोड़ते थे। उन्होंने 'शनिवारेर चीठी' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला जिसमें साहित्यिक आलो-चना रहती थी, और उनके वाग्बाणों का तूणीर कभी रिक्त नहीं होता था। इस

प्रकार का आलोचना-पत्र और किसी भारतीय भाषा में नही प्रकाशित हुआ। वह लोकप्रिय ही नहीं था, उससे बंगला साहित्य का बड़ा हित भी हुआ। राजशेखर वसु का हास्य और व्यंग्य समाज पर होता था, किंतु सजनी बाबू ने साहित्य को अपना क्षेत्र बना रखा था। इस युग में बंगला में दो महान् हास्य और व्यंग्य लेखक हुए जिनके जोड़ के लेखक देश में अभी तक उत्पन्न नहीं हुए। सजनी बाबू ने बंगला साहित्य के इतिहास का भी गंभीर अध्ययन किया था और कई मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण खोजें की थीं। स्वभाव के वे अत्यंत सरल और विनोदी थे। बंगला साहित्य-संसार में वे एक शक्ति थे और उनका प्रभाव बहुत व्यापक था। उनके निधन से भारतीय साहित्य, विशेषकर बंगला साहित्य की असीम क्षति हुई है। हम उनकी स्मृति में आदर से नतमस्तक हैं।

(आयुर्वेदाचार्य) सत्यनारायण शास्त्री

काशी के प्रसिद्ध वैद्यराज पं० सत्यनारायण शास्त्री का कैलासवास अक्टूबर १९६९ में हुआ। मृत्यु के समय उनकी आयु अस्सी वर्ष से अधिक थी। प्रायः दो महीने पूर्व हम जब काशी गये थे तब उनसे मिले थे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य इधर कुछ दिनोंसेगिर गया था और परिवारकीएकदुर्घटना केकारणउनका हृदय जर्जर हो गया था तथापि उनकी बातें सुनकर इस बात की कोई आशंका नहीं थी कि उनका अंत समय इतना निकट है। शास्त्रीजी काशी की विभूति थे। वे आयुर्वेद के महान् पंडित तो थे ही, साथ ही संस्कृत-साहित्य, व्याकरण और दर्शन में उनकी बड़ी गहरी पैठ थी। किसी भी विषय पर उनसे बात करने में साहित्यिक आनंद ही नहीं मिलता था, ज्ञान-वृद्धि भी होती थी। उनका नाड़ी-ज्ञान और निदान अद्-भुत और चमत्कारपूर्ण होता था। हमने स्वयं कितनी ही बार देखा कि कोई नया रोगी आया और उन्होंने उससे बिना कोई बात पूछे पहले उसकी नाड़ी देखी, और एक कागज पर तुरंत एक श्लोक बनाकर उसका निदान लिख दिया। उसके बाद

उससे कहा कि अब अपनी शिकायत बताओ। उसकी शिकायत सुनने के बाद उन्होंने अपना लिखा हुआ निदान उसे सुना और समझा दिया। हमें यह देखकर बार-बार आश्चर्य होता था कि रोगी ने जो शिकायतें बतलायी हैं, वे सब शास्त्री जी ने केवल नाड़ी देखकर ही, विना उससे उसकी शिकायत पूछे ही, पहले ही से लिख दी हैं। आयुर्वेद के उनके अगाध ज्ञान के कारण पूज्य महामना मालवीयजी ने उन्हें हिंदू विश्वविद्यालय के संस्कृत कालिज में आयुर्वेद विभाग में साग्रह निमंत्रित किया और बाद में वे उसके अध्यक्ष भी नियुक्त हुए। स्वर्गीय राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी का उन पर बड़ा विश्वास था और वे राष्ट्रपति के चिकित्सक भी रहे। कई वर्ष पूर्व उनके प्रशंसकों और शिष्यों ने उनका समादर किया था और उन्हें एक बहुत सुंदर अभिनंदन-ग्रंथ भी भेंट किया था। भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' के अलंकार से विभूषित भी किया था, किंतु जब हिंदी के विरुद्ध सरकार ने काला कानून बनाया तब उन्होंने उस अलंकरण का त्याग कर दिया था। उन्हें यह सम्मान संस्कृत और आयुर्वेद की विद्वत्ता और सेवा के लिए मिला था, किंतु उन्हें हिंदी से इतना अकृत्रिम प्रेम था कि सरकार की उस कार्रवाई से क्षुब्ध होकर उन्होंने विरोध-स्वरूप उसे लौटा दिया। संस्कृत के विद्वानों में ऐसा उत्कट हिंदी-प्रेम अन्यत्र नहीं देखा।

शास्त्रीजी का जीवन अत्यंत सरल था। वे बड़े नैष्ठिक ब्राह्मण थे और उनका बहुत-सा समय धार्मिक कार्यों में लगता था। रोगियों के प्रति उनका व्यवहार अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण होता था और उनकी बातचीत इतनी मधुर और आत्मीयता लिये हुए होती थी कि गरीब से गरीब रोगी भी आश्वस्त हो जाता था।

हमारे वे बड़े श्रद्धेय मित्र थे और जिन थोड़े-से लोगों की मित्रता को हम अपना सौभाग्य और अपने पूर्वजन्म के सुकृतों का फल समझते हैं, वे उनमें से एक महत्त्वपूर्ण महानुभाव थे। उनकी मृत्यु से भारत का एक श्रेष्ठ विद्वान् चला गया और आयुर्वेद का एक प्रमुख स्तंभ भग्न हो गया। उनका सारा जीवन जनता की सेवा में बीता। ऐसे धर्मात्मा, सात्विक और परोपकारी महान् पुरुष की मृत्यु से देश की अपार और अपूरणीय क्षति हुई है। काशी उनके जाने से सूनी मालूम पड़ती है। हमें संदेह नहीं कि वे अपने आराध्य भगवान् शंकर के सान्निध्य में पहुंच गये हैं। हम उनके शोक-संतप्त परिवार और असंख्य शिष्यों के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं, और आशा करते हैं कि वे शास्त्रीजी के पद-चिह्नों पर चलकर आयुर्वेद की सेवा करते रहेंगे। उन्होंने आयुर्वेद और जनता की जो दीर्घकाल तक सेवा की है उसके आभार-प्रदर्शन में उनका कोई अच्छा और स्थायी स्मारक बनाया जाना समीचीन होगा।
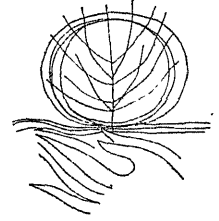
(सुकवि) सनेही, गयाप्रसाद शुक्ल

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और 'त्रिशूल' का कानपुर के उर्सुला मेमोरियल अस्पताल में ८९ वर्ष की आयु में निधन हो गया। वे 'जरा' रोग से पीड़ित थे, और उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने व्यय से उस सरकारी अस्पताल में उनके रहने, पथ्य, दवा आदि का प्रायः तीन साल से प्रबंध कर रखा था। गर्मी में उन्हें कष्ट न हो, इसलिए जिस कमरे में वे रहते थे, उसमें सरकार ने 'कूलर' भी लगा दिया था। उत्तर प्रदेश सरकार प्रतिवर्ष उन पर हजारों रुपये खर्च करती थी। सौ रुपये मासिक की साहित्यिक वृत्ति उन्हें उत्तर प्रदेश सरकार से वर्षों से मिल रही थी। १९७१ में आजीवन हिंदी की सेवा करने के लिए उन्हें उत्तर प्रदेश सरकार का दस हजार रुपये का पुरस्कार भी मिला था। उनके लिए—विशेषकर पिछले तीन-चार वर्षों में उत्तर प्रदेश सरकार ने उनको आराम से रखने तथा चिकित्सा कराने में जितना उत्साह दिखाया और उन पर जो व्यय किया उसका दूसरा उदाहरण नहीं है। उत्तर प्रदेश सरकार इसके लिए सारे हिंदी जगत की कृतज्ञता की पात्र है।

सनेहीजी के साथ हिंदी-काव्य के विकास का एक युग समाप्त हो गया। वे २१ अगस्त १८८३ में उन्नाव जिले के हड़हा नामक ग्राम में एक अति सामान्य स्थिति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। वह युग था जब उत्तर प्रदेश में उच्च अंग्रेजी शिक्षा का फैलना आरंभ ही हुआ था, किंतु शतियों से राजभाषा और शिष्टजन की भाषा के रूप में बने रहने के कारण फारसी पढ़ना आवश्यक समझा जाता था। निम्न-मध्य वर्ग के ग्रामीण परिवार के होने के कारण पहले प्राइमरी और फिर मिडिल स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। प्राइमरी में तो उन्होंने हिंदी पढ़ी, पर कचहरियों और अफसरों के उर्दू-आग्रह के कारण उन्होंने उर्दू-मिडिल पास किया। उन दिनों के मिडिल स्कूलों के अध्यापक उर्दू के विद्वान् होते

थे और उनमें जो हिंदू थे वे हिंदी के भी अच्छे ज्ञाता होते थे—विशेषकर ब्रजभाषा काव्य के। सनेहीजी की जन्मभूमि 'बैसवारे' में है जहां हिंदी (ब्रजभाषा) काव्य का बड़ा प्रचलन था और वहां कोड़ियों अच्छे कवि हुए हैं। पहले उन्होंने उर्दू छंदःशास्त्र पढ़ा, फ़ारसी पढ़ी और उनके संस्कार उर्दू कविता लिखने के हो गये। किंतु वैसवारा में ब्रजभाषा-काव्य का इतना प्रचलन था, और इनके कई अध्यापक उसमें इतने पारंगत थे कि उन्होंने हिंदी छंदःशास्त्र का भी विधिवत् अध्ययन किया। वास्तव में हिंदी के प्रचार और प्रसार में जो योगदान इन देहाती पाठशालाओं के अध्यापकों ने दिया, उसका सही मूल्यांकन आज तक नहीं किया गया। बाद में इनमें कितने ही विख्यात साहित्यकार हुए। स्वर्गीय आयुर्वेद पंचानन पंडित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी और सनेहीजी (इनमें कोड़ियों नाम जोड़े जा सकते हैं) 'मिडिलची' ही थे। पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्लजी की तरह सनेहीजी ने भी 'नार्मल स्कूल' का प्रशिक्षण लिया था। वे प्राइमरी स्कूल के सामान्य अध्यापक के पद से आरंभ कर मिडिल (टाउन) स्कूल और ट्रेनिंग क्लास के मुख्याध्यापक तक हो गये थे। स्वदेशी आंदोलन (१९०४) से ही उनमें राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हो गयी थी। वे लोकमान्य तिलक के अनन्य भक्त थे, बाद में वे श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के संपर्क में आये। 'सनेही' उपनाम से वे बहुत दिनों से ब्रजभाषा में कविता करते थे और कवि के रूप में प्रसिद्ध भी हो गये थे। किंतु अर्द्ध-सरकारी सेवा में होने के कारण वे 'सनेही' के नाम से उन दिनों राष्ट्रीय कविताएं नहीं लिख सकते थे। अतएव वे 'त्रिशूल' के उपनाम से उर्दू बहर और उर्दू-मिश्रित भाषा में गरमागरम राष्ट्रीय कविताएं लिखने लगे और विद्यार्थीजी उन्हें अपने 'प्रताप' में नियमित रूप से प्रकाशित करने लगे। 'सनेही' और 'त्रिशूल' की कविताओं की भाषा और शैली में इतना अंतर था कि लोग यह जान सकते थे कि सनेहीजी वे कविताएं लिखते हैं। यह रहस्य दस वर्ष तक गुप्त रहा। १९२१ में उन्होंने ट्रेनिंग इंस्ट्रक्टर के पद से त्यागपत्र दे दिया और वे उन्नाव छोड़कर कानपुर चले आये। तब 'सनेही' और 'त्रिशूल' को अलग रखने की आवश्यकता न थी।

वह युग राजनीति ही में नहीं, हिंदी में भी संक्रांति-काल था। ब्रजभाषा धीरे-धीरे अपदस्थ हो रही थी और खड़ीबोली उसका स्थान ले रही थी। आचार्य द्विवेदी भी बैसवारे के थे और उन्होंने उन्हें खड़ीबोली में लिखने को प्रोत्साहित किया। बहुत कहने-सुनने से उन्होंने कान्यकुब्जों की दहेज-प्रथा पर एक कविता लिखी जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। यह द्विवेदीजी का प्रिय विषय था। वे स्वयं इस पर कविता लिख चुके थे। फिर उन्होंने ग्रामीणों का 'करुण क्रंदन' नामक एक लंबी कविता लिखी जिसने सनेहीजी को नये कवि-समाज में प्रतिष्ठित कर दिया। इससे पूर्व वे ब्रजभाषा काव्य-जगत् में अपना स्थान बना ही चुके थे।

कानपुर में उन्हें विद्यार्थीजी के अतिरिक्त पहले लाला फूलचन्द जैन और लाला काशीनाथ का, और बाद में उनके अनन्य भक्त और उदार हृदय श्री किशोर-चन्द्र कपूर का आश्रय मिला। वे कानपुर में जम गये और पूर्णजी के निधन के बाद कानपुर में काव्य का जो वातावरण मंद पड़ गया था, उसे उन्होंने चमकाया। उनका सबसे बड़ा काम यह था कि उन्होंने ब्रजभाषा के पुराने छंदों—घनाक्षरी और सवैया—में खड़ीबोली कविता करके भूत और वर्तमान के बीच एक ऐसी कड़ी बना दी जिसे 'कानपुर शैली' कहा जाने लगा। वहां उनके अनेक शिष्यों—हितैषीजी, प्रणयेश, अभिराम, हृदयेश, कमलेश, अवधेश आदि ने इसे इतना संवारा और उनके पढ़ने की ऐसी मनमोहक शैली विकसित की कि पुरानी बोतलों में नयी काव्यसुधा का पान कर लोग आनंदित हो उठे। उनके अनेक शिष्यों में हितैषीजी तो इतने सफल और प्रसिद्ध हुए कि वे 'घनाक्षरी और सवैया के बादशाह' कहे जाते थे। उन्होंने खड़ीबोली भाषा को इन छंदों में जितना मांजा है और उसे जितना प्रांजल बना दिया है, उतना शायद ही और कोई कर सका हो। भाव और भाषा की दृष्टि से उनके छंद बेजोड़ हैं और उनमें मुहावरों का बड़ा सटीक प्रयोग है। दूसरे प्रसिद्ध शिष्य अनूपजी थे। उनकी 'शर्वाणी' में सनेहीजी के शिष्यत्व का पूरा विकास हुआ है। आश्चर्य की बात यह है कि हितैषीजी प्राइमरी स्कूल की अंतिम कक्षा तक भी नहीं पहुंचे थे और अनूपजी एम० ए० थे। किंतु सनेहीजी ने दोनों की सुषुप्त काव्य-सामर्थ्य के विकसित होने में अपूर्व प्रेरणा और सहायता दी। उनका दूसरा हिंदी-प्रचार का माध्यम 'सुकवि' था जो उन्होंने २२ वर्ष तक निकाला। इसमें समस्यापूर्ति के अतिरिक्त फुटकर कविताएं और हिंदी के प्रचार में सहायक लेख प्रकाशित होते थे। इस पत्र ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों के प्रचार में बड़ा काम किया। उनका हिंदी-प्रचार का तीसरा माध्यम 'कवि सम्मेलन' था। पहले जो कवि सम्मेलन होते थे, वे इतने आकर्षक और भव्य नहीं होते थे। सनेहीजी ने कवि सम्मेलनों की धूम मचा दी और उन्होंने स्वयं सैकड़ों कवि सम्मेलनों की अध्यक्षता की।

उनकी कविताएं 'सुकवि' के अतिरिक्त अधिकतर 'प्रताप' और 'वर्तमान' में छपती थीं, किंतु जो भी संपादक उन्हें कविता भेजने को लिखता, वे उसे निराश न करते। अतएव उनकी कविताएं सरस्वती, प्रभा ऐसी पत्रिकाओं और प्रताप, वर्तमान (कानपुर), स्वदेश, कवि (गोरखपुर) से लेकर हिंदी के सैकड़ों छोटे-बड़े मासिक पत्रों, साप्ताहिकों और दैनिकों में छपीं, और उनमें बिखरी पड़ी हैं। उनमें से कितने ही साप्ताहिक अब बंद हो गये हैं और उनके पुराने अंक उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने कोई बड़ा खंडकाव्य या महाकाव्य नहीं लिखा—केवल मुक्तक लिखे हैं जो पुरानी शैली से लेकर छायावादी युग के आरंभ तक की शैली और भाषा में हैं। उनका पूरा संग्रह कभी नहीं किया गया। भिन्न-भिन्न लोगों का अनुमान है

कि उनकी कविताओं (मुक्तकों) की संख्या बीस से लेकर पचास हजार तक है। जो भी हो, वे बहुकृतिक थे। उनकी कविताओं के अब तक प्राय: नौ-दस संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें उनके बहुकृतित्व का अल्पांश ही है। उनमें 'कृषक क्रंदन', 'त्रिशूल तरंग', 'कुसुमांजलि' और 'राष्ट्रीय वीणा' प्रताप प्रेस, कानपुर से प्रकाशित हुई थीं। किंतु अब अप्राप्य हैं। करुणा-कादम्बिनी को ग्रन्थकुटीर, कानपुर ने प्रकाशित किया है। शेष पुस्तकें वर्तमान प्रेस ने या स्वयं प्रकाशित कीं।

अब उनकी विभिन्न शैलियों की कविताओं के कुछ नमूने देखिए। ब्रजभाषा से उन्होंने अपना काव्य-जीवन आरंभ किया। अतएव पहले उनकी ब्रजभाषा की सरस्वती-वंदना का आनंद लीजिए—

मोहि परैं मृग से महि-मानव, तान सुरीली सुनावन लागै,
प्यावन लागै सनेही सुधारस की बरसा बरसावन लागै,
जीवन में नव जोति जगै, नव-जीवन की छवि छावन लागै,
बैठिकै मो मनमन्दिर में जब सारदा वीन बजावन लागै।

वंशी पर एक छंद देखिए—

बंस की ह्वै कै छुड़ावति वंसहिं, तीर-सी ह्वै हनै तीर सी तानैं।
बेधी गयी तऊ बेध की वेदना बूझै न, बेधति खेद न आनै॥
सूखि गयी हरियारी, तऊ, रही, ह्वै कै हरी है सुखावत प्रानै।
पीवै सदा अधरामृत, पै बरै बाँसुरिया विष बोइबो जानै॥

अब उनकी खड़ीबोली के दो नमूने देखिए—

ले चल वहाँ तू मेरे मानस-मयूर मुझे,
जाने में जहाँ के कल्पना की गति मन्द है।
सत्य की है सत्ता जहाँ, चेतन है सारी सृष्टि,
व्याप्त वायु ही सा वसु दिशि ब्रह्मानन्द है।
छाजती जहाँ पै आदि ज्योति जगदम्बिका की,
जीवन की ज्योति जहाँ राजती अमन्द है।
भूमि है न गगन, न दीपक, न तारागण,
दिन है न रात, न सूर है, न चन्द्र है।

वह है गुणी या निर्गुणी, वह रंक या श्रीमान है,
वह है निरक्षर भट्ट या उद्भट महा विद्वान है।
वह विप्र, क्षत्रिय, वैश्य है या शूद्र, क्षुद्र अजान है,
वह शेख ही है या कि सैयद, मुगल या कि पठान है।
जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है, और मृतक समान है।

अब 'त्रिशूल' की एक कविता की स्पष्टवादिता और 'आजादी' की अक्षय कामना को देखिए। १६२१ में प्रिंस आफ वेल्स भारत आये थे। कांग्रेस ने अपने स्वराज की मांग न स्वीकार किये जाने के कारण उनके अभिनंदन समारोहों का बहिष्कार ही नहीं किया, प्रत्युत जगह-जगह काले झंडों से उनका स्वागत भी किया था। इन प्रदर्शनों को रोकने के लिए सरकार ने कानून की अनेक 'दफाएं' (धाराएं) लगा दी थीं। उस समय 'त्रिशूल' ने यह कविता लिखी थी :

तुम्हारे बुजुर्गों ने वादे किये थे,
उन्हें भूल कर, कर रहे ये जफ़ाएँ।
है जलता कलेजा किसे हम दिखाएँ,
हैं नाशाद कैसे खुशी हम मनाएँ ?
ग़ज़ब है, सितम है ये अँधेरखाता,
निकलती चली आ रही हैं दफ़ाएँ,
है अब तक सुझाया, औ कब तक सुझाएँ?
हमें ग़म है, कैसे खुशी हम मनाएँ ?
गुलिस्ताँ हमारा ये हिन्दोस्ताँ है,
है ये फ़िक्र आजाद इसको बनाएँ।
तुम्ही मुंसिफ़ी से कहो शाहज़ादे !
जो ये हाल है तो खुशी क्या मनाएँ!

स्वतंत्रता पाने के बाद उनका काम भी समाप्त हो गया था। वे कानपुर छोड़ कर अपने गांव चले गये थे जहां वे ग्रामीणों की सेवा करते और कई बार निर्विरोध ग्राम-प्रधान चुने गये। किंतु फिर भी, वृद्ध और अशक्त हो जाने पर भी वे साहित्यिक समारोहों में जब कभी चले जाते थे—विशेषकर अपने मित्रों और भक्तों के आग्रह से। उन्हें हमने अंतिम बार ऐसे समारोह में बछरावां में महाकवि सिरस जी की ८०वीं वर्षगांठ के उत्सव में देखा था। मैंने उनसे कहा कि गिनिए तो ७० वर्ष से अधिक वय के यहां कितने कवि उपस्थित हैं ? उन्होंने गिनकर १५ के लगभग बताये थे। जब वे लखनऊ आते तब हमें दर्शन देने की अवश्य कृपा करते थे। यद्यपि हम उनकी बहुत कम सेवा कर सके थे, तथापि वे जब मिलते थे तब अपने कृतज्ञता-ज्ञापन से हमें संकोच में डाल देते थे। वे उन भाग्यवानों में थे जिन्होंने उदारतापूर्वक अपनी प्रतिभा से सैकड़ों उदीयमान कवियों को प्रोत्साहित किया, देश और हिंदी की सेवा में सारा जीवन लगा दिया, और अपने स्वतंत्रता के स्वप्न को साकार देख लिया। किंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की स्थिति से वे संतुष्ट न थे। फिर भी उन्होंने 'अपनी सरकार' की कभी आलोचना नहीं की। उनके साथ एक युग समाप्त हो गया। उनकी स्मृति में हमारा मस्तक विनम्रता और श्रद्धा से नत है।

(इतिहासकार) सरदेसाई

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता और मराठी लेखक श्री गोविंद सखाराम सरदेसाई का स्वर्गवास ९४ वर्ष की परिपक्व आयु में हो गया। श्री सरदेसाई भारतीय इतिहास—विशेषकर मराठा इतिहास—के शीर्ष विद्वान थे। एक निर्धन कृषक परिवार में जन्म लेकर उन्होंने बड़े कष्ट और त्याग के साथ विद्याध्ययन किया था। उन्होंने इतनी योग्यता से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की कि महाराज बड़ौदा ने उन्हें राजकुमारों का शिक्षक नियुक्त कर दिया और फिर उन्हें राजकुमारों के विद्यालय का प्रधानाध्यापक बना दिया। वे बीस वर्ष तक अध्यापक रहे, और फिर महाराज ने उनकी योग्यता से प्रभावित होकर उन्हें प्रशासन विभाग में ले लिया, जिसमें उन्नति करते-करते वे राज्य के एकाउंटेंट जनरल के पद पर पहुंच गये, और उसी पद से उन्होंने सेवा से निवृत्ति ली। जब सरदेसाईजी अध्यापन का कार्य कर रहे थे तब उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय विद्यार्थियों के लिए इतिहास की अच्छी और उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं क्योंकि अंग्रेजों की लिखी जो पाठ्य-पुस्तकें उस समय चल रही थीं, उनमें भारत के अतीत के साथ न्याय नहीं किया गया था। इस अभाव का अनुभव और लोग भी करते थे, किंतु उसका रोना रोकर चुप हो जाते थे। श्री सरदेसाई दूसरी धातु के बने थे। जब उन्होंने इस आवश्यकता का अनुभव किया तब उन्होंने स्वयं इस कमी को पूरा करने का संकल्प किया। इस प्रकार विद्यार्थियों को भारत के गौरवपूर्ण अतीत का सच्चा परिचय देने की इच्छा के कारण उनका इतिहास-कार्य आरंभ हुआ। इतिहास लिखते-लिखते उन्हें यह अनुभव हुआ कि मराठा-इतिहास की कोई अच्छी, विवरणपूर्ण और निष्पक्ष पुस्तक उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर वे विद्यार्थियों के लिए मराठा-युग के इतिहास की पाठ्य-पुस्तक लिख सकें। इस प्रकार वे मराठा इतिहास के शोध-कार्य में प्रवृत्त हुए और उन्होंने उपलब्ध मूलस्रोतों की सहायता

से 'मराठी रियासत' नाम का मराठों का बृहद् इतिहास लिखना आरंभ किया जो नौ खंडों में पूरा हुआ और जिसके लिखने में २५ वर्ष लगे। यह इतिहास अत्यंत शोधपूर्ण और प्रामाणिक है, और इसने सरदेसाई को इतिहास के रूप में सारे देश में प्रसिद्ध कर दिया। हमारे देश में अधिकांश विद्वान अंग्रेजी पर इतने लट्टू हैं, और अंग्रेजी जाननेवालों में अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने को इतने उत्सुक रहते हैं कि वे अपनी पुस्तकें प्रायः अंग्रेजी में ही लिखा करते हैं। रुपया कमाने के लिए वे स्कूलों के लिए पाठ्य-पुस्तकें भले ही देशी भाषाओं में लिख दें, पर विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ वे अंग्रेजी में ही लिखते हैं। मातृभाषा का प्रेम इन विद्वानों में नहीं दिखलायी पड़ता। हिंदी में केवल गौरीशंकर हीराचंद ओझा ही ऐसे एक विद्वान हुए जिन्होंने अपनी पुस्तक हिंदी में ही लिखी और उसका अंग्रेजी संस्करण निकालने से इनकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि उस ऐतिहासिक महत्त्व की पुस्तक को पढ़ने के लिए कितने ही विद्वानों को हिंदी सीखनी पड़ी। सरदेसाईजी का मातृभाषा-प्रेम उसी कोटि का था। बंबई सरकार के कार्यालय में पेशवा-काल के बहुत से कागज-पत्र सुरक्षित थे। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर बंबई की गुणग्राही सरकार ने उन्हें उनका अनुसंधान करके उनमें से चुने हुए कागज-पत्रों का संपादन करने का काम सौंपा। यह काम कितना महान् और परिश्रमसाध्य था, और सरदेसाईजी कितने परिश्रमी थे, इसका अनुमान इस बात से लग सकता है कि उन्हें ३५ हजार बस्तों का अध्ययन करना पड़ा और उनमें से छांटकर ४७ खंडों में उन्होंने महत्त्व-पूर्ण कागजों का संपादन करके प्रकाशन कर दिया। और यह सब उन्होंने केवल पांच वर्ष में कर डाला। इस कार्यालय में उन अंग्रेज रेजिडेंटों के कागज-पत्र भी सुरक्षित थे जो अंग्रेज सरकार के प्रतिनिधि रूप में पेशवाओं के दरबार में नियुक्त किये जाते थे। सरदेसाईजी ने उनके ऐतिहासिक महत्त्व को समझा। किंतु बंबई सरकार शायद उस कार्य पर खर्च करना नहीं चाहती थी। सरदेसाईजी को अपने कार्य और इतिहास से प्रेम था। वे आजकल के औसत प्रोफेसरों की तरह अर्थ-लोलुप नहीं थे। उन्होंने इतिहास के दूसरे महारथी सर जदुनाथ सरकार से सलाह की, और दोनों ने इस वृहत् कार्य को बिना किसी पारिश्रमिक के कर देने का बीड़ा उठा लिया। बंबई सरकार ने इसकी अनुमति दे दी, और इन विद्वानों के स्वार्थ-त्याग, परिश्रम और विद्याप्रेम के फलस्वरूप इन महत्त्वपूर्ण कागजों का सुसंपादित प्रकाशन 'पूना रेजिडेंसी कोरेस्पांडेंस सीरीज' के नाम से १५ बड़े-बड़े खंडों में हो गया। सरदेसाईजी ने भारत के इतिहास के अध्ययन को एक नयी दिशा दी। सर जदुनाथ सरकार और श्री सरदेसाई दो ऐसे विद्वान् थे जिन्होंने भारतीय इतिहास के क्षेत्र में ऐसा काम किया जो केवल मौलिक और उच्च स्तर का ही नहीं था, प्रत्युत दूसरे विद्वानों के लिए प्रेरणाप्रद भी था। सरदेसाईजी पुराने ढंग के सरल स्वभाव के सहृदय व्यक्ति थे। यद्यपि वे इतिहास के प्रोफेसर

नहीं थे तथापि सारे भारत से दक्षिण भारत के इतिहास का अध्ययन करनेवाले उनसे सहायता लेने उनके पास आते थे, और वे बड़े प्रेम से सबकी सहायता करते थे। वे वास्तविक अर्थ में 'गुरु' और 'मनीषी' थे। उनके स्वर्गवास से भारत के विद्वत्-समाज का एक स्तंभ ढह गया। उनके कृतज्ञ देशवासी उनका स्मरण सदैव आदर और श्रद्धा से किया करेंगे। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उनके सच्चे स्मारक हैं जो विद्या-प्रेमियों को सदैव प्रेरणा और ज्ञान देते रहेंगे।

(वेदमूर्ति) श्री सातवलेकरजी

१०१ वर्ष की वेद-सम्मत परिपक्व अवस्था में, एक दिन की बीमारी के बाद, वेदमूर्ति श्री सातवलेकरजी का स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु उनके पारडी (गुजरात) के आश्रम में हुई। मृत्यु से दो-तीन महीने पहले दिल्ली में उनकी जन्मशती बड़ी धूमधाम से मनायी गयी थी। वहां उनका अभूतपूर्व सम्मान किया गया था। 'सरस्वती' में हमने उनके संबंध में एक विस्तृत टिप्पणी दी थी जिसमें उनका संक्षिप्त जीवन-परिचय भी सम्मिलित था। इस समय इतना ही कहना पर्याप्त है कि जनता में वेदों के पठन-पाठन के प्रचार में जितना ठोस कार्य उन्होंने किया उतना अन्य किसी ने नहीं किया। वेदों के सुसंपादित संस्करणों तथा उनके हिंदी एवं मराठी अनुवादों को सस्ते मूल्यों पर प्रकाशित करके उन्होंने सामान्य शिक्षित लोगों के लिए वेद-सुलभ कर दिये। वे स्वयं वेदों के अच्छे ज्ञाता थे। संस्कृत, मराठी और हिंदी पर उनका समान रूप से अधिकार था। उनके जीवन की सबसे अनोखी बात यह थी कि उन्होंने चित्रकला का अध्ययन करके चित्रकला के शिक्षक के रूप में जीवन प्रारंभ किया और बहुत दिनों वे इस काम को करते रहे। चालीस वर्ष की अवस्था पार करने के बाद वे संस्कृत और वेदों के अध्ययन की ओर आकर्षित हुए। उसमें उन्हें इतना रस आया कि वे चित्रकला छोड़कर वेदों के अध्ययन और उनके प्रचार में प्राणपण से लग गये। वे भारतीय राष्ट्रीयता

से ओत-प्रोत थे इसलिए कुछ राजनीतिज्ञों ने उन्हें शंका की दृष्टि से भी देखा। किंतु वे इससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने अपना निवास-स्थान बदल दिया; किंतु वे अपने जीवन के लक्ष्य से च्युत नहीं हुए। वे हिंदी के परम भक्त थे। संविधान सभा में जब राजभाषा के प्रश्न पर विचार हो रहा था तब राजर्षि पुरषोत्तमदास टण्डन ने दिल्ली में अहिंदी-भाषी हिंदी-प्रेमियों का एक विशेष महासम्मेलन किया था। वे उसमें पधारे थे और उन्होंने उसमें सक्रिय भाग लिया था। मराठी-भाषी होने पर भी वे हिंदी के भक्त थे। उसे देश की राष्ट्रभाषा मानते थे और उसमें उन्होंने वेदों का अनुवाद किया था। वे त्याग, तपस्या और अध्यवसाय की मूर्ति थे। अपने वेदाध्ययन की लगन, सरल और सादे जीवन तथा उच्च चरित्र के द्वारा वे प्राचीन ऋषियों की याद दिलाते थे। उन्होंने आयु के वैदिक मानदंड 'शत शरद' को प्राप्त कर वैदिक ऋषियों की परंपरा निबाही और यह दिखा दिया कि मनुष्य सौ वर्ष की आयु स्वस्थ और सक्रिय रहकर किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। उनके निधन से भारतीय संस्कृति का एक महान् स्तंभ गिर गया। इससे देश और भारतीय संस्कृति की जो क्षति हुई है उसका पूरा होना संभव नहीं दिखायी देता।

(वीर) सावरकर

भारतीय क्रांतिकारी देशभक्तों के अग्रगण्य, मौलिक विचारक, साहित्यकार और इतिहासज्ञ वीर सावरकर का स्वर्गवास अप्रैल १९६६ में ८३ वर्ष की आयु में बम्बई में हुआ था। १८५७ की क्रांति को अंग्रेज इतिहासकार म्यूटिनी (गदर, विद्रोह) कहते थे। सावरकर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उसे 'स्वतंत्रता संग्राम' की संज्ञा दी। उन्होंने एक विचारपूर्ण पुस्तक में अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि १८५७ में भारतवासियों ने अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए उनसे युद्ध किया था। आज से पचास-साठ वर्ष पहले अंग्रेजी विद्यालयों में जानेवाले

इतिहास की कृपा से शिक्षित भारतवासी १८५७ की क्रांति को 'गदर' या 'म्यूटिनी' कहकर उसमें प्राणों की आहुति देनेवाले देशभक्तों को राजविद्रोही अपराधी समझते थे। सावरकर को यह दास-मनोवृत्ति सहन नहीं हुई और उन्होंने जनता के सामने उस क्रांति का वास्तविक रूप रखा। आज सारा भारत उसे 'प्रथम स्वतंत्रता युद्ध' मानता है। जिन दिनों कांग्रेस के नेता कांग्रेस के अधिवेशनों में 'राजभक्ति' का प्रदर्शन करके 'डोमिनिअन स्टेटस' से आगे की बात नहीं सोच सकते थे, उन दिनों सावरकर ने पूर्ण स्वतंत्रता की कल्पना ही नहीं की प्रत्युत खुले ढंग से उसकी मांग भी की थी। स्वदेशी के प्रचार के लिए विदेशी कपड़ों को जलाने का पहला आंदोलन चलानेवाले सावरकरजी ही थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्न के लिए उन्होंने 'अभिनव भारत' नामक क्रांतिकारी दल बनाया और अदम्य साहस, उत्साह और कठिन परिश्रम से उन्होंने सारे भारत ही में नहीं, योरोप में भी जगह-जगह उसकी शाखाएं स्थापित कीं। स्वतंत्रता आंदोलन के उस आरंभिक काल में सावरकर ने उषा की प्रथम लालिमा की तरह सारे देश को स्वदेश-प्रेम की अरुणिमा से रंजित कर दिया था।

सावरकर ने अपनी देशभक्ति और अपने विचारों के लिए जीवन-पर्यंत जितना कष्ट सहा और जितनी यातनाए झेलीं उतनी किसी भारतीय नेता को नहीं भुगतनी पड़ीं। उनका जन्म नासिक जिले के एक गांव में (८ मई, १८८३ ई०) हुआ था। पूना के फर्गुसन कालिज से बी० ए० करके वे कानून की शिक्षा के लिए इंग्लैंड चले गये। वहां शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ वे स्वतंत्रता-आंदोलन भी चलाने लगे। उनके एक अनुयायी श्री मदनलाल धींगरा ने १९०९ ई० में लंदन में सर कर्जन वाइली को गोली से मार दिया था। जब धींगरा के इस कार्य की निंदा करने के लिए वहां एक सभा हुई तो उसमें सावरकर ने इस प्रस्ताव का यह कहकर विरोध किया कि मामला अदालत में चला गया है। जब तक आरोप प्रमाणित न हो जाय तब तक उसके लिए किसी व्यक्ति की निंदा करना अनुचित है। इस विरोध के लिए कुछ अंग्रेजों ने उन पर प्रहार भी किये किंतु वे साहसपूर्वक अपने विरोध पर दृढ़ रहे। उनके कार्यों से घबड़ा कर अंग्रेज सरकार ने १९१० में उन्हें पकड़ लिया और 'मोदिया' नामक जहाज से उन पर मुकद्दमा चलाने के लिए भारत ला रहे थे। जहाज फ्रांस के मार्सेल्स नामक बंदरगाह में रुका। सावरकर जहाज की एक कोठरी (कैबिन) में बंद कर दिये गये थे। वे उसकी खिड़की खोलकर समुद्र में कूद पड़े और बड़े साहस के साथ तैरकर फ्रांस के तट पर जा पहुंचे। अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार वे स्वतंत्र हो गये थे, किंतु वहां की पुलिस ने बिना इस समस्या की बारीकी समझे हुए, उन्हें पकड़कर जहाज के अंग्रेज अधिकारियों को सौंप दिया। फ्रांस ने अपनी भूल का अनुभव किया और यह मामला अंतर्राष्ट्रीय अदालत तक गया। इधर सावरकर को बंबई लाकर उन पर

राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया। उन्हें आजीवन द्वीपांतर कैद का दंड दिया गया और उन्हें अंडमान भेज दिया गया। उनकी सारी संपत्ति जब्त कर ली गयी तथा उनकी पुस्तकें 'स्वतंत्रता-संग्राम' (The War of Independence) और 'मेजिनी की जीवनी' (मराठी) भी जब्त कर ली गयीं। अंडमान के कुख्यात 'सैल्युलर' कारागृह में वे दस वर्ष रहे, किंतु मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के बाद सरकार ने उन्हें भारत में लाकर रत्नागिरि जिले में नजरबंद कर दिया। १९३७ ई० में जब कांग्रेस ने नयी सरकारें बनायीं तब श्री जमनादास मेहता ने उन्हें छोड़ दिया।

नजरबंदी के दिनों ही से उन्होंने अछूतोद्धार का काम आरंभ कर दिया था। नजरबंदी से छूटने पर उन्होंने 'प्रजातंत्रीय स्वराज दल' और हिंदू महासभा में सक्रिय भाग लेना आरंभ किया। वे तीन बार हिंदू महासभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए और उन्होंने उस संस्था में नया जीवन फूंक दिया। वे कांग्रेस सरकार के आलोचक थे और उसके कई सिद्धांतों से सहमत नहीं थे। महात्माजी की हत्या के बाद पुलिस ने उन्हें भी पकड़ लिया और उन पर भी मुकद्दमा चलाया गया। किंतु अदालत ने उन्हें निर्दोष घोषित करके छोड़ दिया। पुलिस ने उन्हें फिर प्रिवेंटिव डिटेंशन ऐक्ट के अधीन पकड़ लिया। वे १९५० ई० में छोड़ दिये गये। इस प्रकार उन्हें अंग्रेज सरकार और कांग्रेस सरकार दोनों ही की जेलों की यातना सहनी पड़ी।

सावरकरजी उच्च श्रेणी के साहित्यकार भी थे। मराठी में उन्होंने कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं जिनमें कई उपन्यास, नाटक और काव्य हैं। उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'माझी जन्नथेप' है जिसमें उन्होंने अपने अंडमान के जीवन के संस्मरण लिखे हैं। मराठी साहित्य-सम्मेलन ने उन्हें १९३८ में अपनी बंबई अधिवेशन का सभापति बनाकर सम्मानित किया था।

वे हिंदू राष्ट्रवादी भारतीय थे। उनमें देश को स्वतंत्र करने की अदम्य अभिलाषा थी। वे केवल विचारक ही न थे, प्रत्युत उनमें अपने विचारों के लिए लगन के साथ काम करने की अपूर्व क्षमता थी। इसीलिए उन्हें देशी और विदेशी सरकारों का कोपभाजन होना पड़ा। बहुत से नेताओं में नैतिक साहस तो होता है किंतु शारीरिक साहस की कमी होती है। सावरकरजी में दोनों ही प्रकार के साहस काफी बड़ी मात्रा में थे। मार्सेल्स में अंग्रेजी जहाज से समुद्र में कूदकर और तैरकर फ्रांस के तट पर पहुंच जाने के उनके शौर्य और साहसपूर्ण कार्य से उस समय के सारे भारत के नवयुवकों में उल्लास और स्फूर्ति की एक लहर दौड़ गयी थी। उनके शौर्य के कारण ही उनके देशवासियों ने उन्हें 'वीर' की उपाधि दी थी।

मृत्यु सारी कटुता समाप्त कर देती है। उसके आलिंगन के बाद सामान्यत:

मृत व्यक्ति के गुणों और कार्यों का अधिक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया जा सकता है। वीर सावरकरजी की मृत्यु के बाद राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् और प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी से लेकर अन्य नेताओं ने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं उनसे स्पष्ट है कि राजनीतिक मतभेद होते हुए भी उनके गुणों और देश के लिए उनके अभूतपूर्व बलिदानों को लोग नहीं भूले। जब कभी भारतीय स्वतंत्रता का वस्तुनिष्ठ इतिहास लिखा जायेगा, उस समय भावी इतिहासकार समय की दूरी के कारण उस विराट् व्यक्तित्व को संपूर्ण रूप से आंक सकेंगे। तब दामोदर विनायक सावरकर की सेवाओं, उनके बलिदान, उनके विचारों और व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन हो सकेगा। इस समय तो हम इस महान् व्यक्ति की स्मृति में श्रद्धा से केवल नमन करके ही संतोष कर सकते हैं जिसका सारा जीवन त्याग, तपस्या, बलिदान और कष्ट-सहन की एक अलौकिक कहानी है।
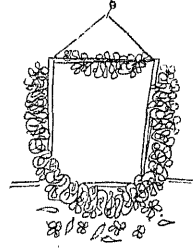
(श्री) सियारामशरण गुप्त

हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि, सफल उपन्यासकार और निबंध-लेखक श्री सियारामशरण गुप्त का निधन हिंदी-संसार के लिए अनभ्र वज्रपात के समान था। वे राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के अनुज थे। उन दिनों राज्यसभा का सत्र चल रहा था। मैथिलीशरणजी दिल्ली में थे और तभी सियारामशरणजी भी उनके पास आये हुए थे। वहां से ८ मार्च को उन्होंने हमें एक पत्र लिखा था। प्रकारांतर से उसमें उन्होंने लिखा था—"मैं यहां आया तो ज्ञात हुआ कि आप यहां आये थे। कैसा योगायोग कि आप झांसी पहुंचे तब आपके दर्शन नहीं हुए, यहां भी आकर उससे वंचित रहा और मैं स्वयं लखनऊ गया तब आप वाराणसी गये हुए थे! अब आगे की ओर ही ताकना है।" हमें अप्रैल के प्रथम सप्ताह में दिल्ली जाना था, और हम उस समय उनसे वहां मिलने की आशा लगाये हुए थे। "आगे की ओर ताकना" केवल भ्रम ही सिद्ध हुआ। "यच्चेतसापि न कृतं

तदिहाभ्युपैति !"

सियारामशरणजी में अनेक गुण थे, किंतु विनयशीलता की तो वे मूर्ति थे। विनम्रता उनमें इतनी अधिक मात्रा में थी कि आजकल के आत्मविज्ञापन और अपने को आगे ढकेलने की प्रवृत्तिवाले युग में बहुत से लोग उनके व्यक्तित्व, चरित्र और कृतित्व का सही मूल्यांकन नहीं कर पाये। फिर भी लोगों को, कपड़े में लपेटे गये अंगारे की तरह, उनकी उत्कृष्टता की उष्णता का अनुभव हुए बिना नहीं रहता था।

वे अनन्य वैष्णव और अनन्य गांधीवादी थे। उनका उदार वैष्णव हृदय अत्यंत विशाल था। उसी उदारता का फल था कि उन्होंने 'अमृतपुत्र ईसा' नामक काव्य की रचना की, जिसमें ईसा के चरित्र और संदेश को बड़ी सहानुभूति के साथ उत्कृष्ट काव्य में चित्रित किया गया है। हाल ही में इसका अंग्रेजी अनुवाद विलायत में छपा है और वहां उसकी बड़ी प्रशंसा हुई है। उनकी कविता में उनकी उच्च काव्य-प्रतिभा की झलक तो मिलती ही है, साथ ही वह आदर्शवाद से भी ओतप्रोत है। उनका आदर्शवाद निष्क्रिय नहीं है। वह प्रेरणाप्रद है। उनके उपन्यास ग्रामजीवन पर आधारित हैं और उसकी समस्याओं पर विचारोत्तेजक प्रकाश डालते हैं। वे हिंदी-गद्य के भी सिद्धहस्त लेखक थे। उनके निबंधों की शैली और वस्तु उच्च कोटि की हैं।

स्वर्गवास के समय उनकी आयु ६७ वर्ष की थी। यों तो वे दमा के पुराने रोगी थे, किंतु इधर ऊपर से वे स्वस्थ मालूम होते थे। १९६२ में 'सरस्वती' हीरक जयंती में वे लंबी यात्रा का कष्ट उठाकर सम्मिलित हुए थे। 'सरस्वती' से उनका बहुत पुराना संबंध था। वे द्विवेदीकाल के इने-गिने लेखकों में रह गये थे।

राष्ट्रकवि को सियारामशरणजी से अगाध स्नेह था। हम उन्हें 'राम-लक्ष्मण' की जोड़ी कहा करते थे। अनुज के इस दारुण वियोग से उन्हें जो दुःख हुआ होगा, उसकी हम कल्पना ही कर सकते हैं। किंतु वे धीर और बुद्धिमान् हैं। हम उनके प्रति तथा सारे परिवार के प्रति, हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं। उन्हें इस बात से कुछ धैर्य होगा कि सारा हिंदी संसार उनके इस दुःख में साझीदार है। हम भाई सियारामशरणजी की स्मृति में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

(मेजर) सीताराम जौहरी

अक्तूबर १६७२ में मेजर जौहरी की दुखद मृत्यु का समाचार मात्र दे सके थे। वे सहारनपुर में एक संभ्रांत परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने माध्यमिक शिक्षा सहारनपुर में पायी और इलाहाबाद से गणित में एम० ए० किया। बाद में इंग्लैड जाकर उन्होंने लीड्स विश्वविद्यालय से एम० ए० की डिग्री ली। लौटकर उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग में कुछ दिनों अध्यापक रहे, किंतु वहां अपनी कोई कद्र होती न देखकर वे सेना में भर्ती हो गये और गढ़वाल राइफल्स में लेफ्टिनेंट पद प्राप्त कर मेजर के पद तक पहुंच गये। वे अपने समय के बहुत अच्छे खिलाड़ियों में थे इसलिए उन्हें सैनिक जीवन अधिक पसंद आया। स्वाभिमानी और देशभक्त होने के कारण वे अधिकांश अंग्रेज अफसरों को प्रसन्न न कर सके, किंतु अपनी कार्यकुशलता और ईमानदारी के कारण वे उनके आदर के पात्र हो गये। उन्होंने द्वितीय महायुद्ध में भारत के बाहर भी सैनिक सेवा की और स्वतंत्रता के बाद जब कश्मीर पर पाकिस्तानियों ने अचानक आक्रमण किया तब वे वहीं थे। कई अन्य अफसरों के साथ उन्हें कश्मीर मिलिशिया बनाने और उसे प्रशिक्षण करने का काम सौंपा गया जो उन्होंने बड़ी कुशलता से किया और युद्ध में भी भाग लिया। सेवा से मुक्त होने पर वे लखनऊ आकर हमारे पड़ोस में रहने लगे।

सुशिक्षित होने के कारण वे सैनिक समस्याओं पर बराबर विचार और उनका अध्ययन करने में लगे रहते थे। उन्होंने आरंभ से ही सैनिक दृष्टि से हिमालय के महत्त्व को समझ लिया था और अवकाश काल में उन्होंने लद्दाख से नागालैंड तक हिमालय के भीतरी भागों की कई बार पैदल यात्रा की और ऐसे दुर्गम स्थानों में भी गये जहां लोग नहीं पहुंच पाते। वे हिमालय, उसकी घाटियों, नदियों, दर्रों, पगडंडियों तथा उसकी बनावट से जितने परिचित थे उतना भारत

में शायद ही कोई अन्य व्यक्ति परिचित हो। वे लद्दाख से एक दुर्गम मार्ग से—जिस पर कोई नहीं चलता—कुलू जा पहुंचे। उनका विचार था कि सैनिक दृष्टि से लद्दाख को भारत से जोड़ने के लिए वह मार्ग बनाना आवश्यक है। वे हिमालय के संबंध में सब बातें अधिकारपूर्वक बता सकते थे। हिमालय के साथ ही, उन्होंने सैनिक दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत का भी अध्ययन किया था जो बर्मा, तिब्बत और चीन से मिला है। उन्होंने नागालैंड, मीजोरम, असम और उदयाचल पर एक बड़ी प्रामाणिक पुस्तक (डार्क कॉर्नर आफ इंडिया) लिखी थी। इसके बाद उन्होंने भारत-चीन युद्ध, और भारत-पाक युद्ध पर भी पुस्तकें लिखीं जो सैनिक दृष्टि से लिखी गयी थीं। सैनिक क्षेत्र में उनका बड़ा सम्मान हुआ। मृत्यु से पूर्व उन्होंने कश्मीर के युद्धों पर एक बड़ी खोजपूर्ण पुस्तक लिखी थी जो वे प्रेस में छपने को दे गये थे। मेजर होते हुए भी अपनी प्रामाणिक पुस्तकों के कारण उनका बड़े-बड़े सैनिक अधिकारी भी बड़ा सम्मान करते थे। पुस्तक लिखने के पहले वे रणक्षेत्र के हर भाग को देखते, स्वयं संग्रामों के रेखाचित्र बनाते तथा युद्ध में भाग लेनेवाले सिपाहियों और छोटे अफसरों (नॉन-कमीशंड आफिसरों) से प्रत्येक संग्राम की छोटी से छोटी बातें पूछकर उनका परीक्षण करके किसी संग्राम का वर्णन करते। संग्राम या युद्ध-संबंधी जो भी प्रकाशित या अप्रकाशित साहित्य उन्हें मिल जाता, उसका वे ध्यान से अध्ययन करते। इतनी तैयारी के बाद वे पुस्तक लिखते और अपने व्यय से उसे छपाते, क्योंकि उनका उद्देश्य सेना और भारत की सेवा करना था—धनोपार्जन नहीं। भारत के प्रथम भारतीय सेनापति जनरल करिअप्पा के वे कृपापात्र थे। मृत्यु से कुछ सप्ताह पूर्व वे अपनी कश्मीर संबंधी पुस्तक पर उनके विचार जानने के लिए उनके घर मरकारा (कुर्ग) गये थे और तीन दिन उनके अतिथि रहे। इस आतिथ्य पर उन्होंने हमारे अनुरोध पर एक लेख लिखा था जो हमने जनवरी '७३ में प्रकाशित किया था। जब हमने जनरल करिअप्पा को उनकी मृत्यु कीसूचना दी तो उन्होंने हमें लिखा : "By his death we have lost a prolific writer on defence matters in our country. His books were not only of great military value to our service officers—past and present—but some are also of great educational value to the pubiic of our country." (उनकी मृत्यु से हमने प्रचुर संख्या में पुस्तकें लिखनेवाले एक लेखक को खो दिया जिसने हमारे देश की सुरक्षा से संबंधित विषयों पर पुस्तकें लिखी थीं। उनकी पुस्तकें हमारी सुरक्षा सेवा के अवकाश प्राप्त और वर्तमान अधिकारियों के लिए सैनिक मामलों में बहुमूल्य ही नहीं हैं, प्रत्युत उनमें से कुछ हमारे देश की जनता की शिक्षा के लिए भी मूल्यवान हैं।) जनरल करिअप्पा के समान महान् सेनानायक की यह सम्मति मेजर जौहरी के लेखन के रूप में सेवाओं के लिए बहुत

बड़ा प्रमाणपत्र है।

उनका जीवन सेना में घुलमिल गया था। वे उसे अपना परिवार समझते थे। अपनी गाढ़ी कमाई के ब्याज और पेंशन से वे अपने रेजिमेंट की कल्याण-निधि में प्रति वर्ष एक हजार रुपये भेजते थे। अपनी वसीयत में वे अपने धन का अधिकांश भाग अपने रेजिमेंट गढ़वाल रायफल्स को दे गये हैं जो पचास हजार हैं। इसी से उनकी उदारता, विशाल हृदयता तथा सेना के प्रति गहरे प्रेम का परिचय मिलता है।

उन्होंने अपनी पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी हैं। पुराने सहारनपुरी होने के कारण वे उर्दू जानते थे—हिंदी बहुत कम। हमारे अनुरोध पर उन्होंने 'सरस्वती' के लिए लेख लिखना आरंभ किया और वे इतने कुशाग्र-बुद्धि थे कि थोड़े ही दिनों में संतोषजनक हिंदी लिखने लगे थे। हमने उनके अनेक लेख प्रकाशित किये। उनके दो लेख हमारे पास अप्रकाशित पड़े थे। उनमें से हमने एक इस अंक में, और दूसरा 'तीन दिन जनरल करिअप्पा के अतिथि' जनवरी '७३ में प्रकाशित किया था। हमारे अनुरोध पर उन्होंने हिंदी में 'छापामार युद्ध' नाम की एक पुस्तक भी लिखी और प्रकाशित की थी जो हिंदी के सैनिक साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

वे हमसे जुलाई के अंत में विदा होकर कश्मीर गये। वहां से वे लद्दाख गये और लद्दाख से वे एक अनजाने मार्ग की खोज में हिमाचल प्रदेश पहुंचे। यह रास्ता बड़ा दुर्गम था। सड़क की कौन बात, पगडंडी भी नहीं थी। भीषण चढ़ाइयों और उतराइयों के कारण उनकी ६५ वर्ष की अवस्था का हृदय उस दुःसाध्य परिश्रम को सहन नहीं कर सका। वे अपने ध्येय में तो सफल हो गये, अर्थात् उस अनजाने मार्ग से हिमालय पार कर हिमाचल प्रदेश के प्रसिद्ध मनाली नामक स्थान पर पहुंच गये। वहां वे डाक-बंगले में ठहरे और भोजन करके सो गये। रात को सोते ही में उनकी हृदयगति बंद हो गयी। सवेरे वे मृत पाये गये। उन्होंने इस कहावत को चरितार्थ किया कि 'शरीरं वा पातयेम्, कार्यं वा साधयेम्।'

हमसे उनकी गहरी मित्रता हो गयी थी। वे बड़े सज्जन, स्पष्टवक्ता, निर्भीक और सुलझे दिमाग के सच्चे अर्थों में सज्जन व्यक्ति थे। उनकी मृत्यु से हिंदी ने सैनिक विषयों के एक दुर्लभ लेखक ही को नहीं खोया, 'सरस्वती' ने अपना एक सम्मानीय लेखक भी खो दिया। हमारा मित्र-शोक व्यक्तिगत है। भगवान् उनकी आत्मा को शांति दे !
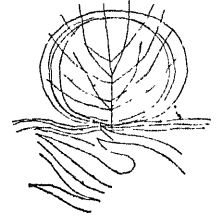
(श्री) सुखसम्पति राय भण्डारी

हमें यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि ७१ वर्ष की आयु में हिंदी के पुराने लेखक-उन्नायक श्री सुखसम्पति राय भंडारी का निधन नवम्बर '६२ में इंदौर में हो गया। वे कैंसर से पीड़ित थे। श्री भंडारी ने आज से प्रायः चालीस-पचास वर्ष पहले हिंदी में वैज्ञानिक कोश के निर्माण का कार्य आरंभ किया था। उनका वैज्ञानिक कोश दस बड़े-बड़े खंडों में समाप्त हुआ था। वह बड़ा उपयोगी और मूल्यवान है। हिंदी को समृद्ध करने में पिछली पीढ़ी के जिन निस्पृह और योग्य व्यक्तियों ने विशुद्ध सेवा भाव से अथक परिश्रम किया था, उनमें उनकी गणना होती है। किंतु खेद है कि उनकी सेवाओं और उनके कार्य की उचित कद्र नहीं की गयी। अंतिम बार उनसे हमारी भेंट १९५४ में हुई थी। उन्हें आशा थी कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देशी सरकारें उनके कार्य की सराहना करेंगी तथा उनके अनुभव और योग्यता से लाभ उठावेंगी। उन्होंने अपना बृहत् कोश स्वयं ही प्रकाशित किया था, और उसमें उन्होंने अपनी सीमित आय का बहुत बड़ा भाग लगा दिया था। किंतु उन्हें इस बात से बड़ी निराशा थी कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी उनकी सुनवायी कहीं नहीं हुई। वे पुराने इंदौर राज्य के रामपुरा नामक स्थान के रहनेवाले थे जो अब मध्यप्रदेश में है। उनका अधिकांश जीवन राजस्थान और मध्यभारत में बीता। विद्वान् होते हुए भी वे बड़े निरभिमानी और विनम्र थे। ऐसे ही निस्पृह और एकांत हिंदी-प्रेमियों ने पिछले युग में हिंदी को वह बल और वह ओज दिया जिसके कारण वह राष्ट्रभाषा हो सकी। वे हिंदी के उन अज्ञात और मूक सेवकों में थे जिनकी हड्डियों की नींव पर आज हिंदी का विशाल भवन खड़ा है। हम उनकी स्मृति के प्रति अपनी अत्यंत विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

(श्री) सुदर्शनजी

बंबई में हिंदी के आरंभिक प्रमुख कहानीकार और द्विवेदी युग के लेखक सुदर्शन जी का स्वर्गवास दिसंबर '६७ में हुआ। वे पंजाब के निवासी थे। द्विवेदी युग में सुदर्शनजी और श्री सन्तराम बी० ए० पंजाब के हिंदी के प्रमुख लेखक थे। सुदर्शन जी की कहानियां 'सरस्वती' ही में छपती थीं और उसी के माध्यम से सुदर्शनजी की कला का विकास हुआ। उनकी पहली कहानी 'प्रलय की रात्रि' सन् १९२२ में 'सरस्वती' में छपी थी। बाद में वे बम्बई चले गये और फिल्मों में काम करने लगे, वहां भी उन्हें काफी सफलता मिली। वे बम्बई की हिंदी साहित्यिक गति-विधियों में बराबर भाग लेते रहे तथा उन्हें प्रभावित करते रहे।

उनका जन्म सन् १८९६ में स्यालकोट में हुआ था। उनका असली नाम बदरीनाथ था, किंतु वे अपने उपनाम 'सुदर्शन' से ही प्रसिद्ध हुए। वे नाम ही से नहीं, शरीर-संपत्ति से भी सुदर्शन थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से बी०ए० किया। आरंभ में वे उर्दू में कहानियां लिखते थे। बाद में हिंदी की ओर रुझान हुआ और हिंदी में लिखने लगे। उनकी पहली कहानी पढ़कर आचार्य द्विवेदी ने उन्हें बहुत प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप वे केवल हिंदी में लिखने लगे। उनकी कहानियों के कई संग्रह 'तीर्थ-यात्रा', 'सुदर्शन सुधा', 'परिवर्तन' आदि नामों से प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने 'भाग-वन्ती' नामक एक उपन्यास और 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' नाम का एक प्रहसन भी लिखा था। सुदर्शनजी, प्रेमचंदजी, कौशिकजी, ज्वालादत्त शर्मा आदि ने हिंदी में आधुनिक कहानी विधा की नींव ही नहीं डाली, प्रत्युत उस विधा को विकसित भी किया। वे हिंदी कहानी-कला की नींव के पत्थर थे जिन पर आज के हिंदी कहानी-साहित्य का विशाल भवन खड़ा है। उनके निधन से द्विवेदी युग की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी टूट गयी। 'सरस्वती' अपने सम्मानित लेखक और हिंदी साहित्य

के उन्नायक श्री सुदर्शनजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती है और उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करती है।

(श्री) सुधांशु, लक्ष्मीनारायण

बिहार का एक साहित्यकार हिंदी का 'दिनकर' (सूर्य) था और दूसरा सुधांशु (चन्द्रमा) था। यह कैसा दैव दुर्विपाक है कि कुछ ही दिनों के अंतर में दोनों ही अस्त हो गये। श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' के निधन का समाचार उतना ही अप्रत्याशित था जितना दिनकरजी के स्वर्गवास का। थोड़े ही दिनों के अंतर में इतने भीषण आघातों ने हिंदी का हृदय जर्जर कर दिया है।

सुधांशुजी साहित्य, हिंदी और राजनीति में समान रूप से भाग लेते थे—और उनमें डूबकर भाग लेते थे। इसी निष्ठा के कारण उन्हें जीवन में सफलता और सम्मान मिला। सुधांशुजी का जन्म पूर्णिया जिले के एक समृद्ध क्षत्रिय जमींदार परिवार में हुआ था। उन्होंने हिंदू विश्वविद्यालय से एम० ए० किया था। किंतु हिंदीभक्त और राष्ट्रभक्त होने के कारण उन्होंने अपना सारा जीवन इन दो क्षेत्रों में सेवा करने में लगा दिया। वे कई वर्ष देवघर की प्रसिद्ध विद्यापीठ के प्राचार्य रहे जो हिंदी के माध्यम से उच्च शिक्षा देने के लिए उस युग में स्थापित की गयी थी जब सर्वत्र उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी थी। हिंदी के प्रचार में—विशेषकर रांची ऐसे आदिवासी क्षेत्रों में—उन्होंने स्तुत्य कार्य किया। हिंदी के प्रचार और प्रसार के अतिरिक्त वे सफल लेखक और आलोचक भी थे। उनकी दो पुस्तकें 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' हिंदी के आलोचना-साहित्य में बड़ी समादृत हुईं और आज भी उनका महत्त्व घटा नहीं है। उन्होंने कई वर्ष 'अवन्तिका' नाम की मासिक पत्रिका का संपादन किया जिसके वास्तविक सर्वेसर्वा वे ही थे। 'अवन्तिका' में उनकी लेखनी के सौष्ठव और संपादन-कुशलता के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। 'प्रभा', 'मर्यादा', 'विक्रम'

आदि की तरह 'अवन्तिका' उन अल्पजीवी पत्रिकाओं में है जो जितने दिन जीवित रही उतने दिनों प्रभावशाली रहीं, और अपनी महत्ता के कारण वे हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में स्थायी महत्त्व का स्थान पा गयीं। सुधांशुजी बिहार हिंदी साहित्य-सम्मेलन के प्रमुख कार्यकर्ताओं में थे और वे कई वर्ष तक उसके अध्यक्ष भी रहे। पटना में हिंदी साहित्य-सम्मेलन का जो विशेष अधिवेशन हुआ था उस 'जटिल' समारोह को सफल बनाना अत्यंत कठिन कार्य था। वह सुधांशुजी के व्यक्तित्व और सूझबूझ के कारण ही सफल हो सका। बिहार में हिंदी ग्रंथ एकादमी के वे अध्यक्ष थे और उसे स्थापित करने तथा उसकी कार्य-प्रणाली को स्थायी रूप और दिशा देने का श्रेय उन्हीं को है। इस प्रकार हिंदी के प्रचारक, हिंदी के अध्यापक, हिंदी संस्थाओं के संचालक, उच्च श्रेणी के विचारक, लेखक, आलोचक और संपादक के रूप में उनकी हिंदी की सेवाएं बहुमुखी ही नहीं, बड़ी महत्त्वपूर्ण और उच्चश्रेणी की थीं। पिछले कुछ वर्षों में तो सेठ गोविंददास, श्री गंगाशरणसिंह तथा सुधांशुजी ही अखिल भारतीय स्तर पर हिंदी के सर्वमान्य नेता, उन्नायक और उसके पक्ष-समर्थक रह गये थे। हिंदी कार्यकर्ता उनके नेतृत्व में बहुत विश्वास करते थे।

सुधांशुजी का दूसरा कार्यक्षेत्र राजनीतिक था। वे आरंभ ही से, जमींदार होते हुए भी, राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े थे। उन्होंने दमन के दिनों में पुलिस की लाठियों की मार सही, कई बार सपरिश्रम कारागार का दंड सहा, किंतु कभी इन कष्टों से विचलित नहीं हुए। अपने उच्च चरित्र, प्रभावशाली व्यक्तित्व और योग्यता के कारण उन्होंने बिहार की राजनीति में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। वे कई बिहार विधानसभा के सदस्य रहे और अंत में उसके अध्यक्ष हो गये। वे बिहार के उन बहुत थोड़े नेताओं में थे जो अपने उच्च चरित्र, ईमानदारी और योग्यता के कारण सभी वर्गों द्वारा समादृत थे। किंतु दुर्भाग्य से बिहार की राजनीति में जातिवाद का जो अभिशाप लग गया है, उसका शिकार उन ऐसे सदाशय और निष्पक्ष व्यक्ति को भी होना पड़ा।

सुधांशुजी के स्वर्गवास से हिंदी को महान् क्षति हुई है। उनके समान विदग्ध साहित्यकार और हिंदी के नेतृत्व का मिश्रण मिलना कठिन है। उनकी आभिजात्य शिष्टता, शील और विनम्रता से उनसे मिलनेवाला प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। वैसा ही चारुदर्शन उनका व्यक्तित्व था। बिहार ही नहीं, सारे देश की उनकी मृत्यु से अपूरणीय क्षति हुई है। हम उनके परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करते हैं।

(श्री) सोमपुरा

सौराष्ट्र के प्रसिद्ध मंदिर-कला के विद्वान् और सोमनाथ के नये मंदिर के निर्माता श्री सोमपुराजी का स्वर्गवास अक्टूबर १६६६ में एक दुर्घटना में हो गया था। वे श्री बद्रीनाथजी की यात्रा करने गये थे। विष्णु प्रयाग में (जहां विष्णु गंगा और अलखनन्दा का संगम है) वे स्नान करते समय बहकर डूब गये। उनकी अवस्था सत्तर वर्ष से अधिक थी।

कई वर्ष पूर्व जब हम सोमनाथजी के दर्शन करने गये थे तब संयोग से वहां उनसे हमारी भेंट हो गयी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद गुजरात और सौराष्ट्र के नेताओं ने (जिनमें स्व० सरदार पटेल और श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी प्रमुख थे) सोमनाथ के उस परम प्राचीन मंदिर को फिर से बनवाने का निश्चय किया जो अनेक बार तोड़ा गया और अनेक बार बनाया गया था। अंतिम बार गुजरात के एक नवाब ने उसको तोड़ा था और ऐसा कर दिया था कि वह फिर से काम में न लाया जा सके। पुण्य श्लोका महारानी अहिल्याबाई ने मूल मंदिर से कुछ दूर पर एक नया मंदिर बनवा दिया था, किंतु पुराने मंदिर के कुछ भग्नावशेष ही बच रहे थे। इन नेताओं ने उस मूल मंदिर के स्थान पर ही नया मंदिर बनाने का निश्चय किया और उसके लिए एक ट्रस्ट बना दिया गया; किंतु प्राचीन शैली के मंदिर के बनानेवाले नहीं मिलते थे। उस समय श्री सोमपुराजी की सहायता ली गयी। वे मंदिर स्थापत्य के महान् विद्वान् थे। उन्होंने एक प्राचीन मंदिर स्थापत्य के संस्कृत ग्रंथ 'दीपार्णव' का गुजराती अनुवाद किया था। किंतु अनुवाद के साथ-साथ उन्होंने उसमें सैकड़ों रेखाचित्र देकर मूर्तियों तथा मंदिरों के शिल्प को स्पष्ट भी कर दिया था। इसमें हिंदू और जैन मंदिरों और मूर्तियों के संबंध में जितनी विवरणपूर्ण जानकारी दी गयी है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने हमसे उसका हिंदी संस्करण प्रकाशित करने की भी उत्सुकता प्रकट की थी। हमने

कुछ प्रयत्न भी किया, किंतु न तो हमारी हिंदी संस्थाएं और न सरकारी समितियां ही ऐसे प्रकाशनों में बहुत रुचि लेती हैं। अतएव वे उसका हिंदी संस्करण प्रकाशित न कर सके।

सोमनाथ के मंदिर की उन्होंने जो कल्पना की थी और उसका जो नकशा बनाया था, वह बहुत विशाल था। अभी उसका एक अंश ही बन पाया है, किंतु जितना बना है वह अपने में पूर्ण है। मंदिर की प्रतिष्ठापना स्वयं तत्कालीन राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने की थी, और उन्होंने मंदिर के शिल्प और निर्माता की बड़ी प्रशंसा की थी।

सोमपुराजी को मंदिरों के शिल्प और मूर्तिकला का अपूर्व ज्ञान था। वे इन बातों के चलते-फिरते विश्वकोश थे। इतने विद्वान् होते हुए भी वे बड़े निरभिमानी और सरल स्वभाव के थे। हमें उनकी अकाल मृत्यु के समाचार से बड़ा दुःख हुआ। उनकी मृत्यु से भारतीय शिल्प और प्राचीन स्थापत्य की महान् क्षति हुई है।

(परम भागवत) हनुमानप्रसाद पोद्दार

'कल्याण' के संस्थापक-संपादक और भारत-प्रसिद्ध गीता प्रेस के संस्थापक परम वैष्णव श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार का मार्च '७१ में गीता वाटिका में वैकुंठवास हो गया। वे इस युग की एक महान् और आश्चर्यजनक विभूति थे। गांधीजी ने नरसी मेहता के भजन 'वैष्णवजण तो तेणे कहिए जो पीर पराई जाने रे' को देश में बड़ा लोकप्रिय बना दिया था। उस भजन की हुई 'वैष्णव' की परिभाषा भाई जी पर (जिस नाम से पोद्दारजी विख्यात थे) पूरी बैठती थी। उसकी प्रत्येक पंक्ति के वे जीवित उदाहरण थे। इसीलिए हमने उन्हें 'परम भागवत' कहा है।

पोद्दारजी उस रत्न के समान थे जिसमें तराशंकर अनेक पहलू बना दिये जाते

हैं, और प्रत्येक पहलू से अपूर्व दीप्ति और आभा निकलती है। उनके जीवन का राजनीतिक पहलू था, समाज-सेवी और पर-दुःख परायणता का पहलू था, लोक-संग्रह का पहलू था, अपरिग्रह का पहलू था, जीवन के उच्च नैतिक आदर्शों का पहलू था, उच्च स्तर की कार्य-कुशलता, संगठन शक्ति और कर्मठता का पहलू था, और भी कितने पहलू थे, किंतु वह रत्न जिस पदार्थ का बना था उसे व्यापक अर्थ में 'धर्म' कहा सकता है। इसी 'धर्म और धार्मिकता के पदार्थ के रत्न होने के कारण उन पहलुओं में इतनी प्रखर आभा थी कि वह जौहरियों और सामान्य लोगों को समान रूप से प्रभावित करती थी।

उनका क्रिया-कलाप इतना विस्तृत और बहुमुखी था कि उसके क्षेत्र-विस्तार को देखकर आश्चर्य होता था। उसका परिचय देने का न तो यह अवसर है और न इस छोटी-सी टिप्पणी में वह दिया ही जा सकता है। इसके लिए तो एक विशाल ग्रंथ की आवश्यकता है और उसे भरसक पूर्ण बनाने के लिए उन असंख्य व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता है जो उनके विशाल कार्यक्षेत्र के किसी अंग में उनके संपर्क में आये। कृतज्ञता की यह मांग है कि उनके अनुरूप एक विशाल स्मृति-ग्रंथ प्रकाशित किया जाय। 'कल्याण' का भी एक विशाल विशेष अंक उनकी श्रद्धांजलि के रूप में निकालना चाहिए। तभी लोगों को भाई जी की बहुमुखी प्रतिभा, उनके अनेक क्षेत्रों के कार्यों और उनके मधुर, तपस्वी एवं वैष्णव स्वरूप का परिचय मिल सकेगा।

उनके त्यागमय जीवन के दो विशेष प्रेरक लक्ष्य थे—जनता में धार्मिक और नैतिक भावना का पुनर्प्रतिष्ठापन तथा दुखी एवं संतप्त लोगों की सेवा। उनके विविध कार्यों के प्रेरक स्रोत इन्हीं दो भावनाओं में पाये जायेंगे। दुर्भिक्ष, बाढ़, महामारी आदि से पीड़ित लोगों की सेवा के अनेक अभियान तथा कल्याण और धार्मिक साहित्य का प्रथम प्रकाशन एवं अनेक धार्मिक समारोहों के संयोजन, सभी इनके जीवन के इन दो महान् लक्ष्यों की पूर्ति के लिए थे। और इनमें उन्हें जो असाधारण सफलता मिली वह आश्चर्यजनक थी। 'कल्याण' हिंदी का सबसे अधिक प्रचारित मासिक पत्र है जिसका प्रचार भारत तक ही सीमित नहीं है। वह डेढ़ लाख छपता है। उसकी मांग और भी अधिक है किंतु कागज की कठिनाई के कारण उसे अधिक संख्या में नहीं छापा जा सकता। गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित धार्मिक साहित्य ने हिंदू घरों में अपना निष्ठित स्थान बना लिया है और उसने हिंदू जनता की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही करने में सहयोग नहीं दिया प्रत्युत उसने उनकी आस्था को दृढ़ करने में भी सहायता दी है।

वे अनन्य कृष्णभक्त थे और भगवान् का यह वाक्य उन्होंने जीवन में उतार लिया था—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।

उनके लिए इससे अधिक और कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या है ?

भाईजी को हिंदू बालकों को आरंभ ही से अपने धर्म और अपनी संस्कृति के परिचय और संस्कार देने की आवश्यकता का अनुभव होता था। एक बार उन्होंने हमसे हिंदी भाषा में ऐसी रीडरों को तैयार कराने के संबंध में विचार-विमर्श किया था जो इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकें। वे जानते थे कि सरकार से वे स्कूलों के लिए स्वीकृत न होंगी, किंतु उन्हें विश्वास था कि यदि वे उत्कृष्ट हुईं और शिक्षा विज्ञान की दृष्टि से उपयुक्त हुईं तो लाखों हिंदू माता-पिता उन्हें अपने बच्चों के हाथ में देंगे। हमने उन्हें कुछ विचार दिये भी थे, और वे हमसे उनकी तैयारी में सहयोग चाहते थे। किंतु उन दिनों हम सरकारी सेवा में थे और इतने व्यस्त थे कि इस कार्य को इसके महत्त्व के अनुसार समय देने में असमर्थ थे। इसका हमें सदैव दुःख रहेगा। उन्होंने एक प्राइमर गीता प्रेस से प्रकाशित भी की थी। वह चली भी, किंतु वह हमारी कल्पना के अनुसार स्तर की न थी। इस घटना से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वे कितने दूरदर्शी थे और उन्हें भावी संतान को हिंदू धर्म और भारतीय संस्कृति में दीक्षित करने की कितनी उत्कंठा थी।

भाईजी के समान विभूतियां यदाकदा ही अवतरित होती हैं। पिछली शती के अंत और इस शती के आरंभ में इस देश में अनेक क्षेत्रों में अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए। भाईजी उनमें से एक और शायद अपने ढंग के एकमात्र महापुरुष थे। यह हमारा सौभाग्य था कि हमें उनके समकालीन होने का गौरव प्राप्त हुआ। वे अपनी अक्षय कीर्ति तथा अपना जो महान् और महत्त्वपूर्ण कार्य छोड़ गये हैं उसमें अमर रहेंगे—किंतु उनके कार्य को आगे बढ़ाने का भार उनके अनुयायियों और प्रशंसकों का गुरु उत्तरदायित्व है। भाईजी की प्रेरणा और उदाहरण उन्हें अपने कर्तव्य का पालन करने की शक्ति दें। उनके लिए क्या शोक किया जाय !

"सन्त मरे कहा रोइए जो अपने गृह को जाय !"

(श्री) हरिभाऊ उपाध्याय

पंडित हरिभाऊ उपाध्याय के स्वर्गवास के साथ पिछले युग की एक महत्त्व-पूर्ण कड़ी टूट गयी। 'सरस्वती' को उनके निधन से विशेष दुःख हुआ क्योंकि वे आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में 'सरस्वती' के सहायक संपादक कई वर्ष रहे और सदैव 'सरस्वती' के प्रति आत्मीयता की भावना रखते रहे। वे हमारे आदरणीय मित्रों में थे और कई बार अजमेर, हतूंडी और जयपुर में हमें उनके आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे सरलता, सौजन्य और उच्च चरित्र की मूर्ति थे और सारे देश में 'दा साहब' के नाम से आदरपूर्वक याद किये जाते थे। वे गांधीजी के अनन्य भक्त थे और उन थोड़े से गांधीवादियों में थे जो शासकीय पद पाने पर भी व्यवहार में उनके सिद्धांतों का अनुसरण करते रहे। राजनीति में उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन के समय प्रवेश किया और अपने उच्च चरित्र, निस्पृह सेवा और योग्यता के कारण वे बिना इच्छा और प्रयास के नेता माने जाने लगे। जब अजमेर का जिला अंग्रेजी शासन से मुक्त होकर एक अलग राज्य बना तो वे उसके मुख्य मंत्री हुए, बाद में जब राजस्थान का नया राज्य बना और अजमेर उसमें विलीन हो गया तब वे राजस्थान में शिक्षा मंत्री हो गये। उन्होंने कई वर्ष तक योग्यता से इस पद को विभूषित किया और स्वास्थ्य खराब हो जाने पर वे स्वयं उस पद से अलग हो गये।

वे राजनीति में रहते हुए भी रचनात्मक कार्यों में सदैव लगे रहते थे। अजमेर के पास हतूंडी में उन्होंने आश्रमों के आदर्श पर एक कन्या विद्यालय स्थापित किया जो अपनी शिक्षा की उत्कृष्टता के लिए देश में प्रसिद्ध है। दा साहब को वह इतना प्रिय था और वह उसमें इतने एकरस हो गये थे कि वही उनका मुख्य निवास-स्थान बन गया था। उससे उन्हें बड़ा मोह था और उन्हें उसकी उन्नति और कार्यकलाप की सदैव चिंता बनी रहती थी।

राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए भी उनकी उद्दाम साहित्यिक प्रतिभा नहीं दब पायी। 'सरस्वती' के संपादन विभाग में उन्होंने आचार्य द्विवेदी से पत्रकारिता की दीक्षा ली और बाद में 'मानव मयूख', 'नवजीवन' और 'राजस्थान' का संपादन किया। सबसे अधिक यश उन्हें 'त्यागभूमि' के संपादन से मिला जो उन्होंने अजमेर से निकाली थी। वह गांधीवादी रचनात्मक विचारों के प्रचार की प्रमुख हिंदी पत्रिका थी और उसका साहित्यिक मानदंड भी बहुत ऊंचा था। बाद में जब उनके प्रयत्न से दिल्ली में सस्ता साहित्य मंडल स्थापित हुआ तब वहां से उन्होंने 'जीवन साहित्य' मासिक निकालकर उसका संपादन किया। यद्यपि बाद में व्यस्त रहने और स्वास्थ्य की खराबी के कारण उन्होंने उसका संपादन छोड़ दिया था तथापि वे अंत तक उसके संपादक-मंडल में बने रहे और संपादकों का मार्गदर्शन करते रहे।

पत्रकार के रूप ही में नहीं, लेखक के रूप में भी उन्होंने हिंदी की बड़ी सेवा की। उन्होंने हिंदी में बीसों महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। इनमें अधिक महत्त्वपूर्ण 'स्वतंत्रता की ओर', 'मनन और स्वागत', 'स्वामीजी का बलिदान', 'जमनालाल बजाज का जीवन-चरित्र' आदि हैं। किंतु उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'भागवत धर्म' है जो दो खंडों में है। उसमें एक मौलिक और महान् आध्यात्मिक विचारक के रूप में उनका परिचय मिलता है। आधुनिक परिवेश में हिंदी में सबसे अधिक अच्छी हिंदू धर्म की व्याख्या हमने अन्य किसी पुस्तक में नहीं देखी। वह हिंदी का गौरव-ग्रंथ है और उनकी कीर्ति को सदैव अमर रखेगा। मौलिक पुस्तकों को लिखने के अतिरिक्त उन्होंने कितनी पुस्तकों के अनुवाद भी किये। उनमें 'गांधीजी की आत्मकथा', 'कांग्रेस का इतिहास', 'सम्राट् अशोक' और 'रागिनी' प्रमुख हैं। उनकी एक मौलिक पुस्तक 'युगधर्म' ब्रिटिश प्राणपण से देश से गरीबी दूर और वस्तुओं के मूल्यों को नियंत्रित करना चाहती है। किंतु फिर भी न तो गरीबी में कोई विशेष कमी हुई और न मूल्य-वृद्धि पर ही रोक लग सकी। हम अर्थ-शास्त्रीय और वित्तीय जटिलताओं को नहीं समझते। अतएव हम इस स्थिति के कारणों को नहीं बता सकते। किंतु वृक्ष अपने फल से पहचाना जाता है। सरकार की आर्थिक नीतियों में या उनके कार्यान्वयन में कहीं कोई त्रुटि, कोई भूल है जिससे न तो गरीबी ही कम हो रही है और न मूल्यों की वृद्धि पर ही कोई रोक लगी है। सरकार इस स्थिति से पूर्णतः अवगत है और सरकार के सर्वोत्तम मस्तिष्क इन जटिल समस्याओं को सुलझाने में लगे हैं। कुछ सरकारी कर्मचारियों और श्रमिकों को महंगाई भत्ता बढ़ाकर उन्हें कुछ राहत भले ही मिली हो किंतु सामान्य नागरिक जिसकी आय या तो बढ़ी ही नहीं (जैसे अधिकांश पेंशनरों की) या नाममात्र को बढ़ी है, उनका जीवन कितना कष्टमय हो गया है, इसे समझने के लिए प्रखर बुद्धि या कल्पना की आवश्यकता नहीं है। हमारे वित्त मंत्री हमें

बार-बार 'अच्छे दिनों' के आने का आश्वासन देते रहते हैं, पर "पलेटों की सदा सुनता हूं, पर खाना नहीं आता" ! क्या हम आशा करें कि अब सरकार कोई ऐसा कदम उठायेगी जिससे सामान्य जनता की स्थिति इतनी दयनीय न रहे और मूल्यों में कमी हो ?
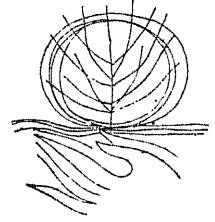
(मराठी उपन्यास-सम्राट) हरिनारायण आपटे

मराठी संसार में प्रसिद्ध उपन्यासकार हरिनारायण केवल मराठी ही के साहित्यकार नहीं थे, उनकी कृतियां देश और काल के बंधन को तोड़कर सार्व-भौमिक और चिरंतन हो गयी थीं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों ने देशवासियों के हृदयों में मातृभूमि के प्रति एक सात्विक और शक्तिशाली भक्ति को जागृत किया था। उनका साहित्यिक कार्य देश को जागृत करने और अपने स्वरूप को पहचानने के उस कार्य का पूरक था जो लोकमान्य तिलक आदि नेता राजनीतिक क्षेत्र में कर रहे थे। राजनीतिक नेताओं ने भारतवासियों में राष्ट्रीयता की जो भावना जगायी थी, उसकी लौ को हरिनारायण आपटे के ऐतिहासिक उपन्यासों ने बढ़ाया ही नहीं प्रत्युत उसे ठोस ऐतिहासिक आधार दिया। हमने अपने विद्यार्थी-जीवन में उनके अमर उपन्यास 'गढ़ आला पण सिंह गेला' (गढ़ आया पर सिंह गया) का हिंदी अनुवाद पढ़ा था जो स्वर्गीय पं० कृष्णकान्त मालवीय ने अभ्युदय प्रेस से प्रकाशित किया था। उसे पढ़े हमें पचास वर्ष से अधिक हो गये, किंतु उसके प्रभाव की छाप हमारे हृदय पर आज भी बनी हुई है। राष्ट्रीयता की सूक्ष्म भावना को ठोस ऐतिहासिक आधार देकर उन्होंने देशवासियों में अपने राष्ट्रीय गौरव और अपने पूर्वपुरुषों के शौर्य की सच्ची कथाएं प्रभावशाली ढंग से रखीं। इससे परोक्ष रूप से स्वतंत्रता-आंदोलन को बल मिला। ऋषि बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' लिख-कर जो कार्य बंगला भाषा में किया, वही काम पुण्यश्लोक हरिनारायण आपटे ने मराठी में 'उषःकाल', 'वज्राघात', 'मैसूरचा बाघ' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों

को लिखकर किया। जिस प्रकार 'आनन्दमठ' ने केवल बंगाल को ही नहीं प्रत्युत सारे देश को प्रेरणा दी, उसी प्रकार आपटेजी के उपन्यासों ने भी सारे देश को प्रबुद्ध किया। इस दृष्टि से दोनों ही अखिल भारतीय साहित्यकार थे।

हरिनारायण आपटे का जन्म सन् १८६४ के मार्च मास की आठवीं तारीख को खानदेश में एक सामान्य महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के परिवार में हुआ था और उनकी शिक्षा पूना में हुई। जिस समय वे पूना में विद्यार्थी थे, उस समय महाराष्ट्र का यह हृदय-स्थल लोकमान्य, चिपलूणकर, आगरकर आदि नरपुंगवों के विचारोत्तेजक कार्यकलापों के सिक्त था। विद्यार्थी-जीवन में ही उनकी साहित्यिक प्रतिभा जाग उठी। वे कविता करने और लेख लिखने लगे। चिपलूणकरजी की मृत्यु के समय हरिनारायण आपटे दसवीं कक्षा के विद्यार्थी थे, किंतु उस समय उन्होंने 'शिष्यजन-विलाप' नामक जो कविता लिखी उसने सभी विद्वानों का ध्यान आर्कषित कर लिया। २१ वर्ष की अवस्था में उनका पहला उपन्यास 'आजकलच्या गोष्ठीमधली स्थिति' प्रकाशित हुआ, और उसके प्रकाशित होते ही मालूम हो गया कि मराठी साहित्याकाश में एक दीप्तिमान नक्षत्र का उदय हुआ है। तब से उनकी जो साहित्य-साधना आरंभ हुई वह उनकी मृत्यु (१९१९) तक अबाध रूप से जारी रही। उन्होंने सब मिलाकर २१ उपन्यास लिखे। इनके अतिरिक्त वे ६ उपन्यास अधूरे छोड़ गये।

पुण्यश्लोक हरिनारायण आपटे केवल उपन्यासकार ही नहीं थे, वे कवि भी थे। उन्होंने दो नाटक भी लिखे। मराठी भाषा की व्यंजना शक्ति बढ़ाने में उन्होंने जो काम किया वह यह था कि अपने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा उन्होंने सामान्य जनता में सत्साहित्य पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न की।

आपटेजी विशुद्ध साहित्य-सेवी थे। वे बड़े निस्पृह थे। उन्होंने कई वर्ष पूना के प्रसिद्ध नूतन मराठी विद्यालय में अवैतनिक रूप से शिक्षक का काम किया। उन्हें पत्रकारिता में भी रुचि थी। प्रसिद्ध मराठी पत्र 'ज्ञानप्रकाश' और 'सुधारक' से भी उनका वर्षों संबंध रहा। वे पूना की 'आनन्दाश्रम' नामक संस्था के सर्वेसर्वा थे। यह संस्था प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का प्रकाशन करती थी। बाद में उन्होंने 'कर्मणूक' नामक अपना पत्र निकाला जिसमें उनकी अधिकांश कृतियां प्रकाशित हुईं।

पुण्यश्लोक आपटे सच्चे अर्थों में ब्राह्मण थे। उनके विद्याव्यसन, उनके उच्च चरित्र, उनकी अखंड साहित्य-साधना और उत्कट मातृभाषा-प्रेम तथा देशभक्ति ने उन्हें सारे देश का श्रद्धेय बना दिया था। मराठी संसार ने मार्च, १९६४ में जब उनकी जन्मशती मनायी तब हिंदीभाषा-भाषियों की ओर से 'सरस्वती' ने भी अपनी श्रद्धा के पुष्प इस महान् मनीषी और साहित्यकार की स्मृति में अत्यंत विनीत भाव से अर्पित किये थे। हमें विश्वास है कि उनकी कृतियां हमारी अगणित भावी पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहेंगी।

(पंडित) हरिशंकर शर्मा

हिंदी का एक और महारथी चला गया। हृदय-गति रुक जाने से मार्च १९६९ में आगरे में हिंदी के प्रसिद्ध लेखक और पुराने पत्रकार पंडित हरिशंकर शर्मा की मृत्यु हो गयी थी। पंडितजी को साहित्यिक प्रतिभा अपने पूज्य पिता और अपने समय के प्रमुख कवि पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा से विरासत में प्राप्त हुई थी। आर्यसमाज में कुछ ऐसी बात है कि उसमें कवियों की गुंजाइश नहीं, कट्टर आर्यसमाजी होते हुए भी और कविता के प्रतिकूल वातावरण में रहते हुए भी शंकरजी वड़े सफल कवि थे। शायद इसी वातावरण के कारण उन्हें अपना वह प्रसिद्ध छंद लिखना पड़ा जिसका अंतिम चरण है—"कविता समुझाइबौ मूढ़न कों, सबिता गहि भूमि पै लाइबौ है," पंडित हरिशंकरजी भी आर्यसमाजी थे, किंतु वे बड़े सरस-हृदय व्यक्ति थे। दुर्भाग्य से पश्चिमी उत्तर प्रदेश हिंदी की साहित्यिक हलचलों से कटा हुआ रहा है। इस क्षेत्र में हिंदी साहित्य की धारा जीवित रखने में स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा, स्वर्गीय बाबू गुलाबराय और पंडित हरिशंकर शर्मा ने बड़ा काम किया। पं० पद्मसिंह शर्मा की मृत्यु वहुत पहले हो गयी थी। बाबू गुलाबरायजी एकांत साधना में विश्वास करते थे। किंतु पं० हरिशंकरजी शर्मा प्रायः आधी शती तक पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हिंदी-प्रेमियों के नेता और प्रेरणास्रोत बने रहे। उनका जीवन हिंदी और आर्यसमाज को समर्पित था। वे वर्षों उत्तर प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष रहे। कई दशक वे उसके मुखपत्र 'आर्यमित्र' के संपादक रहे। कई वर्ष वे वृन्दावन गुरुकुल (जो आर्यसमाज की संस्था है) उप-कुलपति रहे। किंतु निष्ठावान् आर्यसमाजी होते हुए भी उनमें कट्टरता न थी। उनका हृदय अत्यंत विशाल था। उनमें दूसरों की भावनाओं और विचारों के प्रति बड़ी सहिष्णुता थी। हिंदी के वे गंभीर पंडित थे। छंदःशास्त्र के चोटी के विद्वान् थे। वे अच्छी उर्दू जानते थे इसलिए उन्हें उर्दू के

काव्य का भी विस्तृत ज्ञान था। उन्होंने हिंदी और उर्दू काव्य पर कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं जो उनके पांडित्य, विस्तृत अध्ययन और रसज्ञता की प्रमाण हैं। इनमें से एक बृहद्-ग्रंथ पर उन्होंने हमसे भूमिका लिखवा कर हमारा गौरव बढ़ाया था। वे गद्य और पद्य के सिद्धहस्त लेखक थे। उनकी कविता महावीर-प्रसाद द्विवेदी के युग की कविता की शैली में होती थी क्योंकि उनका साहित्यिक विकास द्विवेदीकाल ही में हुआ था। उन्होंने कई काव्य-ग्रंथ रचे किंतु उनकी सर्वाधिक ख्याति हास्य और व्यंग्य लेखक और कवि के रूप में हुई।

पंडितजी की बहुमूल्य साहित्यिक सेवा के उपलक्ष्य में आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डॉक्टर ऑफ़ लिट्रेचर' की सम्माननीय उपाधि दी थी। भारत सरकार ने भी उन्हें 'पद्मश्री' के अलंकरण से विभूषित किया था। किंतु हिंदी-विरोधी काले विधेयक के विरोध में उन्होंने यह अलंकरण लौटा दिया था।

शर्माजी का व्यक्तित्व बहुत ऊंचा और बड़ा आकर्षक था। उनमें नवयुवकों के प्रति बड़ी सहानुभूति थी। यही कारण है कि वे एक व्यक्ति न रहकर एक संस्था हो गये थे। सैकड़ों ही नवोदित साहित्यकारों को उनसे प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला। आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा और व्रज साहित्य मंडल के विकास में उनका बड़ा योगदान था।

हमें उनकी मित्रता का सौभाग्य प्राप्त था। उनकी सहृदयता और शिष्टता तो उनके संपर्क में आनेवाले सभी व्यक्तियों को अभिभूत कर देती थी, किंतु उनके स्वाभिमान और उनकी निस्पृहता को उनके अंतरंग मित्र ही जानते हैं। ऐसे व्यक्ति जिनके बारे में यह कहा जा सके कि वे कोई क्षुद्र या अनैतिक काम कर ही नहीं सकते, दशहरे के नीलकंठ के समान हैं। शर्माजी उन दुर्लभ व्यक्तियों में थे। उनकी मृत्यु से हिंदी को एक महान् सेवक की ही क्षति नहीं हुई, प्रत्युत साहित्य संसार से एक बड़ा सहृदय, सात्विक, चरित्रवान् और महान् व्यक्ति उठ गया। ऐसे व्यक्तियों से, उनकी उपस्थिति मात्र से ही समाज को अनजाने ही में अपना नैतिक स्तर ऊंचा रखने में सहायता मिलती है। इसलिए उनका निधन हमारी दृष्टि में, सारे समाज की एक बड़ी क्षति है।

संयोग से २५ फरवरी '६६ को हम आगरा गये थे। आगरे जाकर उनसे बिना मिले लौट आना हमारे लिए संभव न था। १६ फरवरी को उन्हें हृदय का दौरा हुआ था, जिससे वे अत्यंत अशक्त हो गये थे और डॉक्टरों ने उन्हें पूरा विश्राम लेने का आदेश दिया था। जब हम उनसे मिले तो हर्षातिरेक से उनकी आंखें डबडबा आयीं। उनकी अवस्था देखकर हम उनके पास दो-चार मिनट ही बैठे। बाहर आकर हम उनके सुपुत्र से देर तक उनकी बीमारी और चिकित्सा के संबंध में बातचीत करते रहे। यही हमारी उनकी अंतिम भेंट थी। २६ तारीख को इस महापुरुष ने सदा के लिए आंखें मूंद लीं।

हिंदी के इस महान् निष्ठावान् सेवक के प्रति हम अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

(श्री) हितैषीजी

हिंदी के प्रसिद्ध कवि पं० जगदम्बा प्रसाद मिश्र हितैषी का स्वर्गवास कानपुर में हुआ। मिश्रजी कानपुर के उस कविमंडल के प्रभावशाली सदस्य थे जो श्री सनेहीजी के व्यक्तित्व के प्रभाव से वहां बन गया था। यद्यपि उन्होंने कुछ गीतभी लिखे हैं (जो 'वैकाली' नाम के संग्रह में संगृहीत हैं) तथापि उनकी मुख्य गति हिंदी के पुराने छंदों —घनाक्षरी और सवैया—में थी। वे इनके बादशाह थे। खड़ी बोली में उनके समान घनाक्षरी और सवैया लिखनेवाले शायद ही और कोई निकलें। 'भंड़ौए' लिखने में उनके जोड़ का और कोई कवि हमारे देखने में नहीं आया। वे हिंदी और उर्दू दोनों में समान रूप से दक्ष थे। किंतु उन्होंने अधिकतर हिंदी में ही लिखा। वे हिंदी जगत् के एक आश्चर्य थे क्योंकि उनकी शिक्षा पूरी प्राइमरी की भी नहीं हुई थी, फिर भी भाषा पर उनका अद्‌भुत अधिकार था और कल्पना की उड़ान बहुत ऊंची थी वे अध्ययनशील थे। उन्होंने स्वयं भिन्न-भिन्न भाषाओं और विषयों का अध्ययन किया। वे बंगला, फारसी, संस्कृत और उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे। ज्योतिष के गणित और फलित अंकों का भी उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था और उस पर एक बड़ी और मौलिक पुस्तक भी लिखी थी। उनके काव्य में अधिकतर राष्ट्रीय या दार्शनिक विचार ही मिलते हैं। वे कट्टर और सख्त होते हुए भी परम कृष्ण-भक्त थे और उनकी भक्ति संबंधी कविताओं में भाषा की गहराई और अनुभूति की झलक मिलती है। कविता के गुण के संबंध में उन्होंने अपना मत अपने एक छंद में इस प्रकार प्रकट किया था :

उर से निकले, उरो में जा धंसे,
जिसे श्रोता सदा दोहराया करें।

अति सार्थक हो अनेकाकर्थ जो,
महाप्रज्ञ की बुद्धि रमाया करे।
कर दे जो सुभावतः भाव में मग्न,
तो भावुक शीश झुकाया करे।
कवि वाणी वही वर वाणी-सी जो
जनवाणी में वीण बजाया करे

उनके उर्दू शायरी के उस्ताद मौलाना हसरत मोहानी थे, जिनसे उन्होंने उर्दू कविता ही नहीं, उग्र राजनीति भी सीखी। उनका एक संग्रह 'कल्लोलिनी' के नाम से प्रायः २५ वर्ष पहले निकला था। इधर उनके दार्शनिक छंदों का संकलन 'दर्शना' के नाम से तैयार था और वे उसे शीघ्र प्रकाशित करने को उत्सुक थे। उनका 'उमर खैयाम' का अनुवाद 'मधु मंदिर' बहुत उत्कृष्ट है और वह भी प्रकाशित होने को पड़ा है। इनके अतिरिक्त उनके विविध विषयों पर ४०० से अधिक फुटकर छंद भी हैं जो हिंदी काव्य के गौरव हैं। हितैषी केवल कवि ही न थे वे उग्र राष्ट्रीय विचारधारा के अनुयायी भी थे और आरंभिक जीवन में बहुत दिनों तक क्रांतिकारी रहे। उनके नाम वारंट निकला। वे फरार हुए और उनके हाजिर न होने पर उनका मकान और सारा सामान नीलाम कर दिया गया। उनके साथ ही पंडित प्रतापनारायण मिश्र का वह पुस्तकालय भी नष्ट हो गया जो उन्होंने अपनी मृत्यु के समय हितैषीजी को दिया था। बाद में गांधीजी के प्रभाव में आकर कांग्रेस में सम्मिलित हो गये थे। किंतु वे उनकी 'हिंसा' भाषा संबंधी नीति तथा अन्य दो-एक बातों से समझौता न कर सकने के कारण कांग्रेस से उदासीन हो गये। राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभिक युग में हितैषीजी ने हिंदी और उर्दू में कितनी ही राष्ट्रीय कविताएं लिखीं जो बड़ी जनप्रिय हुई। उनके ये शेर—

शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले,
वतन पे मरनेवालों का यही बाकी निशां होगा।

× × ×

हम सरेदार वसद शौक जो घर करते हैं,
ऊँचा सर कौम का हो नज्र ये सर करते हैं।
सूख जाय न कहीं पौधा ये आजादी का,
खून से अपने इसे इसलिए तर करते हैं।

और ऐसी ही अन्य कितनी ही कविताएं एक युग में लोगों के कंठ में बैठ गयी थीं और उन्होंने असंख्य नवयुवकों को अनुप्राणित किया था। इधर कई वर्षों से जीविका के लिए उन्होंने लोहे की दुकान कर ली थी। व्यापार में घुसने का कारण भी बड़ा विचित्र था। एक बार वे कानपुर के किसी बड़े लक्ष्मी-पुत्र के यहां किसी काम से गये। उन्होंने हितैषीजी से बड़ी रुखाई से बात की थी।

स्वभाव के उग्र होने के कारण वे इस रूखे बर्ताव को सहन न कर सके। वहीं उनसे बोले कि आपको रुपये का गर्व है और आप हमारे समान लोगों को हीन समझते हैं। हम रुपये को कुछ नहीं समझते किंतु यह न समझना कि यदि हम चाहें तो रुपया कमा नहीं सकते। मैं तुम्हें दिखला दूंगा कि हम लोग कोरे कवि नहीं हैं, हममें भी व्यापार की बुद्धि है। इसके बाद उन्होंने लोहे का व्यापार आरंभ किया। पूंजी तो थी नहीं, किंतु उनकी साख बहुत थी। दुकान जम गयी और दस-बारह वर्षों में उन्होंने कई लाख रुपये कमाये किंतु उनका हृदय व्यापारी वातावरण में रम नहीं सका। मृत्यु से दो महीने पहले जब वे हमसे मिलने आये थे तब उन्होंने कहा था कि अब व्यापार से जी ऊब गया। शीघ्र ही उसे उठाकर फिर साहित्यिक जीवन बितायेंगे। किंतु भगवान को यह स्वीकार नहीं था। प्रायः एक महीने की बीमारी के बाद सहसा उनका देहांत हो गया। हिंदी काव्य-जगत् में उनका स्थान बहुत ऊंचा था। इस छोटी-सी टिप्पणी में न तो उनके काव्य का परिचय ही समुचित दिया जा सकता है और न उसकी समीक्षा ही की जा सकती है। हमारी सम्मति में कानपुर संप्रदाय (स्कूल) के वे सर्वोच्च कवि थे। उनका काव्य हिंदी की अपूर्व निधि है और उसका प्रकाशन आवश्यक है। उनके निधन से हिंदी की बड़ी क्षति हुई है। हम उनके प्रति अपनी स्नेहशिक्त शोकांजलि अर्पित करते हुए उनके शोक-संतप्त परिवार और शिष्य-मंडली के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उनके इन दो छंदों से समाप्त करते हैं :

देखते हैं अति सुंदर सौध ये,
स्वर्ग की सुंदरियाँ जिसमें रहीं।
द्वार है वो कि महामति भूपति
भी नतशीश थे होते कभी नहीं।
आज तो नीरव शून्य में पिंडुकी
बैठ कंगूरे पै बोलती हैं वहीं।
कू कू कुहू कुहू, कू कू कुहू कुहू,
कोई कहीं नहीं। कोई कहीं नहीं।

नित्य निशा पर पूर्व दिशा पर
आके प्रभात-प्रभा मुसकायगी
संध्या सुहाग-भरी अनुराग
भरी दिवा पै हंसेगी,इठलायगी।
चेतना ! चेत अचेत न हो,
ये उषा-विभा तो सदा आयगी जायगी।
जा के न आयगी जागृति एक,
है नींद वा एक जो आके न जायगी।

(डॉक्टर) हेमचंद्र जोशी

'सरस्वती' को अपने पुराने लेखक और हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान्, भाषा-विज्ञानी, पत्रकार और साहित्यकार डॉ० हेमचन्द्र जोशी के स्वर्गवास के समाचार से बड़ा दुःख हुआ। उनकी मृत्यु प्रायः साढ़े तिहत्तर वर्ष की अवस्था में नैनीताल में हो गयी थी। हमारा उनका परिचय १९१२ में हुआ था जब वे इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालिज में अध्ययन कर रहे थे। बी० ए० करने के बाद वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए योरोप चले गये जहां बर्लिन और पेरिस में उन्होंने भाषाविज्ञान तथा फ्रेंच और जर्मन भाषाओं का अध्ययन किया।

वे योरोप से 'डॉक्टर आफ लिटरेचर' की सर्वोच्च उपाधि लेकर लौटे। यदि वे चाहते तो उन्हें अच्छी सरकारी नौकरी मिल सकती थी, किंतु उन्होंने सरकारी नौकरी करना पसंद नहीं किया। विद्यार्थी जीवन के आरंभ ही से वे लोकमान्य तिलक के भक्त थे और उनके राजनीतिक सिद्धांतों से प्रभावित थे। इसलिए उन्हें अंग्रेज सरकार की चाकरी पसंद न थी। उन दिनों उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में हिंदी के प्रवेभ का आरंभ हो ही रहा था, अतः उस समय उनमें उनके समान भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ के लिए गुंजाइश न थी। अतः उन्होंने स्वतंत्र रूप से साहित्य-सेवा के क्षेत्र में प्रवेश किया। डॉ० जॉनसन ने अपने समय की अंग्रेजी साहित्य की परिस्थिति को लक्ष्य करके कहा था—"Literature can be a good walking stick but it cannot be a helping crutch." तात्पर्य यह है कि शौक के लिए तो साहित्य-सेवा ठीक है, किंतु उससे जीवन-यापन नहीं हो सकता। डॉ० जान्सन के समय में अंग्रेजी की जो दशा थी, प्रायः वही दशा हिंदी की उस समय थी जब जोशीजी ने साहित्य-सेवा का निश्चय किया। बाद में उनका भ्रम दूर हो गया और उन्हें मालूम हो गया कि विद्या और ज्ञान का साहित्य लिखनेवाला अपने पैरों खड़ा नहीं हो सकता। आरंभ में वे

पत्रकारिता के क्षेत्र में आये। उन्होंने कलकत्ते से एक अत्यंत सुंदर साप्ताहिक निकाला जिसमें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर बड़े विचारपूर्ण लेख रहते थे। हमारे पत्र और लेखक विदेशों के केवल अंग्रेजी पत्रों और पुस्तकों से सूचनाएं और मत प्राप्त करते हैं। जोशीजी अंग्रेजी के आंतरिक फ्रेंच और जर्मन पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों से लेकर हिंदी में अलभ्य सामग्री देते थे। वह साप्ताहिक हिंदी में अनूठा था, किंतु हिंदी में उसकी कद्र नहीं हुई। वे कुछ दिनों तक कलकत्ते के एक दैनिक के भी संपादक रहे, और जब 'धर्मयुग' निकला तब वे उसके प्रथम संपादक नियुक्त हुए। अंत में उन्हें हिंदी संसार से निराशा ही हाथ लगी। एक बार उन्होंने कहा था कि जब सियार की शामत आती है तब वह शहर की ओर भागता है और जब किसी भले आदमी की शामत आती है तब वह हिंदी-साहित्य की ओर उन्मुख होता है।

उनकी पहली पुस्तक 'स्वाधीनता के सिद्धांत' थी जो १९२२ में प्रकाशित हुई थी और जो नवयुवक जोशी की तीव्र राष्ट्रीयता का परिणाम थी। बाद में उन्होंने एक छोटा-सा सुपाठ्य 'भारत का इतिहास' लिखा तथा 'विक्रमादित्य' नाम की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जीवनी लिखी। किंतु उनका वास्तविक क्षेत्र भाषाविज्ञान था जिसमें वे चलती हुई पुस्तक न लिखकर एक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखना चाहते थे। इसके लिए जितनी निश्चिंतता, एकांत और सुविधा की आवश्यकता थी उतनी जीवन के सतत संघर्ष के कारण उन्हें कभी नहीं मिली। उनके भाषा-विज्ञान संबंधी बीसों लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपे हैं। उन लेखों से उनके गहन अध्ययन, सूक्ष्म दृष्टि और तीव्र विवेचन-शक्ति का पता लगता है। उनका संग्रह ही हिंदी में भाषा-विज्ञान की एक अच्छी पुस्तक बन सकती है। व्युत्पत्ति-शास्त्र के तो वे महान् पंडित थे। काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने कुछ दिनों हिंदी शब्दसागर के शब्दों की व्युत्पत्ति तैयार करने के लिए उनका उपयोग किया भी था किंतु कई कारणों से वे उस कार्य को पूरा न कर पाये। कई वर्षों से अपनी दीर्घकालीन अस्वस्थता में भी वे एक व्युत्पत्ति कोश तैयार कर रहे थे। पिछली बार जब हमसे भेंट हुई थी तब उन्होंने बतलाया था कि वह दो-तिहाई से अधिक तैयार हो चुका है। शायद इस बीच उसमें कुछ और प्रगति हुई हो। हिंदी के हित-चिंतकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसको प्रकाशित करके हिंदी के एक बड़े अभाव की पूर्ति करें।

हम बतला चुके हैं कि वे फ्रेंच और जर्मन भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने प्रसिद्ध जर्मन संस्कृत विद्वान् रिचार्ड पिशल के प्राकृत व्याकरण का हिंदी में अनुवाद किया जिसे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने प्रकाशित किया है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उन्होंने प्रोफेसर मैक्स मूलर के भाषा-विज्ञान संबंधी व्याख्यानों का भी हिंदी अनुवाद किया है। व्याख्यानों के ये अनुवाद उत्तर प्रदेश की हिंदी समिति द्वारा दो खंडों में प्रकाशित किये जा रहे हैं। प्रथम खंड प्रकाशित हो गया

है और दूसरा प्रेस में है। इन पुस्तकों के हिंदी में आ जाने से हिंदी-भाषियों को भाषा-विज्ञान के उच्चतम अध्ययन में सहायता मिलेगी। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वाकरनागेल पाणिनि के असाधारण विद्वान् थे। वे ऋषिकल्प थे। उन्होंने अपना सारा जीवन पाणिनि के अध्ययन में अर्पित कर दिया था। पाश्चात्य देशों में पाणिनि का महत्व आज सभी भाषा-विज्ञानी मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं। वे भाषा-विज्ञान का आदि जनक मानने लगे हैं। इसका प्रमुख श्रेय वाकरनागल को है। उन्होंने छ: बड़े-बड़े खंडों में पाणिनि का अध्ययन किया है। वे जर्मन भाषा में हैं। जोशीजी की बड़ी इच्छा थी कि उस महान् और भारतीय ज्ञान को गौरव देनेवाले ग्रंथ का अनुवाद हिंदी में कर दें। किंतु साधनहीन जोशीजी की इच्छा मन ही में रह गयी। हिंदी की संस्थाओं ने उनका समुचित उपयोग किया ही नहीं।

इतने गंभीर विद्वान् होते हुए भी वे बालकों की तरह सरल प्रकृति के थे। विद्या का अभिमान उन्हें उन्हें छू तक नहीं गया था। वे अपनी विज्ञता और ज्ञान दूसरों के सामने कभी प्रदर्शित नहीं करते थे; किंतु यदि उनसे कभी कोई व्यक्ति भाषा-विज्ञान से संबंधित किसी विषय पर चर्चा करता तो ज्ञान की सरिता अबाध गति से फूट पड़ती। घंटे-आध घंटे की चर्चा में श्रोता को वह ज्ञान बड़े मनोरंजक ढंग से मिल जाता जो वर्षों के अध्ययन से न मिलता। फ्रेंच और जर्मन के अतिरिक्त स्लाव भाषाओं, ग्रीक और लैटिन का भी उन्हें ज्ञान था संस्कृत के तो विद्वान् वे थे ही। संस्कृत में उनके गुरु स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित गंगानाथ झा थे। अतएव भारोपीय शब्दों के इन भाषाओं में विविध रूप वे ऐसे सरल और स्पष्ट ढंग से बतलाते थे कि वे श्रोता को तत्काल हृदयंगम हो जाते।

सरल होते हुए भी वे बड़े स्वाभिमानी थे। उनका जीवन कष्ट और अभाव में बीता किंतु उन्होंने कभी शिकायत नहीं की। उन्होंने स्वाभिमान, स्वतंत्रता और ज्ञान की साधना के लिए स्वेच्छा से दरिद्रता का वरण किया था। इसका उन्हें कभी खेद नहीं हुआ। उनमें किसी प्रकार की कुंठा न थी। वे मितभाषी और सदैव प्रसन्न रहनेवाले व्यक्ति ते। आत्म-विज्ञापन का वे 'क ख ग' भी नहीं जानते थे। और शायद यही कारण है कि आत्मलीन हिंदी संसार इस महान् विद्वान् और कर्मयोगी के ज्ञान से लाभ न उठा सका और उसकी उचित कद्र न कर सका।

'सरस्वती' से उनका बहुत पुराना सम्बन्ध था। वे उसके पुराने सम्मानित लेखक थे। सरस्वती हीरक जयंती समारोह के अवसर पर 'सरस्वती' की ओर से उनका विशेष सम्मान किया गया था।

वे अलमोड़े के रहने वाले थे किंतु उनका जन्म नैनीताल में २१ जून, १८९४ को हुआ था। वे हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री इलाचन्द्र जोशी के सगे बड़े भाई थे। उनके कोई संतान नहीं थी। उनकी धर्मपत्नी ने भामह के

समान अपने पति की ज्ञान-साधना में उनकी सेवा करते-करते सारा जीवन व्यतीत कर दिया। उन दोनों के प्रति हम अपनी विनम्र एवं हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं, तथा विद्या के तपस्वी और एकांत साधक डा० हेमचन्द्र जोशी के प्रति अपनी शोकपूर्ण श्रद्धांजलि सादर अर्पित करते हैं।

(श्री) होमी भाभा

२४ जनवरी १९६६ को यह हृदय-विदारक समाचार पढ़ा कि भारतीय अंतर्राष्ट्रीय विमान संस्था (एयर इंडिया) का 'कांचनजंघा' नामक बोइंग जैट विमान जो बंबई से न्यूयार्क जा रहा था और जिस पर ११७ व्यक्ति सवार थे, जिनेवा के पास योरोप के सबसे ऊंचे शिखर मांट ब्लैंक (मां ब्लां) से टकराकर नष्ट हो गया। उसके सब यात्री मर गये। उन यात्रियों में भारत के सर्वोच्च आणविक विशेषज्ञ डॉ० होमी जहांगीर भाभा भी थे। १९५० में इसी स्थान पर इसी विमान संस्था का एक कांस्टिलेशन विमान नष्ट हुआ था। किंतु बोइंग जैट विमान की यह इस कंपनी की पहली दुर्घटना थी। जहां यह विमान नष्ट हुआ वह स्थान तब अगम्य था। वहां उस समय १५-२० फुट गहरी नरम बर्फ पड़ी हुई थी। इसलिए न तो किसी यात्री का शव ही मिल सका और न विमान के टुकड़े ही। शायद वह उस गहरी नरम बर्फ में घुस गया था। जब गर्मी पड़ने पर बर्फ पिघली तब कहीं उसके अवशेष मिल सके और तभी यह मालूम हो सका कि इस भीषण दुर्घटना का कारण क्या था।

किंतु इस दुर्घटना से भारत की अकल्पनीय हानि हुई थी। श्री भाभा देश के सबसे बड़े आणविक विज्ञानी थे। उनका जन्म सन् १९०९ में बंबई के एक पारसी परिवार में हुआ था। उन्होंने अपनी वैज्ञानिक शिक्षा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० लेकर समाप्त की। उनमें उच्च श्रेणी की मौलिक वैज्ञानिक प्रतिभा थी। उन्होंने ब्रह्मांड-किरणों पर कई मौलिक अनुसंधान किये थे। वे अनु-

संधान इतने महत्त्वपूर्ण थे कि केवल ३१ वर्ष की अवस्था में वे रायल सोसाइटी के सदस्य चुन लिये गये। वे बंगलौर इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस में भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। वहां उन्होंने टाटा परिवार के सहयोग से १९४५ में टाटा इंस्टीट्यूट आफ फंडामेंटल रिसर्च (टाटा का मौलिक अनुसंधान संस्थान) स्थापित किया जिसके वे निर्देशक नियुक्त हुए। भारत सरकार ने बंबई के पास ट्राम्बे में भारत ही नहीं, एशिया में जो पहली अणुभट्ठी स्थापित की उसकी कल्पना कर उसे साकार रूप देने का श्रेय डॉ० भाभा ही को है। दूसरे कितने ही देश आणविक शक्ति का उपयोग युद्ध और संहार के लिए कर रहे हैं जिससे यह अपार शक्ति मानवता के लिए अभिशाप हो गयी है। किंतु डॉ० भाभा आणविक शक्ति का उपयोग मानव के हित के लिए करने के पक्षपाती थे। उससे कितने ही भयंकर रोगों की चिकित्सा की जा सकती है। उससे कृषि का उत्पादन बढ़ाया जा सकता। उससे बिजली उत्पन्न करके कारखाने चलाये जा सकते है तथा कितने ही मानव के लिए अन्य हितकारी काम किये जा सकते हैं। डॉ० भाभा के निदेशन में इस संस्थान ने आशातीत उन्नति की और वह संसार में शांति के लिए आणविक शक्ति के उपयोग का एक आदर्श संस्थान बन गया। डॉ० भाभा की ख्याति अंतर्राष्ट्रीय थी और वे संसार के प्रमुख आणविक विशेषज्ञों में गिने जाते थे। वैज्ञानिक होने के अतिरिक्त वे बड़े कलाप्रेमी थे और स्वयं भी अच्छे चित्रकार थे। उन्हें फूलों और बाग लगाने का भी बड़ा शौक था। वे भारत के आणविक आयोग के अध्यक्ष तथा भारत सरकार के आणविक विभाग के सचिव भी थे। वे अपने वैज्ञानिक अनुसंधान में इतने तल्लीन थे कि जब स्व० लालबहादुर शास्त्री ने उन्हें केंद्र में आणविक विभाग के मंत्री के रूप में मंत्रिमंडल में सम्मिलित होने को निमंत्रित किया तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उनके निधन से देश के आणविक विकास को गहरा धक्का लगा। डॉ० भाभा के समान प्रतिभाशाली वैज्ञानिक जब-कभी ही पैदा होते हैं। यह देश का दुर्भाग्य है कि जब वे प्रौढ़ता को प्राप्त हो रहे थे तब इस करुण परिस्थिति में उनका निधन हो गया तथा देश एवं संसार उनके अनुभव और प्रतिभा का पूरा लाभ उठाने से वंचित रह गया।

(पंडितप्रवर) क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय

इस युग के संस्कृत के एक मूर्धन्य विद्वान् और हिंदी के परम हितैषी और भक्त का ४ मार्च १९७४को वाराणसी में काशीवास हो गया। हमारे दुःख का एक व्यक्तिगत कारण भी है। वे दारागंज, प्रयाग में प्रायः दस-बारह वर्ष हमारे पड़ोसी थे। हमारे और उनके घरों की दीवारें मिली हुई थीं। हमारे पूज्य पिताजी से उनका बड़ा सौहार्द था। हममें संस्कृत की इतनी योग्यता नहीं कि हम उनकी विद्या की थाह पा सकते और न वह हमारा विषय ही है। किंतु पड़ोसी होने के कारण हमें उन्हें वर्षों अत्यंत निकट से देखने का अवसर मिला। हम उनकी धर्मनिष्ठा, मातृ-भक्ति और विद्याव्यसन से अत्यंत प्रभावित थे। हमने उन्हें गंभीर रूप ही में नहीं देखा। हमें उनके सरस और विनोदी स्वभाव का भी पर्याप्त परिचय मिला तथा उनका स्नेह-भाजन होने का भी सौभाग्य मिला। 'विद्या ददाति विनयम' की वे साक्षात् मूर्ति थे। हम उनके इतने लंबे सान्निध्य और स्नेह को अपने किसी पूर्वजन्म के सुकृत का ही फल मानते हैं।

३ मार्च '७४ को वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री बलराम उपाध्याय, अपने यहां के ग्रंथाध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी को साथ लेकर पंडित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के यहां गये और उन्होंने पंडितजी से अनुरोध किया कि विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के अवसर पर विशेष व्याख्यान-माला के लिए सम्मान्य अतिथि होना स्वीकार करें और व्याख्यानमाला का विषय बतलायें। पंडितजी ने प्रस्थान-त्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्री मद्-भगवत गीता) के संबंध पर व्याख्यान देने की स्वीकृति दी और लगभग आधे घंटे तक उक्त विषय की रूपरेखा लिखते रहे। बीच में कुछ श्वास का कष्ट मालूम हुआ, पर उन्होंने बातचीत का सिलसिला अपने विगत जीवन की ओर मोड़ दिया और अपने छोटे भाई की मृत्यु की आश्चर्यजनक घटना सुनाने लगे कि वह छोटी

अवस्था में ही 'गंगा की जय बोलो' कहकर दिवंगत हुआ। पंडितजी यह कहकर उदास हो गये और उन्होंने फिर व्याख्यान के बारे में यह मंतव्य व्यक्त किया कि मैं संस्कृत में व्याख्यान लिपिबद्ध करूंगा किंतु मैं चाहूंगा कि व्याख्यान हिंदी में ही करूं—कुछ अपनी बातें कहनी हैं, शास्त्र से अलग जाकर। इसके थोड़ी ही देर बाद पुनः उन्हें कुछ कष्ट मालूम हुआ और अपनी पत्नी से यह कहकर कि काशी में ही अब मेरा शरीर छूटेगा, तख्त पर आकर लेट गये और मुश्किल से दो-तीन मिनट में उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

पंडित चट्टोपाध्याय अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के संस्कृत के विद्वान् और वेद के व्याख्याता होने के साथ-साथ सत्य और न्याय के लिए जीवन-भर कठोर संघर्ष करनेवाले प्रखर तेजस्वी योद्धा और अपने शिष्यों के लिए वात्सल्य के अक्षय स्रोत थे। उनका जन्म बहुत ही संपन्न परिवार में हुआ था। बंगला के प्रसिद्ध लेखक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय उनके पूर्व पुरुषों में थे। चट्टोपाध्यायजी के पिता केंद्रीय सचिवालय में एक ऊंचे अधिकारी थे। उनका विवाह पटना के अंग्रेजी के प्रोफेसर ज्योति बनर्जी की कन्या से हुआ। पर स्वयं पंडितजी आजीवन बहुत ही सीधा-सादा जीवन व्यतीत करनेवाले, आदर्शनिष्ठ, आचरणनिष्ठ तपस्वी ब्राह्मण बने रहे। एक ओर विचार के क्षेत्र में वे इतने मुक्त थे कि किसी भी ज्ञान के स्रोत से कोई नयी सामग्री मिले तो उसको स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। दूसरी ओर, अनुशासित आचरण के मूर्त्तिमान् भास्वर रूप थे। वे बराबर यह मंत्र दोहराया करते थे—सत्येनोत्तभिता भूमिः (सत्य पर ही पृथ्वी थमी हुई है), इसलिए वे सत्य को अखंड रूप में मानते थे। पश्चिम के विचारकों और भारतीय मनीषियों दोनों के द्वारा की गयी सत्य की शोध को एक धरातल पर मिलाकर देखते थे। उन्हें वैचारिक क्षेत्र में मूढ़ाग्रह से बड़ी विरक्ति थी और अपनी बात को भी अंतिम बात नहीं मानते थे। अपने शिष्यों से आग्रह करते थे कि मैं विचार की एक सरणि दे रहा हूं; इस पर चलकर आगे जाओ और आवश्यक समझो तो इसका खंडन करो—यही मेरी चरितार्थता होगी, क्योंकि—शिष्यादिच्छेत् पराजयम् (शिष्य से पराजय की कामना करनी चाहिए)। उनकी बातों में कभी-कभी चौंका देनेवाली प्रखरता होती थी, जो अंधी श्रद्धा वालों को चुभ सकती थी। पर जो व्यक्ति उनको समीप से जानता था वह यह भली भांति समझता था कि सत्य के अनुसंधान के क्षेत्र में वे भले ही बड़े प्रखर तार्किक हों पर अपने जीवन में बड़ी गहरी आस्थावाले आस्तिक थे। उनके लिए आस्था का आधार ऐतिहासिक सत्य न होकर इतिहास का अतिक्रमण करनेवाला सत्य था। इसीलिए वे अपने आचरण में बहुत अनुशासित, बहुत कठोर और बहुत निष्ठावान् थे। माता के ऐसे अनन्य भक्त थे कि दारागंज में रहते समय उनको गंगा-स्नान के लिए स्वयं ले जाते थे और उनके लिए गंगाजल भरकर लाते थे। हां,

दूसरी ओर अपने अध्यापन के जीवन में, जो करीब-करीब, सारा का सारा उत्तर प्रदेश में ही बीता—प्रयाग और वाराणसी में, निरंतर स्वाध्याय के आदर्श प्रतिमान थे। और अपने शिष्यों के प्रति इतने वत्सल थे कि न केवल उन्हें ज्ञान के शोध की दृष्टि देते थे, न केवल उनके लिए पुस्तकों के संदर्भ उपलब्ध कराते थे बल्कि स्वयं उनको पुस्तकें देते थे और आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहायता करते थे तथा स्वयं कष्ट उठाकर अपने शिष्यों का कष्ट-निवारण करते थे। पर इसके साथ ही उनका अनुशासन इतना कड़ा था कि मर्यादा का तनिक भी अतिक्रमण कोई भी शिष्य उनके सामने नहीं कर सकता था, यहां तक कि उनके प्रबल विरोधियों की निंदा की बात भी कोई नहीं कर सकता था। वे नारियल की तरह ऊपर से कठोर और भीतर से अतिशय सरस थे। वे नियमों के विशेषज्ञ माने जाते थे और नियमों के पालन में किसी के आगे झुकते नहीं थे। प्रयाग विश्वविद्यालय के एक कुलपति ने मौखिक आदेश दिया कि पंडितजी आपको यह आदेश मानना होगा। पंडितजी ने निर्भीकता से उत्तर दिया कि आप अपना आदेश लिखित भेज दें और यदि वह नियमानुकूल होगा तो माना जायेगा और ऐसा नहीं होगा तो मैं मानने के लिए बाध्य नहीं हूं। अपनी प्रखर तेजस्विता के कारण, सत्य और न्याय की निष्ठा के कारण उन्हें भौतिक दृष्टि से वह सम्मान नहीं मिला जो उन्हें प्राप्य था, यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या के क्षेत्र में उन्हें अपने लेखों के कारण अंतर्राष्ट्रीय ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त थी। अपनी मृत्यु के पूर्व काशी हिंदू विश्वविद्यालय स्टेफनोस अमलेन्दु घोष व्याख्यानमाला (जो तुलनात्मक धर्म की बहुत सम्मानित व्याख्यानमाला मानी जाती है) में भाषण दिया और काशी हिंदू विश्वविद्यालय में वैदिक धर्म और प्राचीन ईरानी धर्म पर व्याख्यान दिये, जो अब छप रहे हैं। पंडितजी तुलनात्मक धर्म और दर्शन के प्रकांड विद्वान् थे। उन्होंने न केवल भारत के बल्कि बाहर के प्राचीन और नवीन धर्मों का तत्त्वान्वेषण किया था।

धर्म और दर्शन के अलावा पुरातत्व और प्राचीन इतिहास के क्षेत्र में उनका सबसे बड़ा अवदान था प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग की स्थापना और कौशांबी में उत्खनन का प्रारंभ। उन्होंने प्राचीन इतिहास के क्षेत्र में अनेक योग्य शिष्य दिये जैसे अमलानंद घोष (भूतपूर्व महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व विभाग), श्री गोवर्धनराय शर्मा (प्राध्यापक प्रयाग विश्वविद्यालय), श्री गोविन्दचन्द्र पांडेय (प्राध्यापक राजस्थान विश्वविद्यालय), श्री लल्लनजी गोपाल (प्राध्यापक काशी हिंदू विश्वविद्यालय)। वेद और भाषाशास्त्र के क्षेत्र में उनके प्रमुख शिष्यों में—पंडित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, आर्येन्द्र शर्मा, उदयनारायण तिवारी और विद्यानिवास मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्राच्य विद्या के क्षेत्र में वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने पश्चिम की अनुसंधान पद्धति को पूरी तरह आत्मसात् करके प्राचीन परंपरा के प्रौढ़ि को

उसके साथ जोड़ा और उन्होंने बड़ी प्रखरता के साथ यह प्रतिपादित किया कि वैदिक संस्कृति में आर्य-द्रविड़ के संघर्ष की बात ऋग्वेद के अंत:साक्ष्य से प्रमाणित नहीं की जा सकती। दास वर्ण का अर्थ शूद्र या द्रविड़ नहीं है बल्कि उसका अर्थ है दानवीय शक्ति या मनुष्य के भीतर के असुर की अभिव्यक्ति, और मानव उससे भयभीत होकर देवताओं की शरण में, अपने भीतर के प्रकाश की शरण में जाता रहा है। वे समस्त धर्मों के प्रति आदरभाव रखते थे किंतु स्मार्त धर्म में उनकी अचल निष्ठा थी और काशी उन्हें इसीलिए अतिशय प्रिय थी।

उनकी एक विशेषता और भी उल्लेखनीय है—उनमें प्रादेशिक संकीर्णता का केवल सर्वथा अभाव ही नहीं था बल्कि हिंदी को सार्वदेशिक भाषा बनाने का विशेष आग्रह भी ऐसा था जो हिंदी-भाषी के लिए भी स्पृहणीय है। वे हिंदी साहित्य-सम्मेलन के कराची अधिवेशन में राष्ट्रभाषा परिषद् के अध्यक्ष और संविधान सभा के समक्ष अखिल भारत के विद्वानों का मत हिंदी के पक्ष में उप-स्थापित करने में सम्मेलन के प्रमुख स्तंभ थे। जिस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में संस्कृत जैसे विषय के शिक्षा-माध्यम रूप में अंग्रेजी प्रतिष्ठित थी, उस समय वे एम०ए० की कक्षा में हिंदी के माध्यम से पढ़ाते थे और विद्यार्थियों से आग्रह करते थे कि यदि पढ़ाने में कोई अशुद्धि हुआ करे तो ठीक कर दिया करो। अभी कुछ ही दिनों पूर्व उनसे किसी शिष्य ने कहा कि हिंदी में प्राच्य विद्या से संबंधित शोध निबंधों का स्तर ऊंचा नहीं होता है, ऐसा क्यों? उन्होंने उत्तर दिया कि यह हिंदी की कमजोरी नहीं है बल्कि हिंदी में शोध निबंध लिखनेवालों की कम-जोरी हो सकती है। मैं तो उस अभागी पीढ़ी में था, जिसके दिमाग में एक अनुवाद का कार्यालय बराबर काम करता रहता था। तुम लोग भाग्यशाली हो कि तुम सब केवल अपनी भाषा में सोचते हो, इसलिए गर्व और विश्वास के साथ तुम हिंदी में अंग्रेजी निबंधों से आक्रांत न होकर अपनी बात अपने ढंग से कहने की कोशिश करो। स्तर कैसे नहीं ऊंचा होगा। यह अवश्य था कि वे वाणी की शुचिता में विश्वास करते रहे, इसीलिए चाहे अंग्रेजी बोलें, चाहे संस्कृत बोलें, चाहे ग्रीक बोलें, चाहे बंगला बोलें, वे स्वर-व्यंजन के सुव्यक्त उच्चारण के संस्कार के साथ बोलते थे क्योंकि उनके लिए भाषा का संस्कार धर्म था। इसी धर्म को उन्होंने जीवन-भर जिया और अंतिम क्षण तक स्वाध्याय के तप में निरत रहे। संपत्ति के नाम पर उन्होंने पुस्तकों का संग्रह किया और ज्ञान की साधना के साथ-साथ उन्होंने स्मार्त धर्म के अंदर निश्चल भक्ति की साधना की।

ऐसे देव-दुर्लभ मनुष्य और ऋषियों की तरह भारतीय ज्ञानशिखा की ज्योति जलानेवाले भारत-भारती के अमृत-पुत्र पंडित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय को हम सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

जयंतियाँ
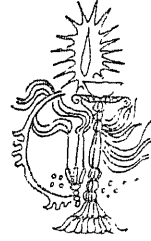
गुरु नानकदेव की पांचवीं जन्मशती

नवंबर १९६९ को सारे देश में सिक्ख पंथ के प्रवर्तक गुरु नानकदेव की पांचवीं जन्मशती बड़ी धूमधाम से मनायी गयी थी। सिक्ख एक जीवित जाति है और उसने जिस उत्साह और जिस गहरी धार्मिक भावना से इस शुभ अवसर को मनाया वह दूसरे धर्मों के अनुयायियों के लिए अनुकरणीय है। राष्ट्रपति, प्रधान-मंत्री तथा हमारी सरकार और उसके तंत्रों—जैसे आकाशवाणी ने भी उसे सफल बनाने में प्रशंसनीय सहयोग दिया। अन्य धर्मों के अनुयायियों ने हार्दिक सहयोग देकर इस शुभ अवसर को राष्ट्रीय रूप दे दिया। महामहिम दलाई लामा भी उसमें सम्मिलित हुए। ये अवसर देश में भावात्मक एकता और अंतर्धार्मिक सद्-भावना उत्पन्न एवं दृढ़ करने में कितने सहायक हो सकते हैं, यह इस पर्व ने प्रमाणित कर दिया।

गुरु नानकदेव मध्य काल के ज्ञानमार्गी संतों में सबसे अधिक सफल हुए। कबीर, दादू, मलूकदास आदि अनेक ज्ञानमार्गी संतों ने अपने पंथ चलाये किंतु जो सफलता गुरु नानकदेव को मिली, वह और किसी को नहीं मिली। इसमें उनके निकट केवल कबीर पहुंचते हैं। यदि वे देश-विदेश में अधिक विख्यात हैं। कवींद्र रवींद्र भी उनसे कुछ-कुछ प्रभावित थे। किंतु देश की जनता में जितने अनुयायी गुरु नानकदेव को मिले, उतने कबीर को नहीं। बाद में दशम गुरु श्री गोविंद-सिंहजी ने उनके पंथ को एक नया और जीवित रूप दे दिया और उसमें ऐसी जीवनी फूंक दी कि इस पंथ के लोग सिक्ख (शिष्य) नाम से विख्यात हो गये और भारत के सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास में एक प्रभावशाली शक्ति बन गये। किंतु गुरु नानकदेव के अनुयायी केवल सिक्खों तक ही सीमित नहीं हैं। सुदूर सिंध, राजस्थान तथा पंजाब में भी बहुत से जो हिंदू सिक्ख नहीं हैं, गुरु नानकदेव के अनुयायी हैं।

गुरु नानकदेव का यह व्यापक प्रभाव जितना उनके व्यक्तित्व की सहायता, उनके उपदेशों की महिमा के कारण है उतना ही उन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण भी है जो उनके जीवन-काल में इस देश में विद्यमान थीं। वे ही एक ऐसे पंथ प्रवर्त्तक संत थे जिन्होंने विदेशी आक्रमण की भीषणता देखी थी। उस समय दिल्ली में पठानों (लोदी वंश) का शासन था। मुगलों ने पठानों को स्थान-स्थान पर हराया। गुरुजी ने एक स्थान पर कहा है कि लाहौर में मुगलों ने सवा पहर के 'कत्लेआम' किया। उन्होंने राग आसाबरी की एक अष्टपदी (१२) में इस आक्रमण के परिणाम का विस्तृत वर्णन किया है।

कहा सु खेल तवेला घोड़े कहा भेरी सहनाई।
कहा सु तेगबंद माडेरड़ि कहा सु लाल कवाई।
कहा सु आरसिआ मुह बंके एथे दीसहि नाही।

इस अष्टपदी का भावार्थ है :

"तुम्हारे (पठानों के) वे खेल, अस्तबल, घोड़े कहां हैं? तुम्हारे नगाड़े और शहनाइयां कहां हैं? तलवारों की म्यानें और रथ कहां हैं? वे लाल वर्दियां कहां हैं? वे दर्पण और सुंदर मुख कहां हैं? यहां तो दिखायी नहीं पड़ रहे।"

"जब इस देश में लोगों ने सुना कि बाबर देश पर चढ़ाई कर रहा है तब करोड़ों पीरों ने उसे रोकने के लिए जादू-टोने किये। किंतु बड़-बड़े स्थान और वज्र के समान सुदृढ़ किले-महल जल गये और शहजादे टुकड़े-टुकड़े करके मिट्टी में मिला दिये गये। पीरों के जादू के पर्चों से कोई मुगल अंधा नहीं हुआ।

"मुगलों और पठानों में भयंकर युद्ध हुआ। खूब तलवारें चलीं। मुगलों ने तोपें चलायीं और पठानों ने हाथी आगे बढ़ाये। किंतु परमात्मा के दरबार में जिनकी चिट्ठी फाड़ दी गयी थी उन्हें तो मरना ही था।

"मुगलों ने जिन स्त्रियों की दुर्दशा की उनमें हिंदुआनियां, तुरकानियां और ठकुरानियां भी थीं। तुरकानियों के बुर्के सिर से पैर तक फाड़ दिये गये, कुछ मार डाली गयीं। जिनके पति घर नहीं लौटे उनकी रातें किस प्रकार कटी होंगी!"

एक 'सबद' (शब्द) में कहते हैं :

खुरासान खसमाना कीआ हिंदुस्तान डराइया।
आपै दोष न देई करता जसु करि मुगल चढ़ाइआ।

इस 'शब्द' का भावार्थ है : "हे परमात्मा! खुरासान को (जिस पर बाबर का शासन था) तो तूने बचा लिया पर हिंदुस्तान में आतंक फैला दिया। अपने ऊपर दोष न लेने के लिए तूने मुगलों को यम रूप बनाकर चढ़ाई करवा दी। (जमु करि मुगल चढ़ाइआ) यहां इतनी मारकाट हुई किंतु तुझे दया न आयी।

"तू तो सभी का स्वामी है। यदि कोई बलवान किसी बलवान को मारता है तो मन में क्रोध नहीं आता। किंतु यदि शक्तिशाली सिंह निरीह पशुओं पर झपट पड़ता और उन्हें मारता है तो उनके स्वामी को कुछ तो पुरुषार्थ दिखाना चाहिए। इन (पठान) कुत्तों ने रत्न के समान देश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उनके मरने के बाद उनकी कोई खोज-खबर नहीं लेता।"

गुरु नानकदेवजी ने यह आक्रमण देखा ही नहीं, वे एक बार स्वयं उस चक्रवात में फंस गये। सन् १५२१ ई० में जब बाबर ने ऐमनाबाद (पंजाब) पर आक्रमण किया तो संयोग से वे उस समय वहां अपने एक शिष्य के यहां ठहरे हुए थे। जब नगर का पतन हो गया और मारकाट समाप्त हो गयी तो बहुत से बचे हुए स्त्री-पुरुष पकड़ लिये गये। उन बंदियों में गुरु नानकदेव जी और उनके मुसलमान भक्त मरदाना भी थे। संयोग से ये दोनों बाबर के सेनापति मीरखां की सेवा में लगा दिये गये। गुरुजी को तो सिर पर सामान लादकर उसे ले चलने का काम दिया गया, और मरदाना को खां के घोड़े की साईसी दी गयी। काम करने के बाद वे दोनों अन्य लोगों के साथ कारागार में बंद कर दिये जाते थे। एक बार जब वे भजन गा रहे थे, संयोग से मीरखां वहां आ गया। वह उनके भजन पर इतना मोहित हुआ कि उसने बाबर से प्रार्थना की कि वह कारागार में गुरुजी से मिले। बाबर ने गुरुजी से इसलाम धर्म स्वीकार करने को कहा, किंतु गुरुजी ने स्पष्ट कह दिया कि वे एक सच्चे प्रभु को छोड़कर और किसी को नहीं मानते! बाबर उनके साहस और विश्वास की दृढ़ता से प्रभावित हुआ और उसने उनसे कुछ मांगने को कहा। गुरुजी ने कहा कि उन्हें इस बात के सिवाय और कुछ न चाहिए कि सारे बंदी छोड़ दिये जायं और अत्याचार बंद कर दिये जायं।

भारत के कितने ही संतों ने सारे भारत का भ्रमण किया था, किंतु गुरु नानकदेव ही एक ऐसे संत थे जो भारत से बाहर भी गये थे। वे मक्का और बगदाद में कुछ दिनों रहे। कहा जाता है कि मक्का में उन्होंने एक चमत्कार दिखलाया था। वे पवित्र काबा की ओर पैर करके लेटे थे। इस पर वहां के मुल्लाओं ने इन्हें डांट बताई। कहते हैं कि उन्होंने दूसरी ओर पैर कर लिये तो लोगों को उसी ओर काबा दीखने लगा। उन्होंने कहा कि चारों दिशाएं पवित्र हैं और सभी ओर पवित्र तीर्थ हैं। ईश्वर लोगों का हृदय परखता है। वह यह नहीं देखता कि उन पर किस धर्म की छाप लगी है। बगदाद में उस समय फकीर बहलोल नाम के एक मुस्लिम संत रहते थे। गुरुजी ने फकीर बहलोल को आध्यात्मिक रहस्यों की बहुत सी बातें बतलायीं। फकीर उनके बड़े भक्त और प्रशंसक हो गये थे। जहां इन दोनों महात्माओं की भेंट हुई थीं, वहां कुछ दिनों बाद एक स्मृति-पटल लगाया गया। जिस पर लिखा था कि "इस स्थान पर हिंदू गुरु

नानक ने फकीर बहलोल से वार्तालाप किया था।"

पठान कुशासन और मुगल आक्रमणों से उत्पन्न विभीषिका का सामना मुख्यतः भारत के उन क्षेत्रों को करना पड़ा जो देश के पश्चिमोत्तर में थे। यहीं हिंदू और मुसलमानों का सामना होता था और यहां की हिंदू जनता को आक्रमणकारियों के अत्याचार सबसे अधिक सहने पड़ते थे। उस अराजकता में हिंदू समाज अस्त-व्यस्त हो गया था। उसके सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक नेता या तो समाप्त हो गये थे, या इतने बिखर गये थे कि वे समाज का मार्गदर्शन न कर सकते थे। सारी हिंदू जनता त्रस्त, निराश और अस्त-व्यस्त थी, उसे कोई आध्यात्मिक सहारा न रह गया जो उसमें आशा का संचार करता या जिससे उसका मनोबल बना रहता। मंदिर तक नष्ट हो गये थे। उस संकट काल में वर्णव्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो गयी थी। फिर भी लोग उससे मानसिक रूप से चिपटे थे। ऐसे समय गुरु नानक देव ने उस निराश जनता को एक निराकार भगवान के पूजन का संदेश दिया। उनकी वाणी में मानवता का स्वर प्रखर था और उससे निराश हिंदू जनता को आत्मिक सांत्वना मिली तथा उसका मनोबल बढ़ा। हिंदुओं को सांत्वना देकर ही गुरुजी ने अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझी। उन्होंने मुसलमानों को भी कट्टरता और संकुचित विचारों से ऊपर उठने का उपदेश दिया। उन्होंने बतलाया कि ईश्वर एक ही है। उपासना-भेद होने पर भी वे दोनों एक ही ईश्वर की उपासना करते हैं। ईश्वर सर्व व्याप्त है। वह उनके हृदय के मानवीय भावों और कर्मों को देखता है—उपासना-भेद पर ध्यान नहीं देता। उन्होंने सही अर्थ से अनेकता में एकता के दर्शन किये और उस आत्मज्ञान का प्रचार किया। इस प्रकार उनका उपदेश मानवता का उपदेश है। वास्तव में उनका पंथ संकुचित परिभाषा का धर्म न होकर मानव को सच्चरित्र बने रहने पर जोर देता है। वह दर्शन कम और आचारशास्त्र अधिक है।

उन्होंने अपने उपदेशों और उससे अधिक अपने जीवन से हिंदू और मुसलमानों के बीच की खाई पाटने का पूरा-पूरा प्रयास किया। मानवता का संदेश देने और विभिन्न धर्मों के बीच सद्भावना स्थापित करने में उन्होंने जो कार्य किया उसका आज अनुमान करना भी कठिन है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि उनके उपदेशों से तत्कालीन निराश हिंदू जनता को आत्मिक शांति मिली, मुसलमानों के प्रति कटुता कम हुई और उन्होंने दोनों धर्मों के अनुयायियों में एक सीमा तक सहिष्णुता उत्पन्न की।

गुरुजी ऐसे संत नहीं थे जो कुशासन के प्रति निरपेक्ष रहें। उन्होंने स्थान-स्थान पर भ्रष्ट और अत्याचारी राजकर्मचारियों को आड़े हाथों लिया है। एक स्थान पर वे कहते हैं :

माणस खाणे करहि निवाज
छुरी बगाइति तिन गल ताग ।
तिन घर ब्रह्मण पूरहि नाद ।
ऊना भी आवहि ओई साद ।

(मुसलमान) हाकिम मनुष्य-भक्षी हैं पर नमाज पढ़ते हैं। (उनके हिंदू मुंशी) छुरी चलाते हैं पर उनके गले में जनेऊ है । उनके घर ब्राह्मण शंख बजाते हैं। इसमें उन्हें भी उन्हीं पदार्थों का स्वाद आता है । उन सबकी झूठी पूंजी और झूठा व्यापार है । वे झूठ बोलकर ही जीवन व्यतीत करते हैं । शर्म और धर्म का डेरा उठ गया है। सभी जगह झूठ ही छा गया है । वे (हिंदू कर्मचारी) माथे पर टीका लगाते हैं किंतु उनके हाथों में छुरी है और जगत् के लिए कसाई की तरह हैं ।

स्त्रियों के संबंध में भी उनके विचार बड़े संतुलित और अपने समय से बहुत आगे थे । वे कहते हैं : "उस स्त्री को खराब क्यों कहा जाय जिससे शासक भी जन्म लेते हैं ? इस संसार में कोई प्राणी स्त्री के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता । एक प्रभु ही है जो स्त्री से नहीं जन्मा ।"

आज देश की जो स्थिति है, उसमें गुरु नानक देव के उपदेशों का महत्त्व और मूल्य और भी अधिक हो गया है । यदि इस देश के सभी धर्मों के लोग उनके उपदेशों पर ध्यान दें तो इस देश की बहुत सी जटिल समस्याएं सहज ही दूर हो जायं । गुरुजी की पीयूष वाणी की अजस्र धार आज भी बह रही है । यदि देश भाग्यवान है तो वह उससे लाभ उठाकर अमृतत्व प्राप्त कर सकता है । यदि हम उनकी पांचवीं जन्मशती के अवसर पर यह लाभ नहीं उठाते तो हमारे ये शानदार उत्सव बेकार हैं, हमारे नेताओं और उनके नेताओं और उनके अनुयायी होने के दावा करने वालों के भाषण व्यर्थ हैं क्योंकि सेंट पॉल ने कारिन्थ के लोगों को लिखे एक पत्र में कहा था कि चाहे तुम्हारी वाणी में अमृत ही क्यों न टपकता हो, किंतु उसमें हार्दिकता नहीं है तो वह केवल पीतल पीटने की आवाज से अधिक महत्त्व की नहीं है ।
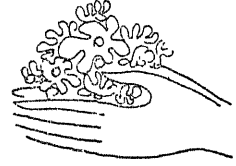
गांधी जन्मशती

२ अक्टूबर १८६९ को महात्माजी का जन्म हुआ था। अतएव २ अक्टूबर १९६९ को उनके जन्म को सौ वर्ष पूरे हुए। सामान्य बड़े आदमियों का जन्म-दिवस एक दिन मनाया जाता है, किंतु कृतज्ञ राष्ट्र ने सारे वर्ष को जन्मशती के रूप में मनाने का निश्चय किया। २ अक्टूबर उस वर्षकालीन उत्सव का चरम बिंदु है। इस अवसर पर 'अर्चना' के अगणित स्वरों में 'सरस्वती' ने भी अपना स्वर मिलाकर आधुनिक भारत के राष्ट्रपिता और इस युग के सर्वश्रेष्ठ पुरुष और महामानव की वंदना की थी।

गांधीजी के संबंध में इतना लिखा गया है—गद्य में भी और पद्य में भी तथा इतने महान् पुरुषों, विचारकों, विद्वानों, राजनीतिज्ञों और पत्रकारों ने लिखा है कि उनके संबंध में हम जो कहेंगे वह पिष्टपेपण ही होगा। आज उनकी महत्ता जन-जन को विदित है, वह स्वयं प्रकाशवान हैं। अपने लघु दीपक से हम प्रकाशपुंज की आरती उतारने का हास्यास्पद प्रयत्न नहीं करेंगे। भारत ने उन्हें अपना 'राष्ट्रपिता' घोषित कर जो सर्वाधिक सम्मान वह दे सकता था, वह दे दिया। संसार के प्राय: सभी देशों में उनकी जो जन्मशती मनाई गयी, वह इसका प्रमाण है कि संसार उनके व्यक्तित्व और विचारों का कितना प्रशंसक है। एशिया और अफ्रीका के अनेक परतंत्र देशों को तो उनसे प्रेरणा मिली ही, योरोप और अमरीका के भी अनेक देशों ने उनके सत्य, अहिंसा और मानवता-प्रेम के संदेश में अपनी कितनी ही समस्याओं का हल देखा। सारा संसार इस बात का कायल है कि यदि इस अति उन्नत मानवता को (जो अति विज्ञानवाद और उससे उत्पन्न हृदयहीनता से बुरी तरह पीड़ित है) विनाश से बचना है तो उसके लिए एकमात्र उपाय उनके बतलाये सत्य और अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करना ही है।

किंतु इस देश के निवासियों के लिए—जो उन्हें अपना राष्ट्रपिता, गुरु और मार्गदर्शक मानने का दावा करते हैं—यह वर्ष आत्मपरीक्षण और आत्मचिंतन का है। हमें देखना है कि हम कहां तक उनके बतलाये हुए मार्ग पर चल सके हैं या चल रहे हैं। यदि हमने यह नहीं किया, और उनके नाम का कीर्तन करके तथा कुछ दिखाऊ भड़कदार उत्सव और कुछ ईंट-पत्थर के स्मारक बनाकर ही रह गये, तो उनसे उनकी आत्मा को संतोष न होगा।

महात्माजी राजनीतिक नेता थे, किंतु राजनीति में उनकी रुचि भारत की विशेष और विषम परिस्थिति के कारण थी। दासता एक घोर लांछन है, वह मानवता के लिए अभिशाप है और उसका सबसे बड़ा अपमान है। भारत को अपने अधिकार में रखने के लिए अंग्रेजों को मार्ग में पड़नेवाले अनेक देशों पर भी अधिकार बनाये रखना आवश्यक था। अतएव भारत की पराधीनता कितने ही अन्य देशों की पराधीनता का प्रत्यक्ष या परोक्ष कारण हो गयी थी। गांधीजी ने भारत की स्वतंत्रता में केवल भारत ही की मुक्ति नहीं देखी, प्रत्युत एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों की भी मुक्ति देखी। और इसकी सचाई तब स्पष्ट हो गयी जब भारत के स्वतंत्र होते ही वे अनेक देश भी स्वतंत्र हो गये। भारत का स्वतंत्रता आंदोलन पराधीनता की श्रृंखला में जकड़े एशिया और अफ्रीका के करोड़ों नर-नारियों की मुक्ति का आंदोलन भी था। इस दृष्टि से महात्मा जी की राजनीति और भारत की स्वतंत्रता का प्रयास संकुचित राष्ट्रीयता से प्रेरित न होकर सारे संसार की पराधीन जनता को मुक्त कर उनमें मानवोचित आत्मसम्मान प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न था।

गांधीजी को अपने राजनीतिक लक्ष्य में आशातीत सफलता मिली, यद्यपि देश के बंटवारे स्वतंत्रता-प्राप्ति के हर्ष और आह्लाद को बहुत कुछ हल्का कर दिया था। विभाजन के बाद जो भीषण और अनावश्यक रक्तपात हुआ और जो कटुता उत्पन्न हुई उसने रहे-सहे उल्लास और उत्साह को भी बहुत क्षीण कर दिया। यह सर्वविदित है कि वे विभाजन के विरुद्ध थे किंतु उनके सहयोगियों ने उसे स्वीकार करके उन्हें उससे सहमत होने को विवश कर दिया था।

उनका रचनात्मक कार्यक्रम : किंतु राजनीतिक स्वतंत्रता को अनिवार्य समझते हुए भी वे जानते थे कि केवल उसी से भारत की जनता को 'वह रामराज्य' नहीं मिल जायेगा जिसको लाना उनका चरम लक्ष्य था। 'दरिद्र नारायण' और 'हरिजन' का कल्याण और उनमें मानवीय स्वाभिमान उत्पन्न कर उन्हें ऊंचे से ऊंचे नागरिकों के समकक्ष खड़ा करना उनका स्वप्न था। देश और समाज की बहुमुखी उन्नति के लिए उन्होंने कितने ही रचनात्मक कार्यों की योजना बनाई थी जिनमें मुख्य थे—

मद्य-निषेध

अछूतोद्धार
हिंदू-मुस्लिम एकता
चरखा-खद्दर
गो-सेवा
नई (बुनियादी) शिक्षा
राष्ट्रभाषा

यदि हम ठंडे दिल से विचार करें तो मालूम होगा कि हम चाहे जितने जोर से उसके नाम की दुहाई देते हों, उनके रचनात्मक कार्यों में बहुत कम दम रह गया है। मद्य-निषेध में जो थोड़ी बहुत प्रगति हुई थी, वह पिछले कुछ वर्षों में समाप्तप्राय हो गयी। कई कांग्रेसी सरकारों ने ही मद्य-निषेध के नियमों को ढीला कर दिया है। यही नहीं, कई कांग्रेस सरकारों ने तो मद्य बनाने के आधुनिक ढंग के कारखाने भी खोल दिये हैं। मद्य के कर से जो प्रचुर आय होती है, या जो और अधिक आय होने की आशा है, उसका लोभ वे बापू के सिद्धांत के निहोरे भी छोड़ने को तैयार नहीं हैं। उसके जो भीषण सामाजिक और नैतिक दुष्परिणाम हैं उनकी ओर से उन्होंने आंखें मूंद रखी हैं। भारत में केवल दो राज्य मद्य-निषेध के हृदय से समर्थक रहे हैं। वे हैं गुजरात और तमिलनाडु। सारे देश की स्थिति देखते हुए मद्य-निषेध का कार्यक्रम किसी भी दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता। अछूतोद्धार के लिए संविधान में प्रावधान है। कुछ कानून और भी बने हैं। उनका औपचारिक पालन होता भी है, किंतु वास्तव में, विशेषकर गांवों में, हरिजनों की अवस्था में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ।

हिंदू-मुस्लिम एकता का नारा अवश्य है, किंतु वह एकता इतने कमजोर आधार पर है कि छोटी से छोटी बात भी उसको भंग कर देती है, और सांप्रदायिक दंगों का तांडव होने लगता है। वह वास्तविक एकता—हृदयों की एकता—जो बापू चाहते थे, अभी भी स्वप्न है। शासकगण अपना सिरदर्द और परेशानी बचाने के लिए उसे रोकने और झगड़ों को बचाने का प्रयत्न अवश्य करते हैं, किंतु राजनीतिज्ञ तथा अन्य लोग क्षुद्र स्वार्थ साधन के लिए बिलगाव की भावना को अपने हित में भड़काने में संकोच नहीं करते।

खद्दर का हाल यह है कि उसकी लोकप्रियता दिनोंदिन कम होती जा रही है। यदि 'लोकलाज' के कारण सरकार उसकी खरीद न करती रहे और उसके उत्पादन में सहायता न देती तो आज जितनी खद्दर उत्पन्न होती है, उतनी भी न हो। कुछ लोग पुरानी आदत के कारण उसे आज भी पहनते हैं, किंतु स्वयं उनके परिवारवाले भी उनका अनुकरण प्रायः नहीं करते। वह एक विशेष राजनीतिक विचारधारा के लोगों की 'वर्दी' पहनकर रह गयी है। गोसेवा के बारे में कुछ

न कहना ही अच्छा है। यह बड़ा करुण और अप्रिय विषय है। उनकी बुनियादी शिक्षा आज गत इतिहास की वस्तु हो गयी है। उन्हीं के शिष्यों की सरकारों ने उसको समाप्त कर दिया, और जहां कहीं उसका नाम रखते हुए जो शिक्षा दी भी वह गांधीजी की बुनियादी शिक्षा नहीं थी। राष्ट्रभाषा (हिंदी-हिंदुस्तानी) का हाल यह है कि अब स्वयं कांग्रेस के अधिवेशनों में उसका अवमूल्यन हो गया है। राजभाषा (हिंदी) संविधान ने स्वीकृत की थी। किंतु उसके साथ भी जो खिलवाड़ हो रहा है, वह जागरूक नागरिकों को भली भांति विदित है। कहने का तात्पर्य यह है कि गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम की लकीर अवश्य पीटी जाती है, किंतु वह निर्जीव हो गया है।

यदि हम बापू की इस जन्मशती के वर्ष में आत्म-निरीक्षण कर और इस बात का लेखा-जोखा लें कि उनके शिष्यों के ही लंबे प्रशासन में उनके रचनात्मक कार्यक्रम की क्या दशा हुई तो हमें प्रसन्न होने या गर्व करने का कोई विशेष कारण न मिलेगा। इसके विपरीत, कार्यक्रमों का ह्रास देखकर दुख और निराशा ही होगी।

और अंत में हम उनके 'सत्य और अहिंसा' के उपदेश पर विचार करें। आज प्रत्येक क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का ज्वलंत अभाव देखकर आदमी आश्चर्य-चकित रह जाता है। वह सोचता है कि क्या यह वही देश है जहां केवल बीस-बाईस वर्ष पूर्व गांधी नाम के एक अवतारी पुरुष ने उसके निवासियों को त्याग, बलिदान, कष्ट-सहन और सत्य के आग्रह का पाठ पढ़ाया था? क्या यह वही देश है जिसके निवासियों ने उन्हें अपना 'राष्ट्रपिता' घोषित कर परोक्ष रूप से उनके उपदेशों को स्वीकार किया था? क्या क्षुद्र स्वार्थों के दैनिक नग्न नृत्य तथा देहातों और नगरों में व्याप्त हिंसा का वातावरण गांधी का प्रभाव रहते संभव है?

यह कहते हुए हार्दिक दुःख होता है, किंतु जो बात हमें दीखती है वह यह है कि बापू की रचनात्मक योजनाएं और कार्यक्रम विफल हो गये हैं। यदि उनके जन्मशती-वर्ष में हम विनम्रता और गंभीरता से इस विफलता के कारणों पर विचार कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते, तो इस धूमधाम से मनाये जानेवाले वर्ष का कुछ फल भी हो सकता था।

गांधीवाद जनता में न फैलकर कुछ उन थोड़े से लोगों में सीमित हो गया है जो अपने को सर्वोदयी कहते हैं—क्योंकि बापू का लक्ष्य सर्वोदय था। किंतु उनका गांधीवाद जनता की वस्तु न रहकर एक प्रकार का 'संप्रदाय' हो गया है। हमें उनकी सद्भावना और सच्चाई में तनिक भी संदेह नहीं है। उनमें कुछ ऐसे लोग हैं जिनके उच्च चरित्र और महान् व्यक्तित्व के सामने मस्तक अपने आप नत हो जाता है। किंतु जनता के जीवन में उनका क्या प्रभाव है? क्या

कबीरपंथ, दादूपंथ आदि पंथों से अधिक उज्ज्वल उनके पंथ का भविष्य है ? फिर भी बापू के जीवन-दर्शन, उनके आध्यात्मिक मूल्यों और उनके विचारों और कार्यक्रमों को जीवित रखने और उनके प्रचार के प्रयासों के लिए हम उनकी प्रशंसा करते हैं।

बुद्ध और बापू : पाठक जानते हैं कि दो हजार वर्ष से अधिक हुए, इस देश में भगवान् बुद्ध ने जन्म लिया था। दो हजार वर्षों के अंतर के कोहरे और धुंध के बावजूद बुद्ध का व्यक्तित्व आज भी महान् और आकर्षक लगता है। एक समय था जब सारे देश में उनका संदेश फैल गया था और सारा देश बौद्ध हो गया। उनका संदेश विदेशों में भी दूर-दूर तक गया, और आज भी कितने ही देश भगवान् बुद्ध के अनुयायी हैं। किंतु बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हो गया। यहां वह जो इतने दिनों ठहरा उसका मुख्य कारण राज्य का सहयोग और संरक्षण था। यदि अशोक उसके संरक्षक न हो गये होते तो कहना कठिन है कि वह इस देश में कितने दिनों ठहरता।

आज के युग में धर्म या मत उस प्रकार नहीं फैलते जैसे प्राचीन काल में फैला करते थे। आज अनेक देशों के प्रबुद्ध वर्गों में गांधीवाद के प्रशंसक और अनुयायी हैं। अमरीका के जो नीग्रो मानवीय अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं उन्होंने भी महात्माजी के सिद्धांतों और उपायों—सत्य और अहिंसा—को स्वीकार किया। किंतु अपने देश के झगड़ों और विवादों में हम गांधीजी के सिद्धांतों और उपायों के विपरीत चल रहे हैं। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि बौद्ध धर्म की तरह गांधीवाद भी अब हमारे जीवन को प्रभावित नहीं करता ? यह सब देखकर बरबस यह प्रश्न उठता है कि क्या गांधीवाद भी बौद्ध धर्म की तरह इस देश से लुप्त हो जायेगा ?

बापू और श्रीगणेशजी : इस देश की जनता प्रत्येक शुभ कार्म के आरंभ में गणेशजी का पूजन करती है। व्यापारी अपनी बही, और जनता अपने पत्र आदि के आरंभ में 'श्रीगणेशजी सहाय' या 'श्रीगणेशाय नमः' लिखती है। किंतु इस आरंभिक स्मरण के बाद जीवन में कभी गणेशजी याद नहीं आते। हमारे नेताओं ने भी गांधीजी को आधुनिक गणेशजी बना लिया है। वे अपने भाषणों के आरंभ में—और कभी-कभी बीच में भी—गांधीजी का स्मरण कर लेते हैं, उनको नमन कर लेते हैं और उनकी जय भी बोल देते हैं, किंतु प्रशासनिक कार्य-कलाप में गांधीजी के सिद्धांतों, उनके शुद्ध उपायों, उनके सत्य-अहिंसा के उपदेश को भी भुला देते हैं। यदि देखा जाय तो व्यवहार में वे गांधीजी की अपेक्षा मार्क्स के अनुयायी अधिक हैं। गांधीजी के सिद्धांत व्यवहार के लिए और जीवन में उतारने के लिए हैं। यदि उनके नाम का उपयोग केवल श्रीगणेशाय नमः के आधुनिक संस्करण के रूप में ही रह जाता है तो इस देश में गांधीवाद का भविष्य बहुत

धूमिल है।

हम चाहते हैं कि हमारी शंका निर्मूल हो। किंतु बापू की जन्मशती के अवसर पर आत्मचिंतन और आत्मपरीक्षण के समय में जो विचार आये, उन्हें यथार्थ रूप से पाठकों तक पहुंचाना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। बापू ने इस देश में जिस रामराज्य की कल्पना की थी वह तभी साकार हो सकता है जब देशवासी उनके उपदेशों और सिद्धांतों को भाषण और लेखों तक सीमित न रखकर उन्हें अपने व्यवहार और आचरण का आधार बना लें। तभी उनकी जन्मशती की सार्थकता है।
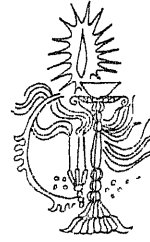
गौरीशंकर हीराचंद ओझा की जन्मशती

हिंदी के अनन्य भक्त और सेवक तथा इतिहास के अद्वितीय विद्वान् साहित्य-वाचस्पति, महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा का जन्म १५ सितंबर १८६३ में हुआ था। अतएव सितंबर १९६३ में उनके जन्म की शती पूरी हुई। इस अपूर्व इतिहासज्ञ और हिंदी-उन्नायक की जन्मशती पर हमारे देश में कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यह खेद की बात है। 'सरस्वती' ने उस अवसर पर ओझाजी के प्रति अपनी हार्दिक और विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

ओझाजी का जन्म राजस्थान के सिरोही राज्य में हुआ था। वे चार भाइयों में सबसे छोटे थे। आरंभ में उनके आस्तिक और धर्मभीरु पिता ने उन्हें संस्कृत की शिक्षा दी। आरंभ ही से उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया। उनके बड़े भाई बंबई में थे। सिरोही में शिक्षा की व्यवस्था संतोषजनक न थी। अतएव वे उनके पास बंबई चले गये, किंतु बीमारी के कारण वे इंटरमीडियट की परीक्षा दिये बिना ही कालिज छोड़ बैठे। उन दिनों बंबई में अपने समय के प्रकांड विद्वान् भारतमार्तंड पंडित गट्टूलालजी रहते थे, और एक निजी पाठशाला में अध्यापन करते थे। ओझाजी ने उनसे संस्कृत और प्राकृत का उच्च अध्ययन

किया। उन्हें विद्या से इतनी रुचि थी कि वे अधिकांश समय रायल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में बिताते थे। धीरे-धीरे वे इतिहास और पुरातत्त्व की ओर आकृष्ट हुए, और बिना किसी के निर्देशन के स्वयं उसका अध्ययन करने लगे। उस युग में उत्साही विद्वानों, शोधकर्त्ताओं और कार्यकर्त्ताओं के द्वारा विभिन्न लिपियों और भाषाओं में कितने ही पुराने शिलालेख खोज निकाले गये थे, किंतु उस समय पुरालेख-विद्या (एपिग्राफी) आरंभिक अवस्था में थी। अधिकांश लेख पढ़े ही नहीं गये थे, या ठीक ढंग से नहीं पढ़े गये थे। ओझाजी को पुरालेखों ने विशेष रूप से आकृष्ट किया और वे उनको पढ़ने और उनकी भाषा तथा लिपि का रहस्य जानने में जुट गये। इस कार्य में उन्हें आशातीत सफलता मिली और वे संसार के चोटी के पुरालेखविद् माने जाने लगे।

ओझाजी यह देखकर दुखी थे कि इतिहास की ओर भारतीय विद्वानों ने समुचित ध्यान नहीं दिया। इसलिए उन्होंने भारतीय इतिहास के अध्ययन और लेखन को अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य बना लिया। बंबई में उनका संपर्क गुजरात के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री भगवानलाल इंद्रजी से हुआ। उस समय वे प्राचीन गुजरात का इतिहास लिख रहे थे। कुछ दिनों उनके साथ काम करके उन्होंने उनकी सहायता तो की ही, साथ ही इतिहास के अध्ययन, प्रणयन, सामग्री के एकत्रीकरण, उसके शोधन तथा उपयोग संबंधी भी बहुत-सी बातें सीखीं।

ओझाजी के जीवन में महत्त्वपूर्ण मोड़ तब आया जब वे उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय और संग्रहालय के अध्यक्ष नियुक्त हुए। यह बात सन् १८९० की है। यहां वे कविराज श्यामलदास के संपर्क में आये जो उस समय अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'वीर विनोद' तैयार कर रहे थे जिसमें मेवाड़ का इतिहास लिपिबद्ध हो रहा था। यहीं रहकर उन्होंने हिंदी में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' तैयार किया। इसके प्रकाशित होते ही ओझाजी की ख्याति सारे संसार के इतिहासज्ञों और पुरातत्त्वविदों में फैल गयी क्योंकि अपने विषय का संसार में यह पहला ग्रंथ था। भारतीय पुरालेख-शास्त्र का यदि इसे नींव का पत्थर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। आज भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यहीं से उन्होंने सर ज्यार्ज ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' के लिए मेवाड़ की बोलियों पर एक निबंध लिखा। यहां उन्होंने 'सोलंकियों का इतिहास' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ तैयार किया।

जब अजमेर में भारत सरकार ने राजस्थान संग्रहालय बनाया तब उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने उन्हें उदयपुर से बुलाकर उसका अध्यक्ष नियुक्त किया। यह बात १९०८ की है। तब से सेवा के अंत तक—प्राय: तीस वर्ष—वे वहीं रहे। यहां उन्होंने कितने ही शोध-निबंध लिखे जिनसे विद्वज्जगत् में उनकी ख्याति और भी बढ़ी। अजमेर के आरंभिक जीवन

में उन्होंने सिरोही राज्य का इतिहास लिखा। किंतु उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जो 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' के साथ उनकी कीर्ति को अक्षय रखेगा वह है—राजपूताने का बृहत् इतिहास। यह दस खंडों में है। कर्नल टॉड ने राजस्थान का एक विशाल इतिहास लिखा था जिसकी बड़ी ख्याति है। इसलिए उसी विषय पर दूसरा ग्रंथ लिखना सरल न था। किंतु टॉड का ग्रंथ सौ वर्ष पहले लिखा गया था। तब से अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन हो चुका था। संस्कृत, प्राकृत और राजस्थानी के समुचित ज्ञान के अभाव में अध्यवसायी और सहानुभूतिपूर्ण होते हुए भी टॉड बहुत-सी बातें न जान सके थे। ओझाजी ने अपने विशाल पांडित्य और कठिन अध्यवसाय से राजस्थान का जो इतिहास लिखा है वह गौरव-ग्रंथ है।

ओझाजी विद्वान् तो थे ही, अनन्य हिंदीप्रेमी भी थे। उन्होंने अपनी सारी पुस्तकें हिंदी ही में लिखीं। 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का ग्रंथ था। उसे उन्होंने अंग्रेजी में न लिखकर हिंदी में लिखा। उन्हें हिंदी का इतना आग्रह था कि उन्होंने उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने की भी अनुमति नहीं दी। इसलिए, केवल उसी अमूल्य ग्रंथ को पढ़ने के लिए, कितने ही विदेशी विद्वानों को हिंदी सीखनी पड़ी। वे काशी नागरीप्रचारिणी सभा और हिंदी साहित्य-सम्मेलन के कार्यों में सदैव रुचि लेते थे और उन्होंने सभा की शोध पत्रिका का कई वर्ष संपादन किया था। उनकी हिंदी-सेवा और पांडित्य के उपलक्ष्य में सम्मेलन ने अपनी सर्वोच्च उपाधि 'साहित्य-वाचस्पति' देकर उन्हें सम्मानित किया था। काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने उन्हें 'सम्माननीय डाक्टर' की और अंग्रेज सरकार ने 'महामहोपाध्याय' और 'रायबहादुर' की उपाधियों से विभूषित किया था। वे 'सरस्वती' को बड़ी रुचि से पढ़ते थे तथा कभी-कभी इसमें लेख भी लिखा करते थे।

सारे जीवन उन्होंने एक विषय का अध्ययन कर उसमें अमूल्य ग्रंथ लिखकर हिंदी की महत्त्वपूर्ण सेवा की, उसका साहित्य समृद्ध किया तथा उसका मस्तक ऊंचा किया। उनके उदार चरित्र और महत्त्वपूर्ण कृतित्व से देश के युवकों को प्रेरणा मिलती रहे, यही उनकी जन्मशती का संदेश रहा। इस अवसर पर उनका पुण्य स्मरण करके सारा हिंदी संसार कृतकृत्य है।
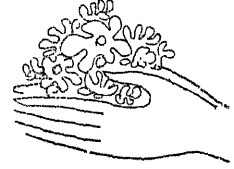
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्मशती

मई १९६४ में वैशाख शुक्ल पंचमी (१५ मई) को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के जन्म को पूरे सौ वर्ष हो गये थे। उन्होंने साहित्य का निर्माण किया; लेख लिखे, पुस्तकें लिखीं, अनुवाद किये, कविताएं लिखीं, संपादन किया। किंतु इतिहास में वे साहित्यकार के रूप में नहीं, साहित्यकार निर्माता और भाषा-परिष्कारकर्त्ता के रूप में याद किये जायेंगे। यह बात नहीं कि खड़ीबोली कविता या भाषा को वर्तमान रूप उन्होंने दिया। उनके पहले भी कुछ इने-गिने लोग, और उनके समकालीन भी कुछ लोग जो उनसे प्रभावित नहीं थे, खड़ी-बोली के उस रूप का विकास और प्रयोग कर रहे थे जिसका समर्थन और प्रचार द्विवेदीजी ने किया। किंतु द्विवेदीजी की विशेषता यह थी कि उन्होंने खड़ीबोली के उस रूप को स्थिरता दी और उसका अत्यंत सफल प्रचार किया। यदि आचार्य ने उसके प्रचार में अपने को खपा न दिया होता तो खड़ीबोली का वर्तमान व्यापक प्रसार शायद इतनी शीघ्रता से और इतनी सफलता से न हो पाता। उन्होंने इस संबंध में जो सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह था बहुसंख्यक युवकों में हिंदी की सेवा की भावना उत्पन्न करना, और उसी भावना से हिंदी में लिखने को प्रेरित करना तथा उनका मार्गदर्शन करना। उस समय हिंदी में लेखकों की कितनी कमी थी, यह बात उनके द्वारा संपादित सरस्वती के आरं-भिक अंकों को देखने से मालूम हो सकती है। कितने ही अंकों में पचहत्तर प्रति-शत से अधिक लेख आदि द्विवेदीजी के होते थे, क्योंकि लेखक मिलते नहीं थे और 'सरस्वती' का कलेवर भरना अनिवार्य था। जो थोड़े-बहुत बाहरी लेख आते भी, उनकी भाषा द्विवेदीजी की परिनिष्ठित भाषा से इतनी भिन्न होती कि बहुधा उन्हें वे लेख दुबारा लिखने पड़ते। उनके प्रोत्साहन और परिश्रम का यह फल हुआ कि जब उन्होंने 'सरस्वती' के संपादन से विश्राम लिया तब न

लेखकों की कमी रह गयी थी, और न उनकी भाषा को इतना अधिक सुधारने की। उन्होंने हिंदी में लेखकों की कमी बहुत कुछ पूरी कर दी थी और परिनिष्ठित खड़ीबोली को सारे देश में प्रतिष्ठित कर दिया था।

द्विवेदीजी बड़े गंभीर प्रकृति के पुरुष थे, किंतु वे इतने नीरस नहीं थे जितने समझे जाते हैं। गंभीर होने के कारण वे खुलकर तो बहुत ही कम हंसते थे। हिंदी के दो आचार्यों की मूंछें इतनी सघन और बड़ी थीं कि उनकी मुस्कान उनमें छिप जाती थी। इससे लोग समझते थे कि उनमें हास्यबोध बिल्कुल ही नहीं है और वे अत्यंत शुष्क हैं। दोनों ही के बारे में यह धारणा निर्मूल है। इनमें से एक तो (पं० रामचंद्र शुक्ल) हमारे व्यक्तिगत मित्र थे और हम जानते हैं कि उनका हास्यबोध कितना गहरा था। द्विवेदीजी भी निपट नीरस नहीं थे। उनकी कई कविताएं इसका प्रमाण हैं। बहुत से पाठकों को यह सुनकर शायद आश्चर्य हो कि उन्होंने 'गर्दभाष्टक' और 'वलीवर्दस्तोत्र' नामक दो हल्की कविताएं लिखी थीं। 'वलीवर्दजी मर्द गाय के गर्द उड़ानेवाले वीर' से आरंभ करके सांड़ों पर चुभता व्यंग्य किया गया था। गर्दभाष्टक का एक नमूना देखिए :

चपत हमें चंपा सम लागे, गेंदा फूल हजारा है
लात खात मुंह बात न बोलें, अटल मौन विस्तारा है।
धम, धम, धम दस पांच लगैं जब गरुई गदा प्रहारा है
चलें पैंग भरि तब हम कबहूं, अस सहनशील व्रत धारा है।

'सहनशीलता' का यह 'व्रत' हमारा राष्ट्रीय गुण है। हम हर एक अत्याचार, अन्याय सहन करने में गर्व का अनुभव करते हैं। उन्होंने इस सहनशीलता की पराकाष्ठा गधे में दिखाकर कितना चुभता व्यंग्य किया था! वाणी में तो नहीं किंतु उनकी सरसता व्यवहार में मुखर हो जाती थी। वे अपने मित्रों और परिचितों से इतनी आत्मीयता और ललक से मिलते थे कि वे आश्चर्यचकित रह जाते थे। प्रौढ़ावस्था में तो मित्रों से मिलने पर उनकी आंखों से आनंदाश्रु तक निकल आते थे। ऐसे व्यक्ति को नीरस कैसे कहा जा सकता है?

उनकी आरंभिक कविताओं में ब्रजभाषा और अवधी का पुट रहता था जैसे, 'प्रासाद जासु नभमंडल में समाने'। पं० श्रीधर पाठक की आरंभिक कविताओं में (जैसे, 'कहां जलैहै वह आगी?') भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। वह संक्रांतिकाल था, किंतु इसके बाद ज्यों-ज्यों वे खड़ीबोली के परिष्कार में सचेत और सक्रिय होते गये त्यों-त्यों उन्होंने देशज शब्दों को छोड़कर तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग करके भाषा को संस्कृतनिष्ठ रूप देना आरंभ किया। आरंभिक प्रयोग देखिए :

चाहें कुटी अति घने वन में बनावे
चाहे बिना नमक कुत्सित अन्न खावे;

चाहे कभी नर नये पट भी न पावे
सेवा प्रभो ! पर नहीं पर की करावे ।

और इसके बाद तो एकदम संस्कृतनिष्ठ भाषा पर आ गये :

सुरम्य रूपे ! रस-राशि-रंजिते
विचित्रवर्णाभरणे ! कहां गयी ?
अलौकिकानंद-विधायिनी महा
कवींद्र कांते ! कविते ! अहो ! कहां ?

यह मानो 'प्रियप्रवास' के छंदों का पूर्वादर्श हो जिसमें 'कहां गयी' और 'कहां' को छोड़कर सभी शब्द तत्सम हैं ।

तत्समों का प्रचुर प्रयोग द्विवेदीजी की विशेषता थी । संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रयोग करके उन्होंने हिंदी भाषा का वह रूप प्रचारित किया जो केवल हिंदी-प्रेमियों ही को नहीं बल्कि आगे चलकर भारत के अन्य भाषा-भाषियों को भी ग्राह्य हुआ । इस प्रकार संस्कृत तत्सम-प्रधान हिंदी पर बल देना उनके दूरदर्शी होने ही का नहीं प्रत्युत भविष्यदर्शी होने का भी प्रमाण है ।

वे अपनी भाषा में प्रसंगानुसार खुलकर अरबी-फारसी एवं अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते थे किंतु यहां भी उनकी तत्सम-प्रियता परिलक्षित होती है । उदाहरण के लिए उनके लेखों और संपादकीय टिप्पणियों में ऐसे वाक्य मिलते हैं : 'सिर्फ एक चिड़िया ऐसी कुंद-ज़ेहन निकली', 'आदमी आंखों से नहीं देखता किंतु मग्ज़ से देखता है', 'इसकी गंध तेज़ और ज़ायका बहुत ख़राब है ।' 'पंडित-जी क़ायदे के सख्त पाबंद थे ।' जिसे अख़बारनवीसी पसंद है, उसे यदि ज़बर-दस्ती लोहार का काम दे देवे', 'फिर उस तरक्की का वक्त कब आवेगा ?' 'भले-मानुसों का सुअरों से तअल्लुक़ बतलाना और भी बुरा हुआ । 'बड़ी-बड़ी दूकानों की ख़रीद-फरोख्त का काम देखती है ।' इत्यादि । इसका एक परिणाम यह हुआ कि विदेशी शब्दों के हिंदीकरण की जो प्रक्रिया (लैंटर्न का लालटैन या ग़ुलाम का गुलाम) चल गयी थी जिससे उनका रूप हिंदी की प्रकृति के अनुसार ढाला जा रहा था, वह रुक गयी ।

द्विवेदीजी ने हिंदी भाषा के व्याकरण पर बल देने तथा शब्दों के उचित उपयोग के संबंध में भी हिंदी जगत् का विवेक जागृत किया, और यह उन्हीं के सतत प्रयत्नों का फल है कि हिंदी के परिनिष्ठित रूप में इन बातों पर ध्यान दिया जाने लगा ।

आधुनिक हिंदी के उन्हीं आचार्य की जन्मशती मई १९६४ में हिंदी संसार ने मनाई थी । हमारे पास इस अवसर पर होनेवाले कितने ही उत्सवों की सूचनाएं आयी थीं । इन बहुसंख्यक प्रस्तावित आयोजनों से स्पष्ट है कि हिंदी संसार की आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व और कार्य के प्रति कितनी श्रद्धा और आस्था है ।

किंतु यह वास्तव में खेद की बात है कि सरकार और सरकार के अधिकारी इस ओर से उदासीन रहे। जो भारत सरकार स्मारक टिकट निकालने के लिए सदैव तत्पर रहती है, उसने भारत की राजभाषा के इस आचार्य की जन्मशती की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी। हिंदीभाषी राज्यों ने भी ऐतिहासिक अवसर को कोई महत्त्व नहीं दिया। और तो और, उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी केवल उदासीनता ही का परिचय दिया। जब द्विवेदी जी के घर की ही सरकार उदासीन रही तो दूसरों की क्या शिकायत की जाय? इससे स्पष्ट हो जाता है कि हमारी सरकारें जनता से कितनी दूर हैं। उनका हृदय जनता के हृदयों की धड़कन के साथ स्पंदित नहीं होता। इतिहास में हिंदी को कभी राज्याश्रय नहीं मिला, किंतु फिर भी वह बराबर उन्नति करती गयी क्योंकि उसकी जड़ें जनता में गहरी पैठी हुई हैं। वहीं से उसे जीवनदायक रस और शक्ति मिलती है। द्विवेदीजी ने प्रायः बीस करोड़ भारतवासियों की मातृभाषा और देश की भावी राजभाषा तथा उसकी गैर-सरकारी राष्ट्रभाषा की अपूर्व सेवा की, उसे उसका वर्तमान स्वरूप दिया। सरकार ने उन्हें मान्यता दी हो या नहीं, हिंदीभाषी जनता ने इस अवसर पर आचार्य द्विवेदी के प्रति अपनी हार्दिक तथा विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की है, और 'सरस्वती' जो उन्हीं की मानसपुत्री थी अपने बीस करोड़ भाई-बहिनों के साथ उनकी पवित्र स्मृति में श्रद्धा से नत रही।
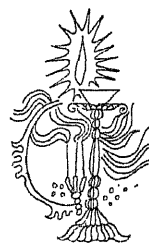
बाबू बालमुकुंद गुप्त की जन्मशती

नवम्बर १९६५ में हिंदी संसार ने हिंदी के प्रसिद्ध लेखक और पत्रकार बाबू बालमुकुंद गुप्त की जन्मशती के अवसर पर स्थान-स्थान पर उत्सव करके उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस शती के प्रथम दशक में हिंदी के प्रमुख व्यक्तियों (गोविंदनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल

गोस्वामी, श्यामसुंदरदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, अमृतलाल चक्रवर्ती, माधवप्रसाद मिश्र, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, लज्जाराम मेहता आदि) में उनकी गणना होती थी। वे हिंदी के पहले पत्रकार थे जिन्होंने राजनीतिक विषयों पर आधुनिक ढंग से लिखा। ऊंचे स्तर के राजनीतिक व्यंग्य लिखने में भी वे अग्रणी थे। उस समय लार्ड कर्जन का दबदबा था। उनके 'शिव शंभु के चिट्ठे' में (जो 'माईलार्ड' को संबोधित 'पत्र' हैं) उनके चुटीले व्यंग्य, राजनीतिक सूझबूझ और हिंदी भाषा के प्रवाह और शक्ति के दर्शन होते हैं। उन दिनों साहित्यकार 'छुईमुई' नहीं थे जो तनिक-सी आलोचना या व्यंग्य-तर्जनी से मुर्झा जायें। उनमें, द्विवेदीजी में तथा माधवप्रसाद मिश्र में कितने ही साहित्यिक विवाद हुए जिनमें जब-कभी जगन्नाथदासप्रसाद चतुर्वेदी भी हाथ बंटा लेते थे। उन विवादों का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व है। उनके टेसू के व्यंग्य हिंदी संसार में स्फूर्ति उत्पन्न कर देते थे। उनकी भाषा सरलता, ओज और प्रवाहपूर्ण हिंदी का आदर्श होती थी। हमें उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने हिंदी पत्रकारिता का मार्ग प्रशस्त किया। पं० प्रभुदयाल पाण्डे 'बंगवासी' के संपादक रह चुके थे और उन्होंने हिंदी की बड़ी सेवा की थी, किंतु हिंदी पत्रकारिता को आधुनिक युग में लाने का श्रेय गुप्तजी ही को है। खेद है कि हिंदी संसार उन्हें भूल-सा रहा है और उनकी कृतियों का पठन-पाठन अब बंद-सा हो गया है। किंतु हिंदी साहित्य और पत्रकारिता का वस्तुनिष्ठ इतिहास लिखनेवाले गुप्तजी का उचित मूल्यांकन करेंगे। आचार्य द्विवेदी की उन से काफी नोकझोंक हुई, किंतु वे गुप्तजी की योग्यता और हिंदी-निष्ठा के कायल थे। उनकी 'सरस्वती' इस अवसर पर आधुनिक हिंदी पत्रकारिता के अग्रदूत श्री बालमुकुंद गुप्त की जन्मशती पर उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित कर अपने को कृतार्थ समझती है।
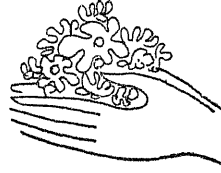
श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय की जन्मशती

मई १९७५ में नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक, हिंदी के अपूर्व उन्नायक और साहित्यकार तथा 'सरस्वती' के भूतपूर्व संपादक बाबू श्यामसुंदरदास की जन्मशती थी। यह उचित ही था कि इसका आयोजन नागरी प्रचारिणी सभा करे। उसने काशी में तो एक लघु रस्मी आयोजन किया किंतु मुख्य आयोजन दिल्ली में किया जहां राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने उसका उद्घाटन और उपराष्ट्रपति श्री जत्ती ने उसका समापन किया। अनेक केंद्रीय मंत्री भी उसमें सम्मिलित थे। बाबू साहब को इस अवसर पर अभूतपूर्व राजकीय सम्मान मिला। ऐसा मालूम होता है कि हिंदी के समारोह तब तक सफल और प्रतिष्ठित नहीं समझे जाते जब तक उनमें महत्त्वपूर्ण राजपुरुष उद्घाटनकर्ता, समापनकर्ता या अध्यक्ष के रूप में योगदान न दें। साहित्यकारों ने भी उसमें भाग लिया था। कई विचारगोष्ठियां भी आयोजित की गयी थीं। सब मिलाकर उत्सव शानदार रहा।

सितंबर १९७५ में बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय की जन्मशती थी। कलकत्ते में बंगला के साहित्यकारों और प्रेमियों ने उस जन्मशती को मनाया। उसकी अध्यक्षता बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री बालाई चन्द्र मुखोपाध्याय (वनफूल) ने की। उसमें बंगला के साहित्यकारों और बंगला साहित्यप्रेमियों ने बड़े उत्साह से भाग लिया। वह आयोजन साहित्यकारों और बंगला एवं शरत्-प्रेमियों का था। उस अवसर पर शरत् बाबू की प्रतिमा की स्थापना की गयी, उनके गृह को राष्ट्रीय संपत्ति घोषित कर स्मारक के रूप में उसकी सुरक्षा का प्रबंध किया गया, नेशनल लाइब्रेरी (राष्ट्रीय पुस्तकालय) में उनकी पुस्तकों और अनेक भाषाओं में किये गये उनके अनुवादों की भव्य प्रदर्शनी की गयी और कलकत्ता विश्वविद्यालय में शरत् बाबू के नाम पर बंगला

साहित्य की एक चेयर (पीठ) की स्थापना के लिए प्रस्ताव किया गया। शरत् बाबू के २० उपन्यास, ३ नाटक, २३ निबंध और एक बड़ा निबंध तथा ६ बचपन की कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने शताधिक साहित्यिक महत्त्व की कहानियां भी लिखीं। वे तीन अधूरे उपन्यास और दो अधूरी कहानियां छोड़ गये हैं। भारत की प्राय: सभी भाषाओं में उनके उपन्यासों के अनुवाद हो चुके हैं। हिंदी में तो अनेक प्रकाशकों ने उनके उपन्यासों के अलग-अलग संस्करण निकाले हैं। नेशनल लाइब्रेरी ने इन सबकी एक विवरणात्मक सूची तैयार कर उस समय प्रकाशित की। ये सभी आयोजन बंगला साहित्यकारों और बंगला-प्रेमियों के उत्साह और परिश्रम से बड़े भव्य रूप से संपन्न हुए और बंगला भाषियों में इस उत्सव से शरत् बाबू के कर्तृत्व के प्रति उत्साह और जिज्ञासा की एक नयी लहर दौड़ गयी। इस जयंती समारोह के कई ठोस परिणाम हुए। उनकी मूर्ति की स्थापना, उनके गृह का राष्ट्रीयकरण और कलकत्ता विश्वविद्यालय में उनके नाम पर बंगला कथा साहित्य के अध्ययन के लिए एक पीठ (चेयर) की स्थापन इस जयंती की ठोस उपलब्धियां हैं। इस अवसर पर साहित्यकारों ने शरत् बाबू पर जो भाषण दिये, अत्यंत गंभीर और विचारोत्तेजक थे। शरत् बाबू के समान साहित्यकार का उनके समानधर्मा साहित्यकारों और उनके पाठकों द्वारा ऐसा सम्मान वास्तव में बड़ा मर्मस्पर्शी, भव्य और प्रेरणाप्रद था। 'सरस्वती' भी इस महान् बंगला साहित्यकार के सम्मान में श्रद्धा से नत रही।

काश ! हिंदी के ठेकेदार भी राजपुरुषों की बैसाखी छोड़कर इस जयंती की तरह 'साहित्यिक' जयंती किया करते, और ऐसे अवसरों पर कुछ वैसे ही ठोस काम अपने ही बलबूते पर करते जैसे कि बंगला के आत्मनिर्भर साहित्यकारों ने बंगला-भाषी जनता की सहायता से शरत-जयंती में कर दिखाये !
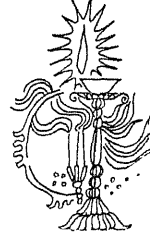
श्री विष्णु दिगम्बर पुलस्कर की जन्मशती

जुलाई १९७१ में दो महापुरुषों की जन्मशती मनायी गयी—महर्षि अरविंद की और श्री विष्णु दिगम्बर पुलस्कर की। महर्षि अरविंद के संबंध में हम एक छोटी टिप्पणी में उनके महान् व्यक्तित्व और कार्य का आभास भी नहीं दे सकते। उन पर तो किसी अधिकारी विद्वान का एक पूरा लेख ही प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे। किंतु श्री विष्णु दिगम्बर पुलस्कर के प्रति हम एक टिप्पणी में अपनी श्रद्धांजलि दे सकते हैं। पिछली शती में संगीत को दरबारों में आश्रय मिलता था और ये दरबार एक पतनशील सभ्यता के प्रतीक थे। उनमें अधिकतर अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित कलाकार थे, जो अपने-अपने घरानों की सुरक्षित शैली से चिपके रहते थे। जनता में संगीत का गायन अधिकतर पेशेवर गायिकाएं करती थीं जो सामान्यतः घोर शृंगारी और निम्नकोटि की गजलें आदि गाया करती थीं। सारांश यह कि संगीत अधिकतर ऐसे लोगों के हाथ में था जिनका समाज में आदर न था और संगीत के प्रति सिवाय विलासी रईसों और शृंगार-प्रिय जनता को छोड़कर भले आदमी उससे दूर रहते थे। यदि उनके बच्चे संगीत की ओर उन्मुख होते तो वे समझते कि वे 'बिगड़' रहे हैं, और उन्हें उसे सीखने से रोकते। संगीत का भारत में मुख्य ध्येय आध्यात्मिक था। संतों ने भक्ति और अध्यात्म के सुंदर पद रचकर उसे भगवद्-भक्ति और आध्यात्मिक साधना का अंग बनाया था। किंतु उस युग में वह इस मौलिक उद्देश्य से भ्रष्ट होकर विलासिता तथा निम्नकोटि के भावों के उद्दीपन का माध्यम हो गया था। श्री विष्णु दिगम्बर पुलस्कर को यह श्रेय है कि उन्होंने संगीत को अपने मौलिक उद्देश्य की ओर मोड़ा और सुसंस्कृत आभिजात्य वर्ग में उसको प्रतिष्ठित किया। वे सच्चे अर्थों में भारतीय संगीत के उद्धारक थे। उनका जन्म १८ अगस्त सन् १८७१ को बेलगांव जिले के कुरुंदवाड़ ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ

था। बचपन ही में एक दुर्घटना में उनकी आंखों की ज्योति क्षीण हो गयी थी, वृद्ध होते-होते वे बिल्कुल सूरदास हो गये थे। उन्होंने संगीत की शिक्षा मीरज के अपने समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ बालकृष्ण बोआ करंजीकर से प्राप्त की। उनका कंठ अत्यंत मधुर था और उनमें संगीत की नैसर्गिक प्रतिभा थी। वे शीघ्र ही अच्छे संगीतज्ञ हो गये, और संगीतज्ञ के रूप में भ्रमण करने लगे। इस भ्रमण में उन्होंने दो बातों का अनुभव किया। एक तो यह कि अशिक्षित और असंस्कारी लोग इसके प्रचारक हैं और इस कारण संगीतज्ञों का समाज में सम्मान नहीं है। दूसरी बात यह कि संगीत में विलासिता और श्रृंगारिकता की अधिकता के कारण वह अपने उद्देश्य से भ्रष्ट हो गया है। उन्होंने इन दोनों त्रुटियों को दूर करने का संकल्प किया। उन्होंने संतों के भक्तिपरक पदों का चयन कर उन्हीं का गान आरंभ किया। अपने भ्रमण में जूनागढ़ के एक संन्यासी से वे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उनसे उत्तर भारत में जाकर सद्संगीत के प्रचार का आदेश दिया। अतएव वे लाहौर पहुंचे और उन्होंने वहां गंधर्व महाविद्यालय की स्थापना की। उन दिनों का लाहौर इसके लिए अत्यंत अनुपयुक्त था और कुछ दिनों तक उनके विद्यालय में किसी भले घर का एक भी लड़का नहीं आया। किंतु वे निराश नहीं हुए। उनके संगीत से अंत में लोग मुग्ध हुए और एक वर्ष ही में उसमें छात्रों की संख्या सौ से ऊपर हो गयी। उनमें हिंदू, सिख, मुसलमान सभी थे। वे सबको सबसे पहले 'गाइए गणपति जगवन्दन' नामक तुलसीदास का भजन सिखाते थे। लाहौर में सफलता प्राप्त करने के कई वर्ष बाद वे बंबई गये और वहां भी उन्होंने गंधर्व महाविद्यालय की स्थापना की। संगीत शिक्षा की पुस्तकें तैयार कीं, उनकी स्वरलिपि तैयार की और उन्हें छापने के लिए एक छापाखाना भी खोला। उनका व्यक्तित्व इतना आकर्षक और प्रभावशाली था कि उनके शिष्य उनके परम भक्त हो गये। उन्होंने उन्हें चुन-चुनकर भारत के प्रमुख नगरों में संगीत के केंद्र खोलने को भेजा। हमें याद है कि उन्हीं में से श्री कुशालकर प्रयाग में आकर बस गये थे और वहां उन्होंने संगीत का प्रचार किया। उनके शिष्यों में ऐसे प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे जैसे स्व० ओंकारनाथ ठाकुर, विनायकराव पटवर्धन, नारायण राव व्यास, वामनराव पाध्ये आदि। इन्होंने पुलस्करजी के संगीत के परिष्करण और प्रचार के अभियान को भारत के कोने-कोने में पहुंचा दिया। आज इस देश में संगीत की जो प्रतिष्ठा है और उसमें जो उदात्त भावना का तत्त्व है, उसका श्रेय पुलस्करजी को है। शायद उनकी सबसे बड़ी देन 'रघुपति राघव राजाराम' की रामधुन है जिसे कुछ परिवर्तन के साथ महात्मा गांधी ने भी अपना लिया था। अगस्त, १९३१ में वे ब्रह्मलीन हुए।

मुझे उनके दर्शनों का कई बार सौभाग्य मिला। उनके अंतिम दर्शन उस

संगीत सभा में हुए जो प्रयाग के मुंशी रामप्रसाद के मंदिर में हुई थी। तब वे एकदम प्रज्ञाचक्षु हो गये थे। उनका भव्य गौर वर्ण शरीर, ऋषियों की तरह लंबी दाढ़ी और एड़ी तक लटकती कफनी को देखकर तथा उनके मुख की आध्यात्मिक और सात्विक ज्योति के कारण उनके प्रति सहसा श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हो जाती थी। हमारे कानों में उनके गाये पद 'भज मन रामचरण सुख-दायी, की अनुगूंज आज भी सुनाई देती है। श्रोतागण के नेत्रों से उसे सुनकर आनंद और श्रद्धा के अविरल आंसू बह रहे थे। वैसा संगीत न उसके पहले, और न उसके बाद हमें सुनने का अवसर मिला। वे मूर्तिमान भक्त और संगीतज्ञ थे। उनकी जन्मशती पर हम उनकी स्मृति में विनम्रता और श्रद्धा से नत रहे।
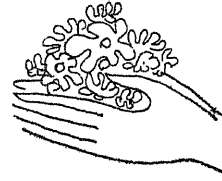
बादशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' की मृत्युशती

चीन के आक्रमण के संकट के कारण देश इस बात की ओर ठीक तरह से ध्यान न दे सका कि ७ नवंबर १९६२ को अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह की मृत्यु को पूरे सौ वर्ष हो गये थे। दिल्ली की बादशाहत पिछली शती के मध्य में निर्जीव और निस्तेज हो गयी थी। वह अपने पूर्व गौरव की प्रतिछाया, या यों कहें कि प्रेतछाया मात्र, रह गयी थी। किंतु देश में दिल्ली के बादशाह का सम्मान था, और जनता के लिए वह भारत की स्वतंत्र सत्ता का प्रतीक था। इसीलिए जब १८५७ में प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम हुआ और देश के विभिन्न तत्त्वों को एक झंडे के नीचे लाने की बात पर विचार होने लगा तो हिंदुओं और मुसल-मानों ने एक मत से बादशाह बहादुरशाह को अपना नेता बनाया। किंतु उस समय तक रोग असाध्य हो चुका था। अंग्रेजों की अनुशासित सेना, कुशल सैनिक नेतृत्व और अधिक उन्नत हथियारों के सामने प्रायः नेता-विहीन सिपाही नहीं ठहर सके। इस असफलता का मूल्य देश ने रक्त के द्वारा चुकाया, और बादशाह बहादुरशाह को भी पूरा मूल्य चुकाना पड़ा। उनके राजकुमारों को फांसी दे दी

गयी और वे स्वयं देश-निष्कासित कर दिये गये। उन्हें रंगून में नजरबंद रखा गया, जहां ७ नवंबर, १८६२ को उनकी मृत्यु हुई। इतिहास के मंच पर बहादुर-शाह एक अत्यंत दयनीय पात्र हैं। उनका अधिकांश समय धार्मिक कार्यों और साहित्य-चर्चा में जाता था। बादशाह स्वयं कवि थे। उनका उपनाम (तखल्लुस) 'ज़फ़र' था। नियति का यह कटु व्यंग्य था कि उसने उन्हें अपना उपनाम 'ज़फ़र' (विजयी) रखने की प्रेरणा दी। प्रसिद्ध उर्दू कवि 'ज़ौक' उनके काव्य-गुरु थे। ग़ालिब उनके समकालीन थे। उस समय की ह्रासोन्मुखी मुगल संस्कृति शेर-ओ-शायरी की बारीकियों में डूबी हुई थी। किंतु उर्दू शायरी ने उस समय बड़ी उन्नति की। बादशाह स्वयं अच्छी कविता कर लेते थे। १८५८ में जब अंग्रेजों ने दिल्ली पर अधिकार करके जनता की हत्याएं कीं, शाहजादों को फांसी लगा दी, नगर को प्रायः उजाड़ दिया, तब बादशाह बहादुरशाह ने जो गजल लिखी, वह आज भी ऐतिहासिक महत्त्व की है। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं :

यकायक हो गया हर सिम्त शोरे आसमां कैसा !
य शोला आहे सोज़ा का है कैसा, यह धुआं कैसा ?

गयी यकबयक क्या हवा पलट
कि न दिल को अपने क़रार है,
करूँ ग़म सितम का मैं क्या बयां,
मेरा सीना ग़म से फ़िग़ार है।
यह रियाया हिंद हुई तबाह,
कहो क्या न उस्पै हुई जफ़ा ?
जिसे देख साहबे-वक्त ने
कहा—यह तो क़ाबिले-दार है।
कहीं ऐसा भी है सितम सुना
कि दी फांसी लाखों को बेगुनाह ?
वले कल्मगोयों की तरफ़ से
अभी दिल में उनके ग़ुबार है।
न दबाया ज़ेरे-चमन उन्हें,
न दी ग़ोर और कफ़न उन्हें,
किया किसने ज़ेर दफ़न उन्हें,
ये ठिकाना उनका मजार है।
शबो-रोज फूलों में जो तुले
कहो ख़ार-ग़म से वह अब घुले,
उन्हें तौक़ क़ैद में जो मिले
कहा बदले गुल के ये हार है !

था शहर देहली जो इक चमन,
वले सब तरह का था यां अमन,
जो खिताब था उस्का मिट गया
फ़कत अब तो उजड़ा दयार है।
या बवाले तन पर है सर मेरा
नहीं जान जाने का डर जरा,
जो ग़म से निकले दम खुदा,
हमें अपनी ज़िंदगी वार है।

उस विभीषिका में निराशा और निरुत्साह ने उनको इतना दबा लिया था कि उन्होंने यहां तक कह दिया था :

दमदमों में दम नहीं है, खैर मांगो जान की
'ज़फ़र' अब ठंडी हुई है तेग़ हिंदुस्तान की !

किंतु यह निराशा का उच्छ्वास था। मुगल सल्तनत भले ही समाप्त हो गयी हो, भारत की अजेय आत्मा कभी पराजित नहीं हुई। वह फिर जाग्रत हुई, और आज वह फिर स्वाधीन है। दिल्ली के लाल किले पर फिर भारत का तिरंगा फहरा रहा है, और आज हमारी तलवार एक दुर्धर्ष शत्रु से देश की रक्षा करने में लगी है। प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम में बहादुरशाह ने जो भाग लिया और उसके लिए जो कष्ट उन्हें उठाने पड़े, उनके लिए हम आज आदर से उनकी यात्रा करते हैं। अपने साहित्य-प्रेम और आपकी काव्य-प्रतिभा के लिए भी वे साहित्य-के इतिहास में बराबर याद किये जायेंगे। उनके कितने ही शेर बड़े चुटीले हैं। यथा :

'ज़फ़र' आदमी उसको न जानियेगा
हो वो कैसा ही साहबे-वक़्त ज़बका
जिसे ऐश में यादे-खुदा न रही,
जिसे तैश में ख़ौफ़-खुदा न रहा !

बादशाह बहादुरशाह का इतिहास में चाहे स्थान न हो, कवि ज़फ़र का साहित्य में स्थान सुरक्षित है।
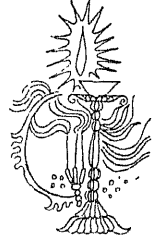
इटालियन महाकवि दान्ते की ७००वीं जयंती

संसार के महान् कवियों में दान्ते की गणना होती है। उसका जन्म सन् १२६५ ई० के मई मास में इटली के फ्लोरेंस नामक नगर में हुआ था। दान्ते की ७००वीं जन्मशती सन् १९६५ में बड़ी धूमधाम से मनायी गयी थी।

दान्ते का पूरा नाम था दुरान्ते एलीगेरिओ। 'एलिगेरिओ' उसके परिवार का तथा 'दुरान्ते' उसका व्यक्तिगत नाम था। माता-पिता स्नेहवश 'दुरान्ते' को 'दान्ते' कहा करते थे। यह प्यार का संक्षिप्त नाम उसे ऐसा चिपका कि वह इसी नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है।

दान्ते जिस समय पैदा हुआ उस समम योरोप का दीर्घ 'मध्य युग' समाप्त हो रहा था। सांस्कृतिक पुनर्जागरण (रिनेसां) आरंभ नहीं हुआ था किंतु क्षितिज के छोर पर उसकी उषा के शीघ्र प्रकट होने के लक्षण दिखायी दे रहे थे। मध्य-युग धर्म-प्रधान युग था। दान्ते पर भी धर्म का पूरा प्रभाव था। उस युग में योरोप के शिक्षित लोगों की भाषा लैटिन थी। प्राय: सभी कवि, विद्वान् और लेखक अपनी कृतियां लैटिन ही में लिखते थे। स्वयं दान्ते ने कई पुस्तकें लैटिन में लिखीं। किंतु उसने अपना सर्वोत्तम और सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य इटली के टस्कन प्रांत की भाषा में लिखा जो आगे चलकर सारी इटली की राष्ट्रभाषा हो गयी। उसने उस भाषा में इतने बड़े और शक्तिशाली महाकाव्य को लिखकर उस भाषा की शक्ति और संभावनाओं को प्रत्यक्ष कर दिया। इटाली भाषा में लिखे जाने के कारण उसका काव्य केवल कुछ विद्वानों तक सीमित न रहकर महलों के अर्द्ध-शिक्षित सरदारों से लेकर साधारण जनता तक को सुलभ हो गया। जनभाषा को समादृत करके दान्ते ने इटालियन भाषा का, और इटालियन जनता का अपार उपकार किया।

दान्ते को उस समय की अच्छी शिक्षा मिली थी। वह कलाकार था, योद्धा

था और राजनीतिज्ञ था। उस समय इटली छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। उसका नगर फ्लोरेंस स्वतंत्र राज्य था। उसमें दो दल थे और उन दोनों दलों में बराबर संघर्ष हुआ करता था जो कभी-कभी युद्ध का रूप भी ले लेता था। दान्ते एक ऐसे युद्ध में वीरता से लड़ा भी था। एक बार वह राज्य की शासन परिषद् का (जिसमें छः सदस्य होते थे) सदस्य भी हो गया था। किंतु वह वर्षों के सतत संघर्ष से इतना ऊब गया था कि उसने नगर में शांति बनाये रखने के लिए उन सभी लोगों को नगर से निष्कासित कर दिया जो झगड़े की जड़ थे। किंतु इसके बाद ही रोम का तत्कालीन पोप बोनिफेस अष्टम उसकी स्पष्टवादिता से अप्रसन्न हो गया और उस समय फ्लोरेंस में जिस दल की सत्ता थी उसने पोप के इशारे से उस पर गबन का झूठा आरोप लगा कर उसका नगर-प्रवेश वर्जित कर दिया। वह जब इस आरोप को गलत प्रमाणित करने के लिए फ्लोरेंस जाने लगा तो उसे यह चेतावनी दे दी गयी कि यदि वह नगर में घुसेगा तो पकड़ कर जीवित जला दिया जायेगा। मध्ययुगीन योरोप में इस प्रकार के मृत्यु-दंड का काफी प्रचलन था।

और अब असहाय दान्ते अक्षरशः दर-दर का भिखारी हो गया। वह उद्देश्य-हीन होकर एक जगह से दूसरी जगह घूमने लगा। इस प्रकार उसने सारी इटली का चक्कर लगा लिया। जिन लोगों के यहां भूखा-प्यासा वह रात भर ठहरने की आज्ञा मांगता उनमें से कितने ही उसे दुतकार देते। कभी कोई अमीर उसे कुछ टुकड़े दे देता, कभी किसी गरीब किसान के यहां आश्रय मिल जाता। इस बीच उसने कुछ दूसरे अपने ही समान असंतुष्ट लोगों से मिल कर फ्लोरेंस में बलात् प्रवेश करने का प्रयत्न किया, किंतु वह असफल रहा। वह बार-बार फ्लोरेंस के अधिकारियों से अपने ऊपर गबन का मुकद्दमा चलाने को कहता जिससे वह अपने को निर्दोष प्रमाणित कर सके। वे इसके लिए तैयार न थे। किंतु १५ वर्ष के निष्कासन के बाद, जब वह कवि के रूप में प्रसिद्ध हो गया तब उसकी मुकद्दमा चलाने की मांग पर उन्होंने कहा कि यदि तुम क्षमा-प्रार्थना करो तो हम तुम्हें क्षमा कर देंगे। उसने इसे अपना अपमान समझा। "मैं अपने को अपराधी स्वीकार कर लूं और जिन लोगों ने पंद्रह वर्ष तक मुझ पर अत्याचार किया है उनसे क्षमा मांगूं! निरपराध व्यक्ति पर इतना अत्याचार करने के बाद उससे क्षमा मांगने को कहना उसका और अधिक अपमान करना है। इस शर्त पर मैं स्वदेश लौटने को तैयार नहीं हूं!" स्वाभिमानी दान्ते ने अपने प्रिय फ्लोरेंस में लौटने के लिए, जिसके लिए उसकी आत्मा बुरी तरह से छटपटा रही थी, इस अपमानजनक शर्त को अस्वीकार कर दिया।

इस बीच कवि के रूप में उसकी प्रसिद्धि सारे देश में फैलने लगी, किंतु जो लोग उससे मिलते उन्हें बड़ी निराशा होती। इसका कारण यह था कि पंद्रह-बीस

वर्ष लगातार दरिद्रता का भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते, लोगों से अपमान और उपेक्षा सहते-सहते उसका स्वभाव कर्कश हो गया था और वह अपने को सुसंस्कृत समाज के उपयुक्त नहीं बना पाता था। उसकी सूरत-शक्ल भी अनाकर्षक हो गयी थी। इतने दिनों समाज से उपेक्षित और एकाकी रहने के कारण वह अंतर्मुखी हो गया था। जब उसका महाकाव्य (डिवाइन कामेडी) समाप्त हो गया तब उसकी जिजीविषा समाप्त हो गयी। उस समय वह रैवेना नामक नगर में था। वहीं उसकी मृत्यु हुई और वहीं उसका शरीर दफनाया गया।

किसी कवि द्वारा दीर्घकाल तक इतने कष्ट, इतनी दरिद्रता, इतने अपमान और इतने एकाकीपन को भुगतने का दूसरा उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है। इतना होने पर भी हम दान्ते की जिजीविषा को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। किंतु उसके मूल में इतिहास की एक अनखी प्रेम-कहानी है। जब दान्ते केवल नौ वर्ष का था तब उसकी भेंट अपने ही वय की एक लड़की से हुई। उसका नाम बिएट्रिस था और वह फ्लोरेंस के एक धनी की पुत्री थी। उसे देखते ही वह मुग्ध हो गया। उसे ऐसा मालूम हुआ कि स्वर्ग की कोई अप्सरा सामने खड़ी है। तब से उसका मूक प्रेम आरंभ हुआ और वह प्रेम इतना गहरा था कि सारे जीवन वह उससे अनुप्राणित होता रहा। केवल एक बार ही और, वह भी इस घटना के कई वर्ष बाद, उसने बिएट्रिस को देखा, वह फ्लोरेंस की नदी के पुल पर खड़ा था। बिएट्रिस कहीं जा रही थी। दान्ते के शब्दों में "उसने अपनी निगाह उस स्थान की ओर मोड़ी जहां मैं सकुचाया हुआ खड़ा था और वह बड़ी कृपा करके मुझे देखकर मुसकुरा दी।" इसके बाद दान्ते ने बिएट्रिस को फिर कभी नहीं देखा। सोलह वर्ष की अवस्था में एक धनी युवक से उसका विवाह हो गया और पचीस की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी। किंतु दान्ते के हृदय में उसने जो अनुराग उत्पन्न किया था वह सारे जीवन अमर बना रहा, और वही उसको जीवित रहने की प्रेरणा देता रहा। उसने निश्चय किया कि मैं उस पर एक काव्य लिखूंगा—ऐसा काव्य जो कभी किसी स्त्री पर नहीं लिखा गया। मैं बिएट्रिस के प्रति अपने पार्थिव प्रेम को सात्विक प्रेम का ऐसा रूप दूंगा जो मानव को युगों तक तृप्ति और संतोष दे सके!

कवि के इस संकल्प का परिणाम उसका महाकाव्य 'डिवाइन कॉमेडी' है। मध्य युग के धार्मिक विचारकों का कहना था कि मनुष्य का जीवन एक नाटक की तरह है। वह नाटक युक्तिसंगत और तर्कपूर्ण है। इसमें पुण्य और पाप दोनों का फल मिलता है। किंतु वह फल मृत्यु के बाद मिलता है। दान्ते ने अपने समय के अराजक सामाजिक और राजनीतिक जीवन में बड़े-बड़े अन्याय और अत्याचार देखे थे। बड़े-बड़े सफल और शक्तिशाली पापियों को देखा था। वह सोचा करता था कि मृत्यु के बाद उन्हें कौन-सा दंड मिलना चाहिए। 'डिवाइन

कॉमेडी' में उसने अपने इन्हीं विचारों को रूप दिया है। उसकी कथा का आरंभ दान्ते के इस कथन से आरंभ होता है कि एक दिन मैं एक घने जंगल में भटक गया। वहां एक तेंदुए, एक शेर और एक भेड़िये से मेरी मुठभेड़ हो गयी। (ये पशु काम, तृष्णा और लोभ के प्रतीक हैं।) जैसे ही वे मुझ पर झपटनेवाले थे कि सहसा एक प्राचीन प्रसिद्ध कवि वर्जिल ने आकर मेरी रक्षा की। (वर्जिल विवेकशील बुद्धि का प्रतीक है।) वह मुझे लेकर पर्वत पर चढ़ गया और फिर मुझे नरक दिखाने ले चला।

इस प्रकार यह महाकाव्य आरंभ होता है। कुल दस दिन की यात्रा में कथा समाप्त हो जाती है। पहले वर्जिल उसे नरक की सैर कराता है। उसके दो भाग हैं: एक शुद्धि स्थान, जिसमें हृदय से भले किंतु कमजोरी के कारण पाप करने वालों को 'शुद्ध' किया जाता है। इसके तीन भाग हैं: पहले में सामान्य पाप करने वाले हैं, दूसरे में धोखा देने वाले लोग हैं; और तीसरे में हत्यारे और नृशंस और विश्वासघाती व्यक्ति हैं। पहले पापियों को जलती हुई रेत में डालकर और अंगारों से जलाकर उनकी वासनाओं को भस्म किया जाता है। दूसरे में धोखेबाजों को मलमूत्र के विशाल चहबच्चे में कोड़े मार-मार कर धकेला जाता है क्योंकि जब वे जीवित थे तब इसी प्रकार की अनैतिक गंदगी में वे सने रहते थे। पृथ्वी पर इन हृदयहीन लोगों ने दूसरों के दुःखों की परवाह न करके अपना स्वार्थ-साधन किया था। यहां उन्हें तरह-तरह की भयंकर शारीरिक यातनाएं दी जाती हैं। नरक के तीसरे खंड में बर्फ का समुद्र है। इसमें बर्फ के समान कठोर हृदयहीन के हत्यारे और विश्वासघाती बर्फ में आधे गाड़ दिये जाते हैं। यहां इतनी भयंकर सर्दी है कि इन पापियों के आंसू भी जम जाते हैं। वे अनंतकाल तक इस यातना को भोगते रहेंगे। इस प्रकार नरक के तीन खंड हैं: अग्नि से जलता हुआ, गंदगी से परिपूर्ण और बर्फ का भयंकर समुद्र। ये क्रमशः वासना, धोखे और निर्दयता के पापों के लिए हैं।

इसके बाद वर्जिल उसे एक दूसरे लोक में ले जाता है। यह अल्प पापियों का शोधन स्थान (पर्गेटरी) है। नरक के प्रथम खंड के पापियों की वासनाएं जब भस्मसात् हो जाती हैं तब वे स्वर्ग में जाने की तैयारी करने के लिए यहां भेज दिये जाते हैं। यहां से स्वर्ग की कठिन चढ़ाई आरंभ होती है। इस पर वही चढ़ सकता है जिसमें अपने पापों पर परिताप हो और जिसमें प्रेम हो। इस पर्वत पर चढ़ जाने के बाद स्वर्ग का सिंहद्वार मिलता है। यहां वर्जिल (बुद्धि) उसे बिएट्रिस (दिव्य प्रेम) को सुपुर्द करके लौट जाता है और फिर दान्ते के जीवन की दिव्य ज्योति, बिएट्रिस, उसे एक के बाद दूसरे—इस प्रकार नौ स्वर्गों की सैर कराती है, और अंत में वह उसे सर्वोच्च स्वर्ग में ले जाती है। जहां आत्मा को परमात्मा के सान्निध्य का बोध होता है, वहां केवल ज्योति, सौंदर्य और प्रेम है।

इस शक्तिशाली प्रतीक-काव्य में प्रभावशाली वर्णन और हृदयग्राही सुंदरता-पूर्ण अंश भरे पड़े हैं। कल्पना की उड़ान, सजीव वर्णन और मनुष्य के हृदय की भावनाओं को स्पर्श करने वाले स्थल इस महाकाव्य की विशेषता हैं। मूलतः यह प्रतीक-काव्य है। बिएट्रिस का दिव्य प्रेम उसके जीवन का संबल, और उस का चरम लक्ष्य है। वही इसकी प्रेरणा का स्रोत है। किंतु इस प्रतीक महाकाव्य में वह धर्म और प्रेम का प्रतीक है।

नरक में उसने अपने समय के सभी प्रसिद्ध व्यक्तियों को अपने कारनामों के अनुसार दंड पाते हुए दिखलाया है। उसकी न्याय-बुद्धि इतनी उच्च थी कि उसने अपने घनिष्ठ मित्रों को भी नहीं छोड़ा। उसने अनेक अन्यायों और पापों के अनुरूप ही उन्हें नरक में समुचित दंड पाते हुए दिखलाया है। पोप बोनिफेस ने (जो तब तक मर चुका था) उसे जीवित जलवा देने की धमकी दिलायी थी। दान्ते ने उसे नरकाग्नि के उस भाग में जलते हुए दिखलाया है जिसमें धार्मिक मामलों में भ्रष्टाचार करनेवाले दंड भोगने को रखे जाते हैं। इन वर्णनों में इटली और योरोप के तत्कालीन और कुछ पुराने प्रसिद्ध व्यक्तियों के कारनामों का विवरण दिया गया है जिससे उस समय की नैतिक अवस्था का और प्रसिद्ध लोगों के वास्तविक कारनामों का अच्छा पता लगता है।

यों तो दान्ते ने अनेक पुस्तकें लिखीं किंतु इनमें तीन महत्त्वपूर्ण हैं—'न्यू लाइफ़' 'बैंक्वेट' और 'डिवाइन कॉमेडी'। पहली दो लैटिन में हैं। ये तीनों पुस्तकें उसके जीवन के तीन खंडों के प्रतीक हैं। पहले में वह अपने को बिएट्रिस के योग्य बनाने के लिए अध्ययन में रत रहता था। कविता और अध्ययन ही उन दिनों उसके मुख्य काम थे। जीवन के दूसरे खंड में उसने ज्ञान और बुद्धि से अपने जीवन को शांति देने का प्रयत्न किया। किंतु उसे शांति न मिली, और अंत में वह ईश्वर की शरण में आया। उसने श्रद्धा, प्रेम और धर्म का आश्रय लिया। 'डिवाइन कॉमेडी' उसके इसी अंतिम जीवन का प्रतीक है।

दान्ते की मृत्यु के बाद फ्लोरेंस ने इस निष्कासित नागरिक की प्रतिभा और महानता को समझा। उसने रैवेना वालों से उसका शव मांगा जिससे वह उसकी समाधि बना कर अपना गौरव बढ़ा सके। किंतु रैवेना वालों ने उसे शव देने अस्वी-कार कर दिया। तब से दोनों नगरों में दान्ते के शव को लेकर बराबर विवाद होता रहता है। रैवेना में दान्ते की समाधि मानो उस पर किये गये फ्लोरेंस के अन्याय और अत्याचार का मूर्त और अमर स्मारक है।

बहुत से साहित्यकार और कवि अपने 'संघर्षों', 'खून पसीना करने', 'कष्ट सहने' का बखान किया करते हैं। वे जीवन की सामान्य असुविधाओं, निराशाओं, असफलताओं और विषमताओं को, जो कमोबेश सभी नागरिकों को सहनी पड़ती हैं, लोगों की सहानुभूति और प्रशंसा प्राप्त करने के लिए बढ़ा-चढ़ाकर कहा

करते हैं। दान्ते का दीर्घ जीवन दर-दर मारे फिरते, बहुधा भूख की याचना सहते, परिवार के स्निग्ध स्नेह से वंचित, घोर दारिद्रय, कष्ट, अभाव, उपेक्षा और अपमान में बीता। किंतु उन सबने उसके काव्य की प्रतिभा और उसके हृदय के न्याय-बोध, उदारता, स्वाभिमान और सहानुभूति को विकृत नहीं किया। जो साहित्यकार छोटी-छोटी असुविधाओं और कुंठाओं से घबड़ा जाते हैं तथा अपने को परम अभागा समझ कर स्वयं अपने पर करुणा दिखलाने लगते हैं उन्हें दान्ते के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए।

दान्ते की ७००वीं जयंती के अवसर पर संसार के अन्य असंख्य साहित्य-प्रेमियों के साथ हम भी 'जरा-मरण के भय से मुक्त दिव्य काव्य के गायक, इस महाकवि का स्मरण श्रद्धानत होकर करते हैं।
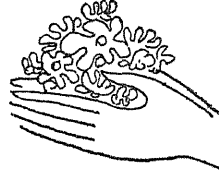
शेक्सपियर की चतुर्थ जन्मशती

अप्रैल १९६४ में इंग्लैंड के प्रसिद्ध कवि और नाटककार, विलियम शेक्सपियर की चौथी जन्मशती मनायी गयी थी। शेक्सपियर का जन्म एवन नामक एक क्षीणकाय नदी के किनारे बसी स्ट्रेटफोर्ड नामक छोटी-सी बस्ती में हुआ था। ईसाइयों में जन्म के तीसरे या चौथे दिन बच्चे को बप्तिस्मा दिया जाता है और जिस गिरजे में यह संस्कार किया जाता है, उसकी बही में इसको लिख भी लिया जाता है। उन दिनों इंग्लैंड के राजकाज और गिरजों में लैटिन का बोलवाला था। स्ट्रेटफोर्ड के गिरजे की जिस बही में लैटिन में उसके बप्तिस्मा का संस्कार अभिलिखित किया गया है, वह बही आज भी मौजूद है। उसमें लैटिन में लिखा है कि Gulielmus filivous Johannes Shakspere (विलियम पुत्र जॉन शेक्सपियर) को २६ अप्रैल १५६४ को बप्तिस्मा दिया गया। जिस घर में उसका जन्म हुआ था वह इंग्लैंड की देशभक्ति, भाषाभक्ति और इतिहास एवं कलाप्रियता के कारण आज भी प्रायः मूल रूप में सुरक्षित है। वहां के होली

ट्रिनिटी नामक गिरजे के कब्रिस्तान में उसकी पत्थर की सादी समाधि दर्शकों का प्रमुख आकर्षण है। उसकी जन्मशती के उपलक्ष्य में १९६४ को इंग्लैंड के लोगों ने 'शेक्सपियर वर्ष' की संज्ञा दी है और यह जन्मोत्सव आठ महीने मनाया जायेगा। समारोह का केंद्र स्ट्रेटफोर्ड है। जन्म-दिवस पर स्ट्रेटफोर्ड में संसार के प्राय: १०० राष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इंग्लैंड के कितने ही प्रमुख साहित्यकार, नाटककार, अभिनेता तथा नेता पहुंचे और महारानी एलिजाबेथ के पति प्रिंस फिलिप के नेतृत्व में समारोह का आरंभ हुआ। प्रातःकाल एकत्र अतिथियों का एक जलूस स्ट्रेटफोर्ड की सड़कों पर निकला जिसके आगे सैनिक बैंड था। इन अतिथियों ने शोभायात्रा के बाद शेक्सपियर के जन्मस्थान और समाधि के दर्शन किये और उस पर पुष्पांजलि अर्पित की। शेक्सपियर के नाटकों का अभिनय किया गया तथा और कितने ही साहित्यिक और सार्वजनिक उत्सव किये गये।

उस वर्ष अनुमानतः बीस लाख यात्री बाहर से स्ट्रेटफोर्ड आये थे। इंग्लैंड की सरकार और यातायात कंपनियां इस समारोह का धुआंधार प्रचार कर रही थीं। केवल ब्रिटिश ट्रेवल एसोसिएशन ने इसके प्रचार में एक करोड़ से अधिक रुपया व्यय किया था। यदि प्रत्येक यात्री अपने एक सप्ताह के प्रवास में इंग्लैंड में औसत से पांच सौ रुपया भी व्यय करे तो शेक्सपियर की कृपा से इंग्लैंड को एक अरब रुपयों की अप्रत्यक्ष आय हो जायेगी। इंग्लैंड में सैलानियों के लिए एक सप्ताह में पांच सौ रुपयों का व्यय अधिक नहीं समझा जा सकता। फिर, जो लोग ऐसे अवसरों पर जाते हैं वे वहां से स्मृति-चिह्न भी लाते हैं। अंग्रेज सबसे पहले बनिया है और उसकी बुद्धि व्यापार में बड़ी तीक्ष्ण है। स्ट्रेटफोर्ड ही में शेक्सपियर की भिन्न आकार की आवक्ष प्रतिमाएं, शेक्सपियर-चित्रित अनेक आकर्षक सामान (जैसे केटली, प्याले, चम्मच आदि), नाना प्रकार के चित्र आदि इतने सुंदर तैयार किये गये थे कि यात्री इनमें से कुछ न कुछ खरीदे बिना नहीं लौट सके। एक कंपनी ने शेक्सपियर के सारे नाटकों के अभिनय के वार्तालाप प्रसिद्ध अभिनेताओं के मुखों से ग्रामोफोन रेकार्डों और टेप में भर दिये हैं जिन्हें बजाकर शेक्सपियर के नाटक सुने जा सकते हैं। यह शेक्सपियर के नाटकों का बोलता हुआ पुस्तकालय है। इसका मूल्य प्राय: साढ़े तीन हजार रुपये है और इसकी काफी मांग है। इसके अतिरिक्त लंदन, स्ट्रेटफोर्ड आदि में अनेक छोटे-बड़े, प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध नाकटगृहों में शेक्सपियर के विभिन्न नाटकों के अभिनय किये गये। इनमें से कई में इंग्लैंड के प्रसिद्ध अभिनेता और अभिनेत्रियां भाग ले रही थीं। पश्चिम में नाटक देखने का काफी शौक है। इसलिए ये नाटक भी सैलानियों के लिए बहुत बड़े आकर्षण रहे। इंग्लैंड की सरकार ने इस राष्ट्रीय साहित्यिक उत्सव को सफल बनाने में पूरा-पूरा सह-

योग और सहायता दी थी । इंग्लैंड में वह सारा वर्ष शेक्सपियर को समर्पित कर दिया गया था । देश के सारे विश्वविद्यालय विशेष आयोजन कर रहे थे और शेक्सपियर पर असंख्य पुस्तकें निकली थीं । जीवित राष्ट्र अपने अमर साहित्यिकों का किस प्रकार सम्मान करता है, यह एक वर्ष लंबा उत्सव इसका जीवित उदाहरण था ।

कहा जाता है कि कलकत्ते में ब्रिटिश इन्फार्मेशन सर्विस के श्री बैक्सटर ने एक सभा में बड़ी प्रसन्नता और गर्व से कहा था कि "इंग्लैंड को छोड़कर संसार के किसी देश में शेक्सपियर की चतुर्थ जन्मशती का उत्सव इतने बड़े पैमाने पर नहीं मनाया गया जितने बड़े पैमाने पर कलकत्ते में । समाचार-पत्रों में यह पढ़ने में आया कि कलकत्ते के 'मेयर ने' (हम उन्हें 'नगर-प्रमुख' या 'महापौर' कह कर उनका अपमान न करेंगे) सुझाव दिया है कि कलकत्ते की पुरानी 'थियेटर रोड' का नाम बदल कर 'शेक्सपियर सरणी' रख दिया जाय । सुना है कि भारत सरकार शेक्शपियर के सम्मान में स्मारक टिकट भी प्रसारित करने जा रही है । भारत सरकार ने इंग्लैंड में शेक्सपियर समारोह के लिए एक बड़ी धनराशि भी भेजी है । दिल्ली में यह उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया । अधिकांश विश्वविद्यालयों ने भी इस उत्सव को किसी न किसी रूप में मनाया । साहित्यिक भी पीछे नहीं रहे । लखनऊ में साहित्यिकों ने भी उत्सव किया जिसकी अध्यक्षता एक प्रमुख हिंदी लेखक ने की ।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि शेक्सपियर संसार के अन्यतम कलाकारों में थे, और उनकी चतुर्थ जन्मशती पर उनका सम्मान करना प्रत्येक साहित्यिक का कर्त्तव्य था । किंतु संसार में और भी साहित्यकार—शेक्सपियर के समकक्ष—हुए हैं । उदाहरण के लिए इटली के दान्ते या जर्मनी के गेटे को ही ले लीजिए । हमारे ही देश में कालिदास हुए हैं । किंतु इस देश में किसी साहित्यकार के जन्मोत्सव में लोगों को इतना विह्वल होते नहीं देखा गया जितना शेक्सपियर के जन्मोत्सव में । भारत ही नहीं, अमरीका, रूस, जर्मन, आस्ट्रिया, कनाडा आदि कितने ही देशों में यह उत्सव मनाया गया । संसारव्यापी इस उत्सव का कारण यह है कि अंग्रेजी संसार के दो महान् शक्तिशाली राष्ट्रों—अमरीका और इंग्लैंड की भाषा है जिनका प्रभाव सारे संसार पर है । इंग्लैंड अपने समय का संसार का सबसे बड़ा साम्राज्य था । अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिणी अमरीका आज स्वतंत्र देश हैं । किंतु आरंभ में ये इंग्लैंड के उपनिवेश थे और इनके अधिकांश निवासी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अंग्रेज उपनिवेशकों के वंशज हैं । ये अपने मूल देश की भाषा और साहित्य को अपनाये रहे और आज इन देशों की मातृभाषा अंग्रेजी है । इन उपनिवेशों के अतिरिक्त एशिया और अफ्रीका में, प्रशांत और अटलांटिक महासागरों के कितने ही दीपपुंजों पर सैकड़ों वर्ष

इंग्लैंड का राज्य रहा, और अपने अधिकार की अवधि में अंग्रेजों ने वहां के उच्च और मध्य वर्गों को अंग्रेजी भाषा के रंग में रंग दिया। भारत को ही लीजिए। अंग्रेजों का सबसे अधिक विरोध अंग्रेजी पढ़े लोगों ने ही किया, किंतु अंग्रेजों ने उनमें अंग्रेजी इतनी ठूंस-ठूंसकर भर दी थी कि उनके चले जाने पर वे ही अंग्रेजी के सबसे बड़े हिमायती हैं। आज अधिकार के पद पर वे ही हैं। उन्हें अधिकार और वैभव कालिदास, विद्यापति, कम्बन, ज्ञानेश्वर, कबीर, तुलसीदास का अध्ययन करने से नहीं मिला। उन्हें यह अधिकार तब मिला है जब सोलह वर्ष उन्होंने अंग्रेजी घोटी और कालिजों में शेक्सपियर के नाटक अनिवार्य रूप से पढ़े ही नहीं, उनकी बारीकियों के समझने में सारा मस्तिष्क लगा दिया क्योंकि उनके जाने बिना बी० ए० पास करना असंभव था। अंग्रेजों के राज में यदि हम कालिदास के पढ़ने में उसका दुगुना परिश्रम भी करते जितना हमने बी० ए० में 'मैकबेथ' और 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' तथा मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' के पढ़ने में किया तो हमें इस देश में शायद पेट-भर अन्न भी नहीं मिलता। अंग्रेजों के चले जाने पर भी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अब अंग्रेजों की ब्रिटिश काउंसिल के कर्मचारी और हमारे प्रभुगण मिलकर हिमालय से कन्याकुमारी तक अंग्रेजी का प्रचार कर रहे हैं और उसे इस देश में दिल्ली की कीली की तरह अचल कर देना चाहते हैं। हमारा—शिक्षित वर्ग का—सारा वर्तमान उत्कर्ष, अधिकार, वैभव और सामाजिक सम्मान अंग्रेजी ज्ञान के कारण है और अंग्रेजी का ज्ञान शेक्सपियर के ज्ञान के बिना अधूरा है। इन शिक्षित वर्गों के लिए शेक्सपियर ऋद्धि-सिद्धि के साक्षात् स्वरूप हैं। भारतवासी अपनी कृतज्ञता के लिए संसार-प्रसिद्ध हैं। अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि भारत में यह उत्सव, बैक्सटर साहब के अनुसार, इंग्लैंड को छोड़कर सबसे बड़े पैमाने पर मनाया गया। शेक्सपियर के प्रति हम अपना हार्दिक सम्मान प्रदर्शित करते हैं, किंतु भारत में इस उत्सव को अंग्रेजीपरस्तों ने जिस ढंग से मनाया है उसका परिणाम जाने या अनजाने में इस देश में अंग्रेजी का अधिकाधिक प्रचार और अंग्रेजी की जड़ को दृढ़ करना होगा। यदि यह शुद्ध साहित्यिक उत्सव होता तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती। इस उत्सव में जिन लोगों ने प्रमुख भाग लिया वे यदि विशुद्ध साहित्य-प्रेमी होते और उनकी दृष्टि साहित्यकारों के समान ही होती तो वे कवीन्द्र रवीन्द्र के अतिरिक्त इस देश के अन्य साहित्यकारों के उत्सवों में भी भाग लेते। प्रतिवर्ष देश में जहां-तहां कालिदास-दिवस मनाया जाता है। तुलसी-जयंती भी मनायी जाती है। किंतु ये अंग्रेजीपरस्त 'साहित्य-प्रेमी' उनमें नहीं दीख पड़ते। इसीलिए शेक्सपियर के 'समारोह' इस देश में अंग्रेजी-जीवी लोगों के तमाशे बनकर रह गये। उन्होंने भारत की विशाल जनता के हृदय को स्पर्श नहीं किया।

इस पर 'सरस्वती' ने भी साहित्यिक पत्रिका होने के नाते इस महान् कलाकार के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित किया तथा 'कविप्रेत ने कहा' नामक एक अध्ययनपूर्ण लेख भी प्रकाशित किया था जो शेक्सपियर के एक विशेषज्ञ ने 'सरस्वती' के लिए विशेष रूप से लिखा था।
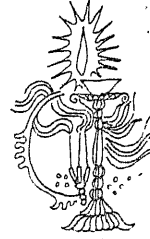
मैक्समूलर की १५०वीं वर्षगांठ

६ दिसम्बर, १९७३ को प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान और भारत-प्रेमी प्रोफेसर मैक्समूलर की १५०वीं वर्षगांठ थी जो कि विदेशों ही में नहीं, दिल्ली में भी बड़े शोभनीय ढंग से मनायी गयी थी।

यों तो योरोप में संस्कृत का अध्ययन मैक्समूलर के बहुत पहले से आरंभ हो गया था और कितने ही योरोपियन संस्कृत विद्वानों ने योरोप के विद्वत् समाज में संस्कृत भाषा और साहित्य को प्रतिष्ठित कर दिया था। कालिदास के 'शाकुन्तलम्' के अनुवाद ने जर्मन कवि गेटे को प्रभावित कर संस्कृत साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर दिया था तथा रूस, फ्रांस, इंग्लैंड डेन्मार्क और विशेषकर जर्मनी में कुछ विशिष्ट विद्वान गंभीरता से संस्कृत का अध्ययन और उसमें शोधकार्य करने लगे थे। किंतु मैक्समूलर ने संस्कृत के अध्ययन एवं उसके प्रकाशन को जो गति दी और तुलनात्मक भाषाशास्त्र के अध्ययन को जो प्रोत्साहन दिया तथा उसका जो प्रचार किया, वह अतुलनीय था।

पश्चिम के किसी संस्कृतज्ञ का भारत से न इतना लगाव था, न भारत में इतना नाम और परिचय था जितना मैक्समूलर का। इस देश के सामान्य अंग्रेजी-शिक्षित, महात्माजी के शब्दों में मानसिक गुलामी से आक्रांत हैं। वे भारतीय रीति-रिवाजों, वाङ्मय आदि को हीन दृष्टि से देखते हैं, किंतु यदि कोई योरोपीय किसी भारतीय वस्तु की प्रशंसा कर दे तो वे तुरंत उस प्रशंसा को दुहराने लगते हैं। श्रीमती ऐनी बीसेंट के कारण अंग्रेजीदां लोग श्रीमद्भगवद्-

गीता का आदर करने लगे। कवीन्द्र रवीन्द्र को जब नोबुल पुरष्कार मिला तब देश में उनकी ख्याति बढ़ी। इसी प्रकार मैक्समूलर के कारण कितने ही हमारे अंग्रेजीदां देशवासी संस्कृत का महत्त्व समझने लगे। मैक्समूलर ने पश्चिम को भारतीय वाङ्मय से परिचित कराया, तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अध्ययन को नयी गति दी, ऋग्वेद का संपादन किया 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' नामक ग्रंथमाला निकालकर पश्चिम को पूर्वी धार्मिक ग्रंथ सुलभ कर दिये। किंतु भारत में भी उनके व्यक्तित्व, कृतित्व और प्रयत्नों के द्वारा संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन की ओर शिक्षित वर्ग और सरकार का ध्यान गया। इस प्रकार उन्होंने भारत और संस्कृत की इस देश में भी उन्नति करके उसकी बड़ी सेवा की।

वे कभी भारत नहीं आये पर उनका यहां के विद्वानों से घनिष्ठ संपर्क और नियमित पत्राचार था। आचार्य द्विवेदीजी से भी उनका पत्राचार होता था जो संस्कृत में होता था। वे ऑक्सफोर्ड में रहते थे। अपने पत्र में वे अपने हस्ताक्षर देवनागरी में 'मोक्षमूलर भट्ट' के नाम से करते थे तथा आक्सफोर्ड को 'गोपादतीर्थ' लिखते थे। उनके समकालीन भारतीय संस्कृतज्ञ विद्वानों पर जितना प्रभाव उनका था, उतना और किसी योरोपीय संस्कृतज्ञ विद्वान का नहीं था।

वे जर्मन थे, किंतु बाद में इंग्लैंड में बस गये थे और उन्होंने अंग्रेज-राष्ट्रीयता स्वीकार कर ली थी। उनका जन्म ६ दिसम्बर, १८२३ को डेसाऊ नगर में हुआ था। उनके पिता विलहेल्म मूलर डेसाऊ (जर्मनी के) ड्यूक के पुस्तकालय के अध्यक्ष और अपने समय के प्रतिष्ठित जर्मन कवि थे। वे मुख्यतः गीतकार थे और उनके गीतों में प्राचीन ग्रीक काव्य की छाया होती थी। वे जर्मनी के लाइपजिग विश्वविद्यालय में भर्ती हुए। वहां के संस्कृत के प्रोफेसर ब्रॉकहाउस ने उन्हें संस्कृत पढ़ने को प्रेरित किया। बाद में वे बर्लिन गये। वहां प्रोफेसर बॉक ने ने उन्हें वैज्ञानिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र की शिक्षा दी। बर्लिन विश्वविद्यालय ही में उन्होंने दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध प्रोफेसर शैलिंग से दर्शनशास्त्र पढ़ा। सन् १८४५ में वे पेरिस चले गये। वहां के विश्वविद्यालय में उस समय बर्नूफ़ नाम के एक प्रसिद्ध भाषाशास्त्री थे। उन्होंने उनसे जेंद भाषा (प्राचीन ईरान की भाषा जिसमें पारसियों का धार्मिक ग्रंथ ज़ेन्दा अवेस्ता है) पढ़ी। बर्नूफ़ ने उन्हें धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने को प्रेरित किया और उन्हें ऋग्वेद का संपादन करने की सलाह दी। उस समय इंग्लैंड में प्रोफेसर होरेस एच० विल्सन संस्कृत के मान्य विद्वान् थे। उनके मार्गदर्शन में उन्होंने ऋग्वेद का संपादन करके उसे तैयार कर लिया। कुछ विद्वानों ने उनकी पहुंच महारानी विक्टोरिया तक करा दी और उनकी कृपा से उसके छपने का प्रबंध हो गया। इस ग्रंथ ने संसार के संस्कृत-विद्वत् समाज में उनका निश्चित स्थान बना दिया। १८५६ में उन्होंने

'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' (History of Ancient Sanskrit Literature) प्रकाशित किया जिसने उनकी और प्रतिष्ठा बढ़ायी। उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण व्याख्यान-मालाएं दीं जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। १८६१ और १८६३ में उन्होंने रॉयल इंस्टिट्यूट में भाषा विज्ञान (साइंस आफ लैंग्वेज) पर व्याख्यान दिये जिन्होंने विद्वानों में इस विषय की चर्चा और विवेचना को प्रोत्साहन ही नहीं दिया अपितु उसे लोकप्रिय बनाने में भी सहायता दी। १८७३ में उन्होंने वैस्ट मिन्स्टर ऐबे में 'धर्म विज्ञान का परिचय' (इंट्रोडक्शन टु दि साइंस आफ रिलिजन) विषय पर भाषण दिये। इस प्रकार उन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन ही को गति नहीं दी, प्रत्युत धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की ओर भी लोगों का ध्यान खींचा। उनके ज़िफर्ड भाषण चार खंडों में १८८८ और १८९२ के बीच में प्रकाशित हुए। मैक्समूलर ने माइथोलॉजी का भी गहन अध्ययन किया और उस पर एक अत्यंत रोचक और महत्त्पूर्ण पुस्तक लिखी। किंतु उनका एक बहुत महत्त्वपूर्ण और विद्वानों के लिए स्थायी लाभ का काम उनकी 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' (पूर्व के पवित्र ग्रंथ) नामक पुस्तक-माला का प्रकाशन है। उनके जीवन-काल में भारतीय धर्म संबंधी उसके केवल तीन खंड निकल पाये थे, किंतु वह माला ५१ खंडों में है और ज्ञान का भांडार है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्राचीन लिपियों के पढ़ने और पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का भी महत्त्वपूर्ण कार्य करके कितनी ही अज्ञात प्राचीन पुस्तकों को खोज निकाला।

१८५० में वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में आधुनिक भाषाओं के प्रोफेसर नियुक्त हुए। उस समव वहां संस्कृत के प्रोफेसर सर मॉनियर विलियम्स थे। १८६८ में उस विश्वविद्यालय ने तुलनात्मक दर्शनशास्त्र की एक पीठ स्थापित कर उस पर उनको प्रोफेसर नियुक्त किया। किंतु जब उन्होंने 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' का काम हाथ में लिया तब १८७५ में उन्होंने पढ़ना बंद कर दिया। इसके साथ ही वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध और विशाल बोडेलियन पुस्तकालय के अध्यक्ष भी थे। उनका निधन १९०० में हुआ।

इस छोटी-सी टिप्पणी में इतने बड़े विद्वान् के कृतित्व और उसके महत्त्व का पूरा परिचय भी नहीं दिया जा सकता। यहां तो हम उनकी १५०वीं जयंती पर उनके प्रति उनकी संस्कृति की महान् सेवाओं के लिए कृतज्ञता प्रदर्शित कर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करके ही संतोष करते हैं।
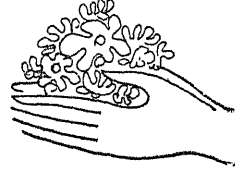
रेडियो में लार्ड मैकाले की मृत्यु-शताब्दी

इस देश में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ लार्ड क्लाइव ने, और अंग्रेजी तथा अंग्रेजियत की जड़ लार्ड मैकाले ने जमायी। क्लाइव द्वारा स्थापित साम्राज्य समाप्त हो गया। हमने उसकी पहनायी हुई राजनीतिक दासता की बेड़ियों को काटकर फेंक दिया है पर मैकाले ने अंग्रेजी की जिन मोहिनी बेड़ियों से हमें जकड़ दिया, उनसे हम मुक्त नहीं हो सके। उसने हममें वह मानसिकता उत्पन्न की जिसे गांधीजी 'स्लेव मैंटेलिटी' (दासत्व-मानसिकता) कहा करते थे। मैकाले को भारतीय संस्कृति, भारतीय साहित्य, भारतीय धर्म और भारतीय चरित्र से आंतरिक घृणा थी। उसने भारतीय साहित्य के बारे में एक जगह कहा था :

"One shelf of a good European library is worth all the native literature of India and Arabia."
अर्थात् 'किसी अच्छे योरोपीय पुस्तकालय की एक आलमारी (की पुस्तकें) अरब और भारत के सारे 'नेटिव' साहित्य के बराबर है।'

इन विचारों को लेकर मैकाले सन् १८३४ में भारत आया। उस समय यहां ईस्ट इंडिया कंपनी का राज था और गवर्नर-जनरल के पद पर लार्ड बैंटिक आसीन थे। वह उनकी ऐक्जिक्यूटिव काउंसिल में विधि-सदस्य (लॉ मेंबर) के पद पर नियुक्त करके इंग्लैंड से भेजा गया था। जिस समय वह यहां पहुंचा, उस समय यहां एक विवाद छिड़ा हुआ था। कुछ दिनों पहले कंपनी ने भारतीय नवयुवकों को योरोपीय ज्ञान की उच्च शिक्षा देने का निश्चय कर लिया था, और उसके लिए दस उच्च अंग्रेज अफसरों की एक समिति बना दी थी जिसका नाम 'लोकशिक्षा समिति' (पब्लिक इंस्ट्रक्शन कमेटी) था। उस समय तक भारत में उच्च शिक्षा या तो संस्कृत के माध्यम से दी जाती थी, या अरबी के माध्यम से। इस लोकशिक्षा समिति के पांच सदस्य चाहते थे कि भविष्य में भी शिक्षा

का माध्यम संस्कृत और अरबी रहे, किंतु दूसरे पांच सदस्य अंग्रेजी को (जो उस समय तक इस देश में प्रचलित न हुई थी) माध्यम बनाना चाहते थे। समिति में दोनों दलों की संख्या बराबर थी, और कुछ निर्णय न हो पाता था। मैकाले के आते ही बैंटिक ने उसे इस समिति का अध्यक्ष बना दिया, पर फिर भी यह समिति कोई निर्णय न कर सकी। अंत में मामला ऐक्जिक्यूटिव काउंसिल को निर्णय के लिए भेजा गया। मैकाले ने उस पर एक ज्ञाप (मिनिट) लिखा और उसमें उसने अंग्रेजी के पक्ष में फैसला दे दिया। ऐक्जिक्यूटिव काउंसिल ने उसका निर्णय स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अंग्रेजी भारत में शिक्षा का माध्यम हुई और ऐसे मुहूर्त में हुई कि वह यहां दिल्ली की कीली के समान अडिग होकर जम गयी।

अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने में उसका विशेष उद्देश्य था। उसने स्वयं एक जगह कहा है :

"To form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern, a class of persons Indians in blood and colour but English in testes, in opinions, in morals and in intellect."

("अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य है एक ऐसा वर्ग बनाना जो हमारे और उन करोड़ों जनता के बीच द्विभाषिये का काम कर सके जिन पर हम शासन करते हैं, एक ऐसा वर्ग बनाना जिसका खून और रंग तो भारतीय हो, पर जो अपनी रुचि, अपने विचारों, अपनी नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज हो।")

एक दूसरी जगह उसने कहा था :

"No Hindu who has received an English education ever remained sincerely attached to his religion. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence. And this will be effected without any effort to proselyte"

("अंग्रेजी शिक्षा पाने के बाद कोई हिंदू कभी भी अपने धर्म में सच्ची आस्था नहीं रखता। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा-प्रणाली को कार्यान्वित किया गया तो आज से तीस वर्ष बाद बंगाल के भद्र समाज में एक भी 'बुतपरस्त' न रह जायेगा। और उन्हें ईसाई बनाने की चेष्टा किये बिना ही यह सब हो जायेगा।")

मैकाले का दावा सच निकला। बंगाल में अंग्रेजी शिक्षित लोग धड़ाधड़ ईसाई होने लगे। यदि बंगाल में दूसरी शक्तियां काम न करने लग गयी होतीं तो कितने

ही और लोग भी ईसाई हो गये होते। मैकाले का पहला दावा आज भी सच है। अंग्रेजी शिक्षा को भारतवासियों में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करने में सफलता मिली है "जिनका खून और रंग तो भारतीय है, पर जो अपनी रुचि और, विचारों (दृष्टिकोण), अपनी नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज हैं।" बंगालियों के बारे में उसने जो विचार प्रकट किये हैं (जिन्हें दोहराना हम उचित या सुरुचि-पूर्ण नहीं समझते), उनसे स्पष्ट है कि हमारे चरित्र को वह कितना निंदनीय ससझता था। अवश्य ही वह मेधावी था, अंग्रेजी का चोटी का सुलेखक था, कवि था (विद्यार्थी जीवन में हमनेउ सकी प्रसिद्ध और ओजस्विनी कविता 'होरेशस' कंठस्थ कर ली थी), उसने 'कोड नेपोलयिन' के आदर्श पर भारतीय दंड विधान (इंडियन पीनल कोड) तथा क्रिमिनल प्रोसीजर कोड बनाये जो आज भी उसकी योग्यता के स्मारक हैं। इसके लिए हम उसके प्रशंसक और अनुगृहीत हैं। किन्तु इसके साथ ही हम यह भी नहीं भूल सकते कि उसने भारत में अंग्रेजी भाषा की जड़ जमायी, जो आज भी अलिफलैला के समुद्री बूढ़े की तरह निर्ममता से हमारे कंधों पर कसकर सवारी गांठे हुए है। उसे हमारे साहित्य, हमारी संस्कृति, हमारे धर्म, हमारे चरित्र के प्रति घोर अवज्ञा और घृणा थी। उसने उस अंग्रेजी शिक्षा को हम पर थोपा जिससे हमें बहुत से लाभ हुए, पर जिसे थोपने में उसका उद्देश्य था कि हम रंग-रूप में तो भारतीय बने रहें, पर भीतर से अंग्रेज हो जायें। हमें अपने स्वरूप का ज्ञान न रहे। हम आत्मविस्मृत हो जायें। इस प्रकार उसने हमें मानसिक गुलामी में जकड़ दिया—उस मानसिक गुलामी में जिससे हम महात्माजी के प्रयत्नों के बावजूद अभी तक मुक्त नहीं हो पाये।

उसी लार्ड मैकाले की मृत्यु-शताब्दी का उत्सव भारतीय रेडियो स्टेशन द्वारा विदेशी कार्यक्रम में मनाया गया था। लार्ड मैकाले की मृत्यु सन् १८५९ में २८ दिसंबर को हुई थी। अतएव दिसंबर १९६० की २८ तारीख को उसकी मृत्यु को सौ वर्ष पूरे हो गये थे। जिस व्यक्ति के विचार हमारे साहित्य, धर्म आदि के बारे में ऊपर प्रदर्शित किये गये हैं, भारतीय रेडियो से उसकी जयंती मनाया जाना यह प्रमाणित करता है कि या तो हमारे रेडियो के महाप्रभुगण मान-अपमान आदि की मानवीय कमजोरियों से ऊपर उठकर देवताओं की श्रेणी में पहुंच गये हैं, और या फिर वे मैकाले की शिक्षा के 'उद्देश्य' की सफलता के मूर्त्त उदाहरण हैं—जो शरीर से भारतीय होते हुए भी विचारों और दृष्टिकोण से अंग्रेज हैं। और उन्हीं भारतीय अंग्रेजों पर हमारे साहित्य और हमारी संस्कृति के प्रचार का भार है! इस पर और कुछ कहना बेकार है।
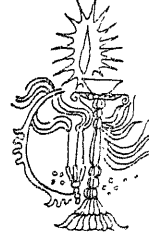
स्वतंत्रता की रजत जयंती

प्रायः एक हजार वर्ष की दासता के बाद हमारा देश स्वतंत्र हुआ है। इसे स्वतंत्र हुए २५ वर्ष पूरे हो गये, और यह स्मरणीय दिवस सारे देश में बड़े उत्साह और धूमधाम से मनाया गया। कुछ लोग केवल अंग्रेजों की दासता ही को दासता समझते हैं, किंतु अरब, अफगान, तुर्क और मुगलों की दासता को दासता नहीं समझते। यह सही है कि उनमें से कितने ही भारत में बस गये थे, किंतु उनके शासन में बहुसंख्यक प्रजा जो उनके धर्म की न थी, नागरिक अधिकारों से वंचित थी और उनका शासन सैनिक शासन था, तथा वे मध्य-पूर्व और मध्य एशिया के नये-नये लोगों को बुलाकर अपनी शक्ति बढ़ाते रहते थे। अतएव हमारी दृष्टि में भारत १९४७ में दो सौ वर्षों की गुलामी से नहीं, प्रायः हजार-आठ सौ वर्षों की दासता से मुक्त होकर स्वतंत्र हुआ। आज से पच्चीस वर्ष पूर्व का दिन देश के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों से नहीं, हीरक अक्षरों से अंकित करने योग्य है। वह चिरस्मरणीय है।

बहुत से लोगों ने इन २५ वर्षों का लेखा-जोखा लिया है। यह आवश्यक है, किंतु इस हीरक दिवस के संदर्भ में नहीं। स्वतंत्रता-प्राप्ति और उससे उत्पन्न राष्ट्र को प्राप्त स्वाभिमान तथा उसे इन पच्चीस वर्षों तक बनाये रखना स्वयं में इतनी बड़ी उपलब्धियां हैं कि उनके सामने कुछ भौतिक या आर्थिक हानि-लाभों का विचार करना इस समय बेसुरा राग अलापना मालूम होता है। किसी राष्ट्र के जीवन में—विशेषकर भारत के समान प्राचीन देश के जीवन में—पच्चीस वर्षों की अवधि है ही कितनी ? जो भौतिक उन्नति हुई है वह प्रत्यक्ष है : गांवों में, जो दरिद्रता के गढ़ समझे जाते थे, आज पक्के मकानों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है, जहां एक-दो बाइसिकलें मुश्किल से दिखाई देती थीं, वहां पचीसों और पचासों साइकिलें ही नहीं, स्कूटर, जीप, ट्रैक्टर आदि दिखाई दे रहे

हैं। लोग बेहतर और अधिक कीमती कपड़े पहनते हैं, रेडियो और ट्रांजिस्टर भी गांवों में दूर-दूर तक बड़ी संख्या में पहुंच गये हैं। गांवों में सड़कें बन गयी हैं, अनेक गांव बिजली से जगर-मगर हो रहे हैं, नलकूप कितने ही गांवों में बन गये हैं और जो ग्रामवासी धनाभाव के कारण कोसों पैदल चलते थे, वे आज बिना 'बस' के एक कोस भी चलने को तैयार नहीं हैं। "है अपना प्यारा हिंदुस्तान कहां? वह बसा हमारे गांवों में।" अतएव गांवों की बढ़ती हुई समृद्धि इन पचीस वर्षों की सार्थकता स्पष्ट करती है।

नगरों में सिनेमाओं की संख्या बेतहाशा बढ़ गयी है, और वे इतने भर जाते हैं कि कहीं-कहीं उनके टिकटों की चोरबाजारी तक होती है। रेलों की संख्या और प्रत्येक रेलगाड़ी में डिब्बों की संख्या वढ़ने के बावजूद रेलों में जगह नहीं मिलती। यही हाल बसों का है। कीमती कपड़ों की मांग बेहद बढ़ गयी है। एक-एक मोहल्ले में २५-५० स्कूटर और दस-पांच मोटरकारें दिखायी पड़ती हैं। शहरों के नये मकान अमरीका की याद दिलाते हैं। साबुन, प्रसाधन सामग्री आदि की खपत अनाप-शनाप बढ़ गयी है। ऊपर से देखने से समृद्धि चुई पड़ती है। अरबों रुपये लगाकर इस्पात, उर्वरक, छोटी-बड़ी मशीनों, मोटरकारों, स्कूटरों, ट्रकों, ट्रैक्टरों, मिट्टी के तेल और पेट्रोल, रेल के इंजिन और डिब्बों के बनाने के कारखाने जगह-जगह खुल गये हैं। कितने ही रेलवे स्टेशनों का कायापलट हो गया है। अन्न का उत्पादन बेतहाशा बढ़ा है—और यह सब स्वतंत्रता के पिछले २५ वर्षों में हुआ है।

किंतु महंगाई भी बढ़ी है और कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि आज भी प्राय: ४० प्रतिशत लोगों का जीवन-स्तर बहुत गिरा हुआ है। पता नहीं कि स्वतंत्रता के पहले इनका अनुपात क्या था, और उस अनुपात मे कितनी कमी हुई है।

हां, समृद्धि तो बढ़ी है किंतु यह भी सत्य है कि इन २५ वर्षों में हमारा नैतिक ह्रास बुरी तरह से हुआ है। जीवन का कोई क्षेत्र नहीं जिसमें यह नैतिक पतन परिलक्षित न होता हो। हम यहां भारतीय राजनीति के भीष्म पितामह श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के वक्तव्य का हवाला देकर संतोष करते हैं कि इन २५ वर्षों में नैतिकता का अभूतपूर्व ह्रास हुआ है। उनकी सम्मति से प्रत्येक नागरिक (यदि वह ईमानदारी और तटस्थता से आंखें खोलकर अपने चारों ओर ध्यान से देखें) तो उसे मालूम होगा कि इस समय अनैतिकता का कितना बोलबाला है। अतएव इन २५ वर्षों में हमने भौतिक उन्नति तो काफी की है। (कुछ लोग कह सकते हैं कि वह और अधिक हो सकती थी) किंतु नैतिकता में हमारी चित्य अवनति हुई है। तीसरे दर्जे की ईंटों से पुख्ता मकान नहीं बन सकता। नागरिक को आध्यात्मिक बल और मनोबल नैतिकता से और उसमें

अनन्य निष्ठा से मिलता है। वे ही हमारे राष्ट्ररूपी भवन की ईंटें हैं। भौतिक उन्नति का इस दरिद्र और पिछड़े देश में बड़ा महत्त्व है, किंतु नैतिकता का महत्त्व उससे भी अधिक है, और हमारे विचारशील लोगों को इस ओर विशेष रूप सेध्यान देने की आवश्यकता है।

हमने स्वतंत्रता प्राप्त की और अनेक विघ्न-बाधाओं और गंभीर समस्याओं के बावजूद हम उसे २५ वर्ष अक्षुण्ण ही नहीं बनाये रहे, अपितु हमने उसे और दृढ़ किया। यही हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि है। रजत जयंती का यह अवसर हमारे लिए हर्ष और उत्साह का अवसर सिद्ध हुआ।
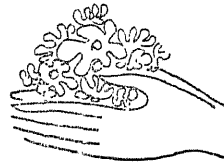
मानस चतुश्शती आयी और निकल गयी

जिस मानस चतुश्शती का शोर वर्षों से हो रहा था, वह १ अप्रैल, १९७४ को संपन्न हो गयी। यह देखकर सोमनाथ का यह छंद बरबस याद आ जाता है—

उमड़ि घुमड़ि घेरि लीन्ह्यौ नभ मंडल कौं,
छोड़ि दीने धुरवा जवासे जूथ जरिगे।
डहडह भये द्रुम रंचक हवा के गुन,
जहाँ तहाँ मोरवा पुकारि सोर करिगे।
रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही
'सोमनाथ' कहूँ बूँदाबाँदी हू न करिगे।
सोर भयौ घोर चहुँ ओर महिमंडल में—
'आये घन!' 'आये घन!' आइ कै निकरिगे।

चार वर्षों के धुआंधार प्रचार, राष्ट्रपति के संरक्षण में बनी अनेक केंद्रीय मंत्रियों से अलंकृत केंद्रीय अखिल भारत मानस चतुश्शती समिति, राज्यों की समितियों तथा अन्य कितनी ही समितियों के शोर के कारण ऐसा मालूम होता था कि उस चरम दिवस को सारे देश में मानस के प्रति अभूतपूर्व उत्साह और

उसका प्रचार होगा। किंतु "जो कि देखा ख्वाब था और जो सुना अफसाना था।" कहीं-कहीं कुछ अवश्य हुआ, पर अधिकांश लीक ही पीटी गयी। सांस्कृतिक और नैतिक जनजागरण का एक बहुत सुंदर अवसर हमारे तथाकथित 'नेताओं' और साहित्यिक महंतों की अकर्मण्यता ने खो दिया। कल्पनाशील दिल्ली प्रदेशीय सम्मेलन ने दिल्ली के विविध भागों में रामायण की कथा, प्रवचन आदि के आयोजन किये भी थे और नौ दिन तक उस नगरी में (जिसे हमारे एक मित्र ईश्वरहीन—'गॉडलेस' कहते हैं) रामायण की काफी चर्चा रही। हिंदू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ आदि में कुछ 'सेमिनार' भी हुए जिनमें अनेक विद्वानों ने भाग लिया और उनसे उन्हीं के समान उच्च शिक्षित वर्ग ने कुछ लाभ भी उठाया। इस अवसर पर कुछ समितियों ने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ भी निकाले जो विद्वानों या तुलसी पर शोध करने वाले विद्यार्थियों के काम आ सकते हैं। केंद्रीय समिति ने दिल्ली में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश श्री ए० एन० राय की अध्यक्षता में मावलंकर हाल में एक सभा की जिसमें कई केंद्रीय मंत्री सम्मिलित हुए और श्रोता भी उच्च वर्ग के थे। उत्तर प्रदेश की 'राज्य मानस समारोह समिति' ने एक वर्ष पूर्व इस रामनवमी को होने वाले उत्सव का आयोजन करने के लिए एक 'प्रिपरेटरी' समिति बनायी थी। शायद वह कुंभकर्णी निद्रा में है क्योंकि उसने उस दिन कोई आयोजन नहीं किया। राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री की संरक्षता और अनेक केंद्रीय मंत्रियों के पदाधिकारी होने के बावजूद वह और उसकी जननी केंद्रीय समिति इस अर्थ में असफल रही कि वह देश में इस चतुरशती के लिए कोई उत्साह या अनुकूल वातावरण उत्पन्न नहीं कर सकी। अन्य स्थानों में स्थानीय मानस-प्रेमियों के उत्साह से छोटे-बड़े उत्सव अवश्य हुए। रामायण और तुलसी-प्रेमी श्री जनार्दनदत्त शुक्ल (अवकाश-प्राप्त आई० सी० एस०) द्वारा उत्तर प्रदेश में स्थापित जिला समितियों ने भी जिला स्तर पर अवश्य कुछ आयोजन किये। संभल की समिति ने डा० रामस्वरूप आर्य के संपादन में 'तुलसी मानस संदर्भ' नामक ४०० पृष्ठों का एक सुंदर ग्रंथ निकाला। सीतापुर की समिति ने उस दिन 'मानस भवन' का शिलान्यास किया। मध्यप्रदेश में, जहां राज्यपाल श्री सत्यनारायण सिंह और श्री शंभुनाथ शुक्ल (भूतपूर्व वित्तमंत्री, मध्यप्रदेश और वर्तमान उपकुलपति रीवां विश्वविद्यालय) के सदृश अनन्य रामायण-भक्त हैं, यह उत्सव प्रायः प्रत्येक जिले में उत्साह से मनाया गया और भोपाल में कई दिन विद्वानों के भाषण तथा अन्य कार्यक्रम हुए। जनता ने (जो किसी संस्था से प्रभावित या प्रेरित नहीं थी) स्वतः असंख्य छोटे-बड़े स्थानों में उस दिन रामायण के अखंड पाठ या नवाह्न पारायण समापन करके इस पवित्र दिन उत्सव मनाये। प्रयाग में श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी की प्रेरणा से नौ दिन तक कल्याणी देवी पर विशेष आयोजन होते रहे जिनमें मध्यवर्गीय जनता ने उत्साहपूर्वक भाग लिया।

हिंदी की संस्थाओं का कार्य इस अवसर के अनुरूप न था । प्रयाग का हिंदी साहित्य सम्मेलन तो प्रायः मृत संस्था है । वह आपसी मुकदमेबाजी में फंसी है। वह ऐसा कोई बड़े आयोजन करने की स्थिति ही में नहीं है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उस दिन एक सभा करने की लकीर अवश्य पीटी थी। यदि वह उसे न करती तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि उसमें सम्मिलित होकर उसमें भाषण देनेवाले एक विद्वान ने हमें बतलाया कि उपस्थित वक्ताओं, सभा के कर्मचारियों और श्रोताओं की कुल संख्या १५ थी। हां, उस दिन संध्या को वहां के तुलसी-मठ के महंत ने एक आयोजन किया था जिसमें स्थानीय जनता ने बड़ी संख्या में भाग लिया ।

जब श्रीसत्यनारायण सिंह सूचना और प्रसारण मंत्री थे तब उनके आदेशानुसार उनके अधीनस्थ विभागों ने इस अवसर के लिए कार्यक्रम बनाये थे। जहां तक हमें याद है, तुलसीदास के जीवन पर एक चलचित्र तथा कई प्रकाशनों का कार्यक्रम बनाया गया था। आकाशवाणी को भी इस अवसर पर विशेष कार्यक्रम करने थे। पता नहीं कि इन विभागों ने क्या किया। यदि कोई प्रकाशन किये भी गये हों तो उनका प्रचार नहीं हुआ। हमने अभी तक उनका एक भी प्रकाशन नहीं देखा और न वह 'सरस्वती' के पास भेजा गया। जब हम ऐसे व्यक्ति और 'सरस्वती' ऐसी पत्रिकाओं को भी उनकी जानकारी नहीं है, तब यदि उन विभागों ने कुछ किया हो तो उसका समुचित प्रचार नहीं हुआ। शायद मंत्रालय के अधिकारियों तथा कुछ और आदमियों ने उसे देखा हो ।

केंद्रीय समिति ने अपने आयोजनों और कार्यक्रमों के लिए भारत सरकार से एक करोड़ रुपये की मांग की थी। हमें विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि सरकार ने समिति के कार्यक्रमों के लिए नकद एक लाख देना स्वीकार किया था और प्रकाशन तथा स्मारक के लिए ५६ लाख स्वीकृत किये थे, किंतु शर्त यह लगायी कि प्रकाशन और स्मारक का कार्य समिति की सलाह से उसका शिक्षा मंत्रालय करेगा। समिति दिल्ली में तुलसीदास का एक स्मारक भवन बनाना चाहती थी जिसमें तुलसीदास कीकृतियों पर शोध का एक केंद्र स्थापित किया जाय और जहां तुलसीदास के और उनसे संबंधित साहित्य का संग्रह हो। सुना है कि 'बहावलपुर हाउस' को 'तुलसी-भवन' बना दिये जाने की बात सोची जा रही है। अंग्रेजी की एक कहावत के अनुसार यह 'पोएटिक जस्टिस' है कि एक नवाब के भवन को तुलसीबाबा का नाम दे दिया जाय। 'हल्दी लगै न फिटकरी, रंग चोखा आये।' साथ-साथ हिंदू-मुस्लिम एकता भी बढ़े, किंतु उसमें केवल तुलसीदास के ही नहीं, प्रत्युत भारत के सभी संतों के सभी भाषाओं के संत-साहित्य का शोध प्रतिष्ठान स्थापित होगा। तुलसीदास और उनके ग्रंथ भारत की अनेक भाषाओं के संतों और उनके अपरिमित साहित्य में खो जायेंगे, और

मानस चतुश्शती के आयोजकों की तुलसी स्मारक की जो कल्पना थी और उसका जो उद्देश्य था वह असंख्य संतों की भीड़ में गौण हो जायेगा। कुछ वर्ष पूर्व सेठ गोविंददासजी ने सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य की शोध और आदान-प्रदान के लिए महाराज बड़ौदा की सहायता से, एक 'साहित्य-संगम' की स्थापना की थी। जमीन ले ली गयी थी और भवन बनाने की तैयारी भी की जाने लगी थी। पता नहीं कि उसकी वर्तमान स्थिति क्या है। सुना है कि उसमें हिंदी साहित्य सम्मेलन के भी कई लाख रुपये लगे हैं। भारतीय भाषाओं के इस 'संगम' के कार्य-क्षेत्र में सभी भारतीय भाषाओं के संत साहित्य का अध्ययन और शोधकार्य आ जाता है। तब फिर तुलसी भवन की परिधि में (जिसका उद्देश्य केवल तुलसीदास के साहित्य की शोध और प्रचार था) सारे भारत के संत-साहित्य को लाकर उसके व्यक्तित्व और उद्देश्य को बदलने, अवमूल्यन करने या विकृत करने का प्रयत्न क्यों किया जाय ? किसी प्रतिष्ठान को तुलसीदास का केवल नाम देकर उसमें उनके साहित्य को अध्ययन का केंद्रबिंदु न बनाना उनका स्मारक नहीं हो सकता। उसका मखौल हो सकता है। भारत के संत साहित्य का अध्ययन और शोधकार्य बहुत महत्त्वपूर्ण काम है। वह होना भी चाहिए किंतु इस कार्य को 'साहित्य संगम' करे, अथवा इसके लिए 'भारतीय संत साहित्य प्रतिष्ठान' अलग बनाया जाय। तुलसी-स्मारक के आयोजकों का उद्देश्य इस अवसर पर तुलसीदास केंद्रीय संस्थान बनाने का था। वह सरकार की योजना से नष्ट हो जायेगा। तुलसी-भवन का उद्देश्य केवल उनके साहित्य के अध्ययन और शोध तक सीमित न था। कल्पना यह थी कि वह उनके साहित्य के प्रचार और प्रसार का केंद्र होगा। किंतु सरकार उसे जो रूप देना चाहती है वह उससे एकदम भिन्न है। हमें मालूम नहीं कि केंद्रीय मंत्रियों और कांग्रेसी नेताओं की प्रभुत्वशाली केंद्रीय समिति में यह साहस भी है कि वह दिल्ली में स्वतंत्र तुलसी-स्मारक बनाने का आग्रह कर सके।

सब मिलाकर जो कुछ इस मानस चतुश्शती में हुआ वह अधिकांशतः थोथा, अप्रभावी और दिखाऊ उपचार मात्र था। शेक्सपियर आदि महान् कवि हुए हैं किंतु वे भी अपने देश की अपढ़ जनता के हृदयहार नहीं हो सके। तुलसी को यह गौरव प्राप्त है, और इस मामले में वे अप्रतिम हैं और इसीलए वे हमारे राष्ट्रीय कवि हैं जिनकी स्पर्द्धा महाकवि कालिदास भी नहीं कर सकते क्योंकि शायद काव्य में वे तुलसी से इक्कीस हों, पर प्रभाव के विस्तार और लोकप्रियता में वे उनको स्पर्श भी नहीं कर सकते। वे उच्चवर्ग (क्लासेज़) के कवि हैं—तुलसी उच्चवर्ग और जनता (क्लासेज़ और मासेज़) दोनों के कवि हैं। यदि वे राष्ट्रीय कवि नहीं हैं तो इस देश में और कौन उस पद को ग्रहण कर सकता है ? किंतु यह भी सत्य है कि इस मानस चतुश्शती में हमने राष्ट्रीय काव्य और कवि की जितनी अवमानना की है उतनी और किसी जाति ने अपने किसी महान्

कवि या कृति की नहीं की। हमारे एक साहित्यिक मित्र ने हमें अपने एक निजी पत्र में लिखा था---"मानस चतुश्शती के नाम पर हमने अपने कवि का जितना अपमान किया है उतना शायद ही किसी जाति ने अपने 'नेशनल पोएट' का कभी किया हो। हम इतने धन्य हैं कि इतिहास से हमारा अस्तित्व मिट जाना अस्वाभाविक नहीं होगा।"

यह सात्विक आक्रोश में लिखा गया है पर हम स्वयं प्राय: इसी मत के हैं। इसका मुख्य उत्तरदायित्व उन उच्च पदाधिकारियों पर है जो लोकेषणा की प्रबल प्रेरणा से प्रेरित होकर अपनी ख्याति, लोकप्रियता और प्रभाव बढ़ाने के लिए ऐसे आयोजनों की समितियों के उच्चपद स्वीकार कर समय या रुचि—अथवा दोनों—न होने के कारण उनका काम नहीं देख सकते और अपने अधीनस्थ लोगों को चुनने में भी विशेष रुचि नहीं लेते। उनकी रुचि एकमात्र अधिकार की राजनीति में है। जो और काम वे करते हैं वह उसी को प्रभावी बनाने के लिए। उनके अधीनस्थ कर्मचारी भी ठीक से नहीं चुने जाते। उनमें वहुत कम लोग योग्य, कल्पनाशील या कार्य-कुशल और दलबंदी से ऊपर होते हैं। किंतु उच्च पदाधिकारियों की छत्रछाया में वे मनमानी करते हैं। वे जनता की कौन कहे, हिंदी में रुचि लेने वाले सभी दलों और विचारों के लोगों तक को संगठित या एकत्र नहीं कर सकते। अतएव उन परिस्थितियों में जो परिणाम होता है, वह इस मानस चतुश्शती ने स्पष्ट कर दिया। भगवान हमें इन संरक्षकों और हिंदी कार्यकर्ताओं से बचावे।

नगरों में सभाएं करके उनमें विशेषज्ञ विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण भाषण करा देना या विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ निकाल देना ही इस चतुश्शती का ध्येय नहीं था। ये भाषण और ग्रंथ अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु ये केवल उच्च शिक्षित वर्ग के एक छोटे से अंश के ही काम के हैं। तुलसीदास ने मानस की रचना इन बुद्धि-जीवियों के लिए नहीं की थी। वह की गयी थी भारत की विशाल जनता के लिए जो गांवों में या नगरों के छोटे मोहल्लों में रहती है। दिल्ली ऐसे विशाल नगर में (जिसकी जनसंख्या तीस-चालीस लाख है) मावलंकर हाल की सभा में उपस्थिति मंत्रियों, न्यायाधीशों, उच्च अधिकारियों, वीआईपियों, प्रोफेसरों तथा उच्चस्तरीय व्यक्तियों के समक्ष, जिनकी संख्या हजार-दो हजार होगी, दिये गये विद्वत्तापूर्ण भाषणों से वहां की जनता पर कोई विशेष संघात नहीं होता। लखनऊ में जो आयोजन हुए उनमें से अधिकांश में उपस्थिति ५०-६० ही थी। इन आयोजनों का मुख्य लाभ समाचारपत्रीय प्रचार है। ऐसे आयोजनों में यदि किसी मंत्री, नेता या न्यायाधीश का भाषण हुआ तो समाचार-पत्र उसका अति संक्षिप्त सार दे देते हैं। विद्वानों के भाषणों का सार देने का भी उन्हें अवकाश नहीं। इन आयोजनों के प्रबंधक उन्हें सफल बनाने के लिए किसी मंत्री या

उच्च अधिकारी का लाना आवश्यक समझते हैं। मंत्री के आकर्षण से कुछ उच्च स्तरीय अधिकारी भी आ जाते हैं जो सामान्यतः ऐसे आयोजनों में नहीं जाते। मंत्रियों की कृपा के कारण सरकार से कुछ अनुदान भी मिल जाता है। किंतु प्रश्न यह है कि अखबारी प्रचार के अतिरिक्त (जो मुख्य रूप से भाषणकर्ताओं या आयोजकों का होता है) उनसे जो लाभ होता है क्या वह उनमें लगाये गये श्रम, समय और व्यय के अनुरूप होता है ?

मानस ने उत्तर भारत की जनता का नैतिक उत्थान किया, संकट-काल में उसका मनोबल बढ़ाया, उसको नैतिक मूल्य दिये, परिवार और समाज के प्रति कर्तव्य और आचरण की एक संहिता दी, उसे जड़वाद का दास हो जाने से बचाया तथा उसे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की ओर प्रवृत्त किया। सोहन-लाल द्विवेदी की कविता 'है अपना भारतवर्ष कहां ? वह बसा हमारे गांवों में' के अनुसार जनता तो गांवों और नगरों के जनसंकुल छोटे तथा उपेक्षित मोहल्लों में रहती है। क्या इन भड़कीले आयोजनों, विद्वत्तापूर्ण 'सेमिनारों' और शोध-पूर्ण लेखों के संग्रहों से उस जनता के मानस पर कोई संघात हुआ ? क्या इनसे उस वर्ग को, जो रामायण नहीं पढ़ता, उसे पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई ? सेमि-नार, ग्रंथ तथा भाषण अपनी भाषा, विषयवस्तु और शैली के कारण हमें विद्वानों के ऐसे वाग्विलास मालूम हुए, जो जनता और हम जैसे सामान्य लोगों की समझ से परे है और न हमें उनमें आलोचित अधिकांश विषयों में रुचि ही है। यदि जनता की दृष्टि से देखा जाय तो इस मानस चतुश्शती के ऐसे आयोजनों का उस पर कोई विशेष संघात नहीं हुआ। हां, उसने उसे इस बात का स्मरण अवश्य दिला दिया कि रामायण को बने चार सौ वर्ष हो गये। रामायण-प्रेमी जनता ने 'रामायण के बारे' में विचार नहीं किया। उसने स्वयं रामायण के अखंड या नवाह्न पारायण करके इस अवसर पर रामायण को फिर एक बार पढ़ा या सुनकर मानसिक और आध्यात्मिक तृप्ति का अनुभव किया।

इस चतुश्शती के अवसर पर उन वर्गों में रामायण के प्रचार का कार्य होना चाहिए था जिनमें उनका प्रचार नहीं है। साथ ही उन लोगों में उसके प्रति श्रद्धा को दृढ़ करना था जिनकी श्रद्धा कम होती जा रही है। हमारी शिक्षा-प्रणाली ऐसी है कि हम तुलसीदास का कोई ग्रंथ पढ़े बिना ही प्रारंभिक कक्षाओं से आरंभ करके हिंदी में एम० ए० करके 'उच्च शिक्षित' हो सकते हैं। हमारे विद्यार्थी-जीवन में हिंदी पाठ्यपुस्तकों में तुलसी और सूर के अंश अवश्य रहते थे। अब वे धीरे-धीरे संख्या और आकार में बहुत कम होते जा रहे हैं। उनके लंबे प्रसंग तो प्रायः दिये ही नहीं जाते। कहने के लिए दस-बीस पंक्तियां कभी-कभी दे दी जाती हैं जिनसे पाठ्यपुस्तक प्रणेताओं और शिक्षा विभागों पर तुलसी, सूर आदि का बहिष्कार करने का आरोप न लगाया जा सके, किंतु उन थोड़ी-

सी पंक्तियों से छात्रों को तुलसी, सूर आदि का सम्यक् परिचय नहीं होता। मैट्रिक में तो किसी समय संपूर्ण अयोध्याकांड पढ़ना पड़ता था। यही कारण है कि हमारी नवशिक्षित पीढ़ी, हिंदी माध्यम से शिक्षा पाने पर भी तुलसी की कृतियों से इतनी अपरिचित रहती है। अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा पाये लोग तो तुलसी, सूर आदि से और भी अधिक अपरिचित हैं। हम हिंदी के कितने ही एम० ए० पास लोगों, विद्वानों, लेक्चररों को जानते हैं जिन्होंने कभी पूरी रामायण भी नहीं पढ़ी। अतएव पहला वर्ग तो यह 'शिक्षित' वर्ग है जिसमें रामचरितमानस का प्रचार करना आवश्यक है। उच्च, मध्यम और निम्न अधिकारी वर्ग भी इसी में आ जाता है। इनके तुलसी और रामायण-निरपेक्ष होने के कारण बड़ी हानि हो रही है। यह तभी संभव है जब हम अपनी संपूर्ण पाठ्यपुस्तकों में रामायण, कवितावली आदि के अधिक अंश योजनाबद्ध रूप से देने के लिए शिक्षा विभाग और सरकार को राजी कर सकें तथा हाईस्कूल, इंटर और बी० ए० में रामायण का एक पूरा कांड (क्रमशः सुंदर, अयोध्या और बाल या उत्तर) हिंदी के पाठ्यक्रम में अनिवार्य कर सकें। वर्तमान रामायण-निरपेक्ष पीढ़ी को रामायण से (केवल रामकथा से नहीं) परिचित कराने के उपाय खोजने होंगे।

हम अपने नेताओं, मंत्रियों तथा शासकों के बारे में कुछ न कहेंगे क्योंकि उनको रामायण के प्रति आकर्षित करने के लिए शायद ब्रह्मा और सरस्वती मिलकर भी योजना नहीं बना सकते। किंतु यदि वे जनता में उसके प्रति श्रद्धा और उसमें उसका प्रचार देखेंगे तो वे उसके प्रति स्वयं सद्भावना प्रकट करने लगेंगे। और इससे अधिक वे कुछ कर भी नहीं सकते। 'संस्कृति' के नाम पर उन्हें रामकथा को बैले (ballet) दिखाया जा सकता है या बड़ी रामलीलाओं में उन्हें प्रमुख अतिथि बनाया जा सकता है।

जनता में अब भी रामायण का प्रचार है किंतु शिक्षा प्रायः अनिवार्य होती जा रही है। शिक्षालयों और पाठ्यपुस्तकों का 'नेशनलाइज़ेशन' हो रहा है और हमारी सरकार सेक्युलर है। एक-दो पीढ़ियों बाद इन नये शिक्षितों के संस्कार वर्तमान जनता से भिन्न होंगे। परिवर्तित परिस्थिति में गांवों में रामायण की वर्तमान लोकप्रियता बनाये रखने, उसे बढ़ाने तथा भावी पीढ़ी में भी रामायण के उपदेशों और संस्कारों को बनाये रखने के लिए हमें अभी से विशेष प्रयत्न करने होंगे। हमारी समझ से यह तभी हो सकता है, जब हम तुलसीदास से ही प्रेरणा लेकर उनके पद-चिह्नों का अनुकरण करें। उन्होंने दो काम किये थे। राजापुर ही में नहीं, उन्होंने काशी में हनुमानजी के बारह मंदिर स्थापित किये थे। उन्होंने रामलीला का आरंभ किया था। हमारी सम्मति में मानस चतुश्शती के अवसर का लाभ उठाकर भविष्य का ध्यान रखते हुए एक हजार या पांच सौ की जनसंख्या के प्रत्येक हिंदू-प्रधान गांव में (जहां वह न हों वहां) हनुमानजी का

एक मंदिर और चबूतरा स्थापित करना चाहिए। केवल एक मंदिर स्थापित कर देना ही पर्याप्त नहीं है। एक छोटी मठिया में मूर्ति पधरा दी जाय तब भी काम चल जायेगा। लेकिन उसके सामने का चबूतरा भरसक बड़ा हो। इसकी स्थापना को गांव और आस-पास की जनता के लिए रामायण के प्रचार का विशेष साधन बनाया जाय। इस मंदिर के लिए न जमीन के मिलने में, मठिया या मंदिर बनाने में और न ही चबूतरा बनाने में दिक्कत होगी। गांववाले स्वयं सब प्रबंध कर देंगे—यदि उनमें उसके लिए उत्साह उत्पन्न किया जा सके। राम और रामायण के स्थानीय कर्मठ प्रेमियों की समिति बनाकर उसके द्वारा उनमें चैत्र और आश्विन की नवरात्रियों में रामायण के नवाह्न पारायण करने और श्रावण शुक्ल ७ को तुलसी तुलसी जयंती मनाने के कार्यक्रम की परंपरा डाली जाय। जहां आस-पास रामलीला न होती हो वहां आश्विन में रामलीला करने की प्रेरणा भी दी जानी चाहिए। साधनों के अनुसार अन्य कार्यक्रम भी बन सकते हैं। इसके साथ ही बड़े अक्षरों में सरल टीका समेत रामायण का ऐसा संस्करण निकालना चाहिए जो लागत मात्र पर ग्रामीण जनता को दिया जाय। वह लाखों की संख्या में छपाया जाय। अच्छे चित्रकारों से रामायण के विविध प्रसंगों के जनता की रुचि के अनुकूल शैली में बड़े चित्र बनवाकर उन्हें नाम मात्र के मूल्य पर या बिना मूल्य वितरित किया जाय जिससे वे उन्हें घरों में लगा सकें। इससे उनके सौंदर्य-बोध की तुष्टि न होगी प्रत्युत उन्हें मानस के प्रसंगों का स्मरण बार-बार होता रहेगा। तुलसी की सूक्तियां भी बड़े और सुंदर अक्षरों में छपा कर जनता में वितरित की जायं। ग्रामीणों को अपने घरों में भी समय-समय पर रामायण का अखंड पाठ करने को प्रेरित किया जाय तथा रामायण के अतिरिक्त तुलसी के कम से कम दो अन्य ग्रंथ (विनयपत्रिका और कवितावली) का भी उनमें प्रचार किया जाय। इसके लिए आवश्यकतानुसार प्रचारक रखे जायं।

विद्यार्थियों तथा अन्य पुरुषों और स्त्रियों में रामायण के प्रचार के लिए रामायण की परीक्षाएं प्रत्येक हिंदी-भाषी राज्य में काम के लिए निर्मित समिति द्वारा ली जाय। बाबा राघवदासजी ने कई वर्ष ऐसी परीक्षाएं चलायी थीं, जो बड़ी लोकप्रिय थीं और रामायण के प्रचार में उनसे बड़ी सहायता मिली थी। उनके पाठ्यक्रम तथा प्रबंध की योजना बनायी जा सकती है।

आज रामायण के अनेक संस्करण प्राप्त हैं, किंतु हमारी समझ से दो संस्करणों की अभी भी आवश्यकता है। एक तो 'जनता संस्करण' जो व्याव-सायिक दृष्टि से प्रकाशित न किया जाय। वह ऊपर के सुझाव के अनुसार लागत मात्र पर जनता को प्राप्त हो। सरकार से अनुमति लेकर समिति बी० डी० ओ० के द्वारा उसे ग्रामवासियों को उपलब्ध करावें। दूसरे, एक राज-संस्करण (डि-लुक्स) संस्करण की आवश्यकता है। हम विवाह इत्यादि के अवसरों पर

उपहार के रूप में रामायण ही देते हैं। किंतु हमें बाजार में उपहार में देने योग्य अच्छे कागज पर, अच्छे चित्रों सहित और आकर्षक जिल्दवाली बढ़िया छपी रामायण नहीं मिलती। कई वर्ष पहले ही वेंकटेश्वर प्रेस ने ८० रुपये का एक राज-संस्करण निकाला था। किंतु वह बहुत दिनों से अलभ्य है। यह काम समिति का नहीं है। कोई कल्पनाशील और साहसी प्रकाशक ही इस काम को कर सकता है।

रामायण-कथावाचक रामायण के प्रचार में बड़े सहायक होते हैं। रामायण के प्रचार के लिए सस्वर रामायण पढ़ने और उसकी सरल व्याख्या तथा संदर्भों को स्पष्ट कर सकने वाले रामायण-कथावाचकों की बड़ी आवश्यकता है। मानस का प्रचार करने वाली संस्थाओं को वर्तमान कथावाचकों का सहयोग प्राप्त कर होनहार कथावाचकों को प्रोत्साहन देने तथा आवश्यकतानुसार उन्हें संगठित करने तथा प्रशिक्षण देने की भी योजना बनानी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें उनकी कथाओं का ऐसा कार्यक्रम बनाना चाहिए जिससे नगर और ग्रामों में बराबर उनकी कथाएं होती रहें, और कोई क्षेत्र उनसे छूट न पावे।

जनता में मानस का प्रचार करने के लिए हम उपर्युक्त बातों को केवल सुझाव के रूप में रख रहे हैं। जब तक हमारी संस्थाएं नगर-मुखी, प्रोफेसर-मुखी और मंत्री-अधिकारी-मुखी न होकर ग्राम-मुखी और जनता-मुखी नहीं होतीं, तब तक उनके कार्यकलाप का जनता पर कोई विशेष संघात (इम्पैक्ट) नहीं हो सकता। हमें याद रखना चाहिए कि तुलसीदास तथा अन्य संत कवि कभी राज्याश्रयी नहीं रहे। उनका काव्य जनता ने समादृत किया और अपनाया। आज भी मंत्रियों और अधिकारी वर्ग द्वारा उन्हें वास्तविक आश्रय नहीं मिलता। ऐसे मंत्री भी, जिन्हें रामायण से प्रेम नहीं है और जो न रामभक्त ही हैं तथा जिन्होंने कभी रामायण पढ़ी भी नहीं, हिंदीवालों में लोकप्रिय होने के लिए ऐसे आयोजनों में सम्मिलित होना स्वीकार कर लेते हैं। उनमें से बहुतों के भाषण सुनकर हमें सेंट पाल के कारिंथियनों को लिखे एक पत्र के इस अंश का स्मरण हो आता है :

"Even though thou speakest with the tongue of manna, if there is no love and sincerety in it, it sound like linkling brass."

["चाहे तू अमृत-घुले शब्द ही क्यों न बोलता हो किंतु यदि उनमें प्रेम और हार्दिकता नहीं है तो वे पीतल के घंटे के टुनटुन करते हुए शब्द की तरह (अर्थ और प्रभाव से हीन) होंगे।"]
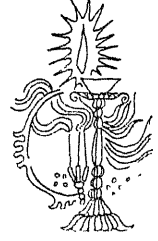
आर्यसमाज की शताब्दी

सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बंबई में आर्यसमाज की स्थापना की थी। यह कार्य उन्होंने अपने कुछ भक्तों के इस आग्रह पर किया था कि आपके विचारों के प्रचार के लिए एक स्थायी संस्था की आवश्यकता है। उन्होंने स्वयं इस संस्था का नाम 'आर्यसमाज' रखा था। उसी वर्ष मुरादाबाद के राजा जयकृष्णदास ने उनसे 'सत्यार्थप्रकाश' लिखवाकर अपने व्यय से प्रकाशित किया था। अतएव १८७५ का महत्त्व दुहरा है : इसी वर्ष आर्यसमाज की स्थापना हुई और आर्यसमाज के आधारभूत ग्रंथ का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ। भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण में आर्यसमाज ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सुकरात कहा करता था कि मैं एथेन्स का डांस (gadfly) हूं जो यहां के लोगों को अपने शब्द-दंशों से बराबर जाग्रत रखता है। प्रायः वही काम स्वामी दयानन्दजी ने हिंदू समाज के लिए किया। वह उस समय मृतप्राय था। वह अपने प्राचीन गौरव और अपने धर्म के महान् एवं मौलिक सिद्धांतों को भूल गया था। उस पर हजार-आठ सौ वर्षों की दासता से गहरा जंग लग गया था। स्वामीजी ने अपने आंदोलन से उसे जाग्रत किया और कितनी ही कुरीतियों को, जो उसमें जंग की तरह लग गयी थीं, बहुत कुछ हटाने में सफलता प्राप्त की।

उनके आंदोलन का परोक्ष प्रभाव सनातनधर्मियों पर भी पड़ा और यद्यपि उनके अनेक मौलिक सिद्धांतों के वे विरोधी थे तथापि उनके उपदेशों के कारण उन्होंने भी समाज में फैली कुरीतियों को पहचाना और उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। इस आंदोलन का पश्चिमी भारत पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव व्यापक था। इसी के कारण शिक्षा के सुधार की ओर सबसे पहले भारतीयों का ध्यान गया। अंग्रेजों की फैलायी शिक्षा प्रणाली हमें अपने अतीत के गौरव को जानने और अपना स्वरूप पहचानने में बाधक थी। आर्यसमाज ने गुरुकुलों की

स्थापना कर प्राचीन वैदिक शिक्षा प्रणाली को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। वे अधिक सफल नहीं हुए और न उनकी संख्या ही अधिक हुई। उनके स्नातक वह जीवन नहीं व्यतीत कर सके जिसकी कल्पना स्वामीजी ने की थी; किंतु आर्यसमाज ने जो डी० ए० वी० स्कूलों और कॉलिज स्थापित किये उन्होंने आरंभ में अपने विद्यार्थियों को आर्य धर्म के मौलिक सिद्धांतों और भारत की राष्ट्रीयता में दीक्षित किया। बाद में वे भी अन्य निजी विद्यालयों की तरह शिक्षा बोर्डों और विश्वविद्यालयों के नागपाश में पड़कर अपना व्यक्तित्व खो बैठे और हमें आज के डी० ए० वी० स्कूलों और कॉलिजों तथा उनकी समकक्ष संस्थाओं की शिक्षा में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं मालूम पड़ता। किंतु आरंभ में गुरुकुलों और डी० ए० वी० संस्थानों ने बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया। अनाथों को विधर्मियों के चंगुल से बचाने के लिए कुछ दयानंद अनाथालय भी खोले गये, किंतु अब इस संबंध में आर्यसमाज का उत्साह शिथिल है।

हिंदी भाषा के प्रचार में—विशेषकर पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में —उसका कार्य स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। उसने भारत में फैली अपनी असंख्य शाखाओं के द्वारा 'आर्यभाषा' (हिंदी) के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी थी, जिससे हिंदी साहित्य सम्मेलन और महात्माजी के 'राष्ट्रभाषा' संबंधी आंदोलन के लिए जमीन तैयार हो गयी थी। आर्यसमाज के पैने प्रहारों के कारण सनातनधर्मियों और उसके खंडन-मंडन के प्रचुर साहित्य ने खड़ी बोली हिंदी का व्यापक प्रचार किया तथा उसकी जड़ मजबूत की। इसी खंडन-मंडन की प्रवृत्ति तथा प्रचार की आवश्यकताओं ने हिंदी पत्रकारिता को भी बड़ा प्रोत्साहन दिया। 'भारत सुदशा प्रवर्तक' नाम का एक अल्प आयु का हिंदी पत्र तो स्वामी जी के सामने ही निकला था। यह फर्रुखाबाद से प्रकाशित होता था। स्वामी श्रद्धानंदजी ने जालंधर से पहले उर्दू में, और फिर हिंदी में एक पत्र निकाला जिसके संपादन में संपादकाचार्य रुद्रदत्त शर्मा ने उनकी सहायता की थी। आर्यसमाज के पुराने हिंदी पत्रों में 'आर्यमित्र' अभी जीवित है और सफलतापूर्वक निकल रहा है। इस प्रकार सभी क्षेत्रों में आर्यसमाज ने हिंदी की बड़ी महत्त्वपूर्ण सेवा की है और वह आज भी हिंदी का बहुत बड़ा हिमायती है।

आर्यसमाज का कार्य और प्रभाव धार्मिक खंडन-मंडन तथा शिक्षा और हिंदी के प्रचार तक ही सीमित नहीं रहा। उसने अखंड भारत और स्वतंत्रता की भावनाओं को भी प्रोत्साहन दिया। स्वामी दयानंदजी सरस्वती के अतिरिक्त उसने देश को लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानंद, महात्मा हंसराज, श्री इंद्र विद्यावाचास्पति ऐसे रत्न दिये। भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर इन सौ वर्षों में उसका बहुत प्रभाव और योगदान रहा है। यही नहीं, उसने विदेशों में बसे हिंदुओं में भी वैदिक धर्म और हिंदी के प्रचार में पहल करके

एक उल्लेखनीय कीर्तिमान स्थापित किया है।

आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व सनातनधर्मियों और आर्यसमाजियों में जो कट्टरता और कटुता थी, उसे हमने देखा था। हमें प्रसन्नता है कि आज वह अशिव भावना प्राय: समाप्त हो गयी है। आर्यसमाज ने इन सौ वर्षों में हिंदू समाज और देश की जो विविध प्रकार से सेवा की है और उनके दृष्टिकोण को बदलने में जो योगदान दिया है उससे उसकी सार्थकता स्पष्ट है और उसके लिए उसे गर्व होना चाहिए। हम इस अवसर पर उसकी स्थापना के 'शत शरद' बीतने पर उसे हार्दिक बधाई देते हैं। किंतु यदि वह भविष्य में देश और समाज के जीवन में पहले की सी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना चाहता है तो उसे अपनी संस्थाओं को ऐसे लोगों से मुक्त करना होगा जिनका आचरण स्वामीजी की दृष्टि से 'आर्योचित' नहीं है। अब भी उसमें पुराने आदर्शों से प्रेरित, नि.स्वार्थ और कर्मठ कुछ व्यक्ति हैं। किंतु खेद है कि उनकी संख्या कम होती जाती है। दूसरे, उसे आदिवासियों, पिछड़े वर्ग के लोगों की सेवा में मिशनरी भावना से योजनाबद्ध रूप से उत्साहपूर्वक लग जाने की आवश्यकता है। उसे निर्मम आत्मपरीक्षण की आवश्यकता है। उसके सौ वर्ष गौरवशाली रहे हैं जिसकी हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, किंतु परिवर्तित स्थिति के अनुरूप उसका कार्य-क्रम भी वैसा ही क्रांतिकारी होना चाहिए जैसा आरंभ में रहा है। उस पर यह लोकप्रिय पंक्तियां लागू हैं :

> शानदार था भूत, भविष्यत भी महान है।
> अगर सुधारें आप उसे जो वर्तमान है ॥
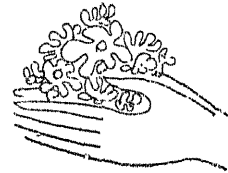
ईरान साम्राज्य का ढाई हजारवां उत्सव

अक्तूबर में ईरान के प्राचीन ध्वंसावशेषों की नगरी पर्सिपोलिस में ईरान के प्रथम सम्राट साइरस द्वितीय द्वारा ईरान में पहला साम्राज्य स्थापित करने

की स्मृति में एक महान् उत्सव मनाया गया। जिस प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य ने भारत के छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर भारत में पहला साम्राज्य स्थापित किया था, उसी प्रकार साइरस भी ईरान के अनेक छोटे-मोटे राज्यों को हराकर वहां का चक्रवर्ती सम्राट हो गया था। इतना ही नहीं, उसने अपने राज्य का विस्तार भूमध्य सागर के तट तक कर लिया था। वह पारसी धर्म का माननेवाला था। महान् विजेता होने के अतिरिक्त वह बड़ा दूरदर्शी और योग्य शासक भी था। उसके पहले वहां असीरियन लोगों का साम्राज्य था। वे अत्यंत क्रूर थे। उनकी तुलना में वह देवता था। इसलिए उसके जीवन-काल ही में प्रजा उसे 'देश के पिता' के नाम से पुकारती थी। उसके पिता एक छोटे से राज्य के शासक थे। उसकी राजधानी एलम में थी जिसे बाद के इतिहासज्ञ सूसा कहते थे। ईरान के बड़े भाग में मीड लोगों का राज्य था। उसके तत्कालीन राजा अस्त्यागन ने अपनी पुत्री एलम के राजा केम्बिसिस को ब्याह दी। साइरस उसी का पुत्र था। उसके जन्म और बचपन के बारे में अनेक किंवदंतियां हैं, उनमें से एक यह है कि केम्बिसिस के भाग्य पलटने पर एक चरवाहे ने उसे पाला था। बाद में युवा होने पर उसने मीड राजा को हराकर उसका राज्य छीन लिया, और तत्कालीन प्रसिद्ध पुराने राज्य बेबीलोन पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् तो उसने अपने पराक्रम से ईरान के ही छोटे-बड़े शासकों को नहीं, प्रत्युत सीरिया, लीडिया तथा भूमध्य सागर से लगे कई छोटे ग्रीक राज्यों को जीतकर अपने समय में सबसे महान् साम्राज्य स्थापित कर लिया था। वह इतिहास में 'साइरस महान्' के नाम से विख्यात है क्योंकि उसने अनेक जातियों और अनेक भाषा-भाषियों को जीतकर अपने उदार शासन और प्रजावत्सलता तथा सुप्रबंध के कारण उनके हृदयों को भी जीत लिया था। उसने अपनी राजधानी पसरगदाए (Pasargadae) नामक स्थान में बनाई थी जो पर्सिपोलिस से (जिसे उसके पुत्र दारा ने बसाया था) से २५ मील उत्तर-पूर्व में है। पसरगदाए में उसकी समाधि भी बनी है जो एक लंबे-चौड़े चबूतरे के ऊपर ईरान के पुराने देशी मकानों की प्रतिकृति मालूम होती है। साइरस ने प्रजा के लिए अनेक उपयोगी और उदार आदेश दिये। उन दिनों वे आज्ञाएं मिट्टी की तख्तियों पर कीलों की नोक से लिखी जाती थीं और बाद में वे पका ली जाती थीं। इसीलिए उन अक्षरों को कीलाक्षर कहते थे। उसके आदेशों की एक तख्ती अंग्रेज पुरातत्त्वविदों को ईरान में खुदाई करते समय मिली थी और वह लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम की शोभा बढ़ाती है। इस अवसर पर ब्रिटिश सरकार ने उसे पर्सिपोलिस के उत्सव में प्रदर्शित करने के लिए एक सप्ताह के लिए एक विशेष अधिकारी के संरक्षण में ईरान भेजा था।

ईरान का ढाई हजार वर्षों का इतिहास अनेक देशों के उत्थान-पतन तथा

रक्त-रंजित आक्रमणों का इतिहास है। साइरस के वंश ने ५५८ (ईसा पूर्व से) ३३० ईसा पूर्व तक राज्य किया। उन्होंने ग्रीस को जीतना चाहा। एक बार तो उन्होंने एथेन्स पर अधिकार भी कर लिया, किंतु मराथान के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध में ईरानी बुरी तरह से हार गये, और साइरस-वंश का अधःपतन आरंभ हो गया। सिकंदर महान् ने ईरान पर आक्रमण कर अराबला के प्रसिद्ध युद्ध में हराकर उसे सदा के लिए नष्ट कर दिया। सिकंदर की मृत्यु के बाद उसके सेनापति सेल्यूकस (जिसने भारत पर चढ़ाई की थी और जिसे चंद्रगुप्त मौर्य ने हरा दिया था) ने अपना वंश चलाया, किंतु ६५ ई० पू० में रोम ने उस वंश को हरा कर अपने साम्राज्य में मिला लिया तथापि ईरान के बहुत से भाग पर पार्थवर (पार्थियन) वंश का राज्य बना रहा। ये लोग पारसी धर्म के परिवर्तित रूप को मानते थे और मुख्यतः सूर्य के पूजक थे। वे सूर्य को मिथ् (संस्कृत मित्र) कहते थे। सन् २१२ ई० में एक दूसरे पारसी वंश का उदय हुआ जो सस्सानी कहलाता था। इसके पहले सम्राट् का नाम अर्दिशिर प्रथम था। बड़े योग्य और प्रतापी राजा इस वंश में हुए। ये लोग भी अग्नि और सूर्य के उपासक थे और इनके समय तक ईरान में जोरोआस्टर का चलाया पारसी धर्म देश में प्रचलित रहा।

सातवीं शती में अरब में इस्लाम का उदय हुआ और अरबों ने मुख्यतः धर्म-प्रचार और अपना साम्राज्य-विस्तार करने के लिए आस-पास के देशों पर आक्रमण करना आरंभ कर दिया। उसी क्रम में उन्होंने ईरान पर भी आक्रमण करके वहां के सस्सानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया और अपने सर्वविदित उपायों से लोगों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर विवश किया। उस समय कितने ही पारसी उस धर्म-परिवर्तन से बचने के लिए भारत में आ गये और गुजरात के भिन्न भागों में बस गये। ईरान में अरबों का राज्य हो गया और वहां अरबों के कई वंशों ने राज्य किया। वे अपने को खलीफा कहने लगे। पर ईरान के मुसलमान शिया मत के हैं—जब कि अरब सुन्नी हैं। ११वीं शती में सलजुक तुर्कों ने ईरान पर अधिकार करके अरब शासकों को भगा दिया। तेरहवीं शती में चंगेज खां मंगोल ने ईरान पर आक्रमण कर दिया और उस आक्रमण में लाखों लोग मारे गये। मंगोलों ने सारे देश पर अधिकार कर लिया। चौदहवीं शती में एक दूसरे मंगोल, तैमूर ने ईरान पर आक्रमण करके उसे खूब लूटा और ध्वस्त किया। किंतु १५०० ई० के लगभग वहां के एक स्थानीय सरदार ने मंगोलों से राज्य छीन लिया। इसके कुछ दिन पूर्व ईरान के मुसलमानों में एक नये संप्रदाय का जन्म हुआ जो अपने को 'सूफी' कहता था। मंगोल पहले मुसलमान न थे। तैमूर ने बाद में इस्लाम स्वीकार कर लिया था। किंतु इनके उत्तर काल में देश में बड़ी अराजकता फैल गयी थी और जनता 'पीरों' की

शरण लेने लगी थी। इनमें ही एक संप्रदाय 'सूफी' था जो इस्लाम का रहस्य-वादी संप्रदाय कहा जा सकता है, जो शांतिपूर्ण उपायों में विश्वास करता है। मंगोलों के शासन काल में सफीउद्दीन (१२५२-१३३४) नामक एक सूफी संत हुए उनके एक पौत्र पर तैमूर किसी कारण से प्रसन्न हो गया। उसने तथा उसके पुत्र-पौत्रों ने धीरे-धीरे अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी। इन वंशजों में से इस्माइल नामक एक सैनिक-प्रतिभा का व्यक्ति था। उसने तबरेज नगर पर अधिकार करके अपने को शाह घोषित कर दिया। सफीउद्दीन के वंशज होने के कारण यह अपने वंश को 'सफ़वी' कहता था; और इस प्रकार ईरान में सफ़वी वंश का आरंभ हुआ। इस वंश में शाह तहमास्प और शाह अब्बास दो बड़े प्रसिद्ध शासक हुए। शाह अब्बास अकबर का समकालीन था, और महानता में उसकी समानता करता था। किंतु सफ़वी शिया थे, अतएव तुर्की के सुन्नी सुलतान को इनका उत्थान और वैभव अच्छा न लगा, और उसने ईरान से युद्ध छेड़ दिया। यह युद्ध बहुत दिनों चला और ईरान का बहुत सा भाग तुर्की के अधिकार में चला गया। शाह अब्बास के बाद सफ़वी वंश का पतन आरंभ हुआ। अफ़गानों ने एक बार चढ़ाई करके इस्फहान पर अधिकार कर लिया। ईरान की इस पराजय से लाभ उठाकर रूस और तुर्की ने बगदाद, बाकू आदि छीन लिये। उस समय सफ़वी वंश का शासक अशरफ राज्य कर रहा था। उसने किसी तरह बचे हुए राज्य को सुव्यवस्थित किया ही था कि एक नया खतरा उत्पन्न हो गया। खुरा-सान का नादिर कुली बेग नामक एक डाकू धीरे-धीरे इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने तत्कालीन शाह तहमास्प की सेवा स्वीकार कर ली, और अपनी सैनिक योग्यता से ईरान के तीन शत्रुओं—तुर्की, अफगान और रूस को युद्ध में हराकर ईरान का बहुत-सा खोया हुआ भाग पुनः प्राप्त कर लिया। अंत में शाह को अपदस्थ करके वह नादिरशाह के नाम से ईरान का बादशाह हो गया। यह वही नादिरशाह था जिसने दिल्ली के 'रंगीले' मुहम्मदशाह के समय में दिल्ली पर आक्रमण करके भीषण नर-संहार किया था और कोहनूर हीरा तथा मुगलों के मयूर सिंहासन के साथ अकूत धन लूटकर ले गया था। नादिरशाह को उसी के अंगरक्षकों ने मार डाला। उसके बाद फिर अराजकता फैल गयी और आग़ा मुहम्मद कजर नामक एक सैनिक शासक बन बैठा। उसने कई शत्रुओं को हरा कर कजर वंश के राज्य की स्थापना की

इस बीच रूस, तुर्की, अंग्रेजों के बीच ईरान को अपने प्रभाव में लाने के षड्यंत्र चलते रहे। तुर्की तो बाद में कमजोर हो गया और प्रथम महायुद्ध के बाद हार जाने के कारण इस स्पर्द्धा से अलग हो गया। पर अंग्रेज और रूस में प्रतिस्पर्द्धा चलती रही। अंत में उत्तरी ईरान को रूस का, और दक्षिणी ईरान को ब्रिटेन का 'प्रभाव-क्षेत्र' मानकर समझौता हुआ। किंतु इस बीच ईरान में

काफी जागृति हो गयी थी। लोग कजर वंश के अंतिम शाह की अयोग्यता, उसके मंत्रियों के भ्रष्टाचार और प्रशासन की अव्यवस्था से तंग आ चुके थे। उस समय रज़ाशाह नामक एक व्यक्ति, जो सामान्य सैनिक से अपनी योग्यता के कारण उन्नति करके कज्जाक ब्रिगेड का सेनापति हो गया था, कुछ देशभक्तों की निगाह में क्रांति का नेतृत्व करने के योग्य मालूम हुआ। उनके कहने से रज़ाशाह ने अपनी सेना की सहायता से राजधानी पर अधिकार कर लिया। कुछ दिनों वह युद्ध-मंत्री रहा, बाद में सारी शक्ति उसके हाथ में आ गयी। अंतिम कजर वंश का शाह पदच्युत कर दिया गया, और मजलिस (संसद) ने रज़ाशाह को (१९२५ में) बादशाह चुन लिया। वह रज़ाशाह पहलवी के नाम से बादशाह हुआ, उसने ईरान की सैनिक शक्ति बढ़ाई और वित्त तथा शासन को सुव्यवस्थित किया। किंतु द्वितीय महायुद्ध में ईरान तटस्थ रहना चाहता था। जब जर्मनों ने रूस पर आक्रमण किया तब रूस को सैनिक सामान भेजने का एकमात्र मार्ग ईरान होकर रह गया था। शाह इसके लिए राजी न हुए तब रूसियों और अंग्रेजों ने जबर्दस्ती उसकी संचार व्यवस्था पर अधिकार कर लिया। इस पर रज़ाशाह ने गद्दी छोड़ दी और युवराज को शाह बना दिया, जो आजकल ईरान के शाह हैं।

ईरान के इतिहास का यह अति संक्षिप्त विहंगावलोकन है। इसमें बीच-बीच में देश के जिन छोटे-छोटे राज्यों ने अनेक बार उसका विभाजन कर दिया था, उनकी चर्चा नहीं की गयी। उस पर अनेक बार विदेशी शासकों का शासन रहा। अतएव उस देश में पिछले ढाई हजार वर्षों में अनेक उलट-फेर हुए, अनेक वंशों का शासन हुआ। वर्तमान पहलवी वंश के शाहों की दूसरी-पीढ़ी ही इस समय ईरान पर राज्य कर रही है। ईरान की ढाई हजार वर्षों की साम्राज्य-स्थापना के उत्सव मनाने की बात कहने से हमारे अनेक मित्रों को यह भ्रम हो गया कि वहां २५०० वर्ष पूर्व साइरस महान् ने जो साम्राज्य स्थापित किया था वह वहां आज भी मौजूद है। वास्तव में साइरस महान् उसी प्रकार ईरान का प्रथम सम्राट था जिस प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य भारत का प्रथम सम्राट् था। हम भी इस देश में भारत के प्रथम सम्राट् द्वारा साम्राज्य स्थापना का सवा दो हजार वर्षों का उत्सव मना सकते हैं। यदि गणतंत्र की स्थापना का उत्सव मनाना हो तो इस देश में यौधेयों, लिच्छवियों और वैशाली के गणतंत्र तो प्रायः तीन हजार वर्ष पूर्व स्थापित हो चुके थे तथा हम अपने देश में गणतंत्र की परंपरा की तीन हजार वर्ष पुरानी स्थापना का समारोह मना सकते हैं।

साइरस महान की राजधानी पर्सिपोलिस नहीं थी, किंतु यह उत्सव वहां मनाया गया, उसकी राजधानी के खंडहरों में नहीं। पर्सिपोलिस की स्थापना तो उसके पुत्र केम्बियस ने की थी। किंतु इसका कारण यह मालूम होता है कि

पर्सिपोलिस की स्थिति अधिक चित्ताकर्षक और नयनाभिराम है।

इस उत्सव को वास्तव में शाही पैमाने पर मनाया गया। संसार के प्राय: ६० मुकुटधारी नरेश और राष्ट्रपति एवं सभी देशों की सरकारों के प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित हुए। उनके लिए शाह ने जो भोज दिया उसका प्रबंध पेरिस के संसार-प्रसिद्ध होटल 'मैक्सिम' को सौंपा गया था, और भोजन ताजा रहा, इसके लिए वह पेरिस से विशेष विमानों द्वारा लाया गया था। कई विमान सजावट के लिए योरोप से ताजे फूल लाये थे। इसी प्रकार अनेक विमानों द्वारा तरह-तरह के फल आये। उत्सव में प्राचीनता की झलक लाने के लिए हजारों सैनिकों को साइरस, पार्थियन और सस्सानियन सैनिकों के समय की कीमती वर्दियां बनवायी गयीं जिन पर सुनहला काम था। यह उत्सव सात दिन चला, किंतु उसका मुख्य उत्सव एक दिन पर्सिपोलिस में हुआ जहां देश-विदेश से आये हुए राजकीय मेहमानों के लिए तंबुओं और शामियानों का शानदार नगर बसा दिया गया था। प्राचीन काल की वर्दियों वाले सैनिकों ने परेड की तथा अभ्यागतों को सलामी दी। रात में जो भोज दिया गया उस पर लाखों रुपये खर्च किये गये। इस अवसर पर पर्सिपोलिस तथा अन्य स्थानों पर पहुंचने के लिए सैकड़ों मील लंबे राजमार्ग बनवाये गये, अनेक भवन बनवाये गये और एक विशाल क्रीड़ांगन (स्टैडियम) बनाया गया जिसमें एक लाख दर्शक बैठ सकते हैं तथा शाह और उनके परिवारों के बैठने के लिए अलग भव्य स्थान बनाया गया है। वास्तव में यह उत्सव 'शाही' उत्सव था और १९७१ के वैज्ञानिक और यथार्थवादी युग में प्राचीन ईरान के वैभव और संस्कृति की सुंदर झलक देने में सफल रहा।

इस उत्सव में कितना व्यय हुआ इसका अनुमान ही किया जा सकता है। लोगों ने ३० करोड़ से लेकर ३०० करोड़ तक के व्यय का अनुमान किया है। किंतु शाह ने आलोचकों को आश्वासन दिया है कि वह उतना ही धन देश के विकास पर भी व्यय करेंगे जितना इस उत्सव में किया गया।

ईरान का अधिकांश भाग पहाड़ी, मरुभूमि या ऊसर है। कहीं-कहीं भूमि बहुत उर्वरा भी है। सूसा, पर्सिपोलिस, पसरगदाए, शीराज, हिरात, तेहरान, इस्फहान, मशहद, किरमान आदि अनेक ऐतिहासिक नगर इसे आकर्षक बनाये हुए हैं। प्रकृति ने इसमें वनस्पति की उपज की कमी की क्षतिपूर्ति के लिए भूगर्भ में मिट्टी के तेल के अक्षय भंडार दिये हैं जिससे यह देश अत्यंत धनी और समृद्ध हो गया है।

ईरान 'आर्य' शब्द का अपभ्रंश है। वास्तव में प्राचीन ईरानी भाषा, जिसमें पारसियों की धर्मपुस्तक जेंदा अवेस्ता लिखी गयी है, वह संस्कृत के बहुत निकट है। दोनों भाषाएं सगी बहिनें हैं। जेंदा अवेस्ता की एक पंक्ति देखिए—'यो

वो आपो वाभुष यजायते अहूरानिस अहूरहे वहिस्ताभ्यो जामोहराब्यो'। संस्कृत में यदि यही लिखा जाय तो होगा—'यो वो आपो वस्विस यजाते असुरानीस असुरस्य वशिमुभ्यो होत्राभ्यो'। प्राचीन ईरानी भाषा में संस्कृत का 'स' 'ह' हो जाता है तथा संस्कृत के 'ए', 'ओ' प्राचीन ईरानी में 'ऐ', 'औ' हो जाते हैं। ईरानी में जो 'ज़' अक्षर है उसका पर्याय संस्कृत या भारतीय भाषाओं में नहीं है।

ईरानियों को 'आर्य' होने का गर्व है। वे अपने देश को ऐर्याना (आर्याना) कहते थे और 'ईरान' शब्द उसका बदला हुआ रूप है। इतना ही नहीं, वर्तमान शाह का एक विरुद है—'आर्यमिहिर' (आर्यों के सूर्य)। यह संस्कृत में ज्यों का त्यों लिखा जा सकता है। उदयपुर के महाराणाओं का विरुद 'हिंदू-सूर्य' उसी से मिलता-जुलता है। ईरानी भाषा जितनी संस्कृत से मिलती है उतनी शायद ही अन्य कोई ही भाषा मिलती हो, जैसे संस्कृत का 'अश्व' फारसी में 'अस्प', 'भूमि' 'बूमि', 'ईस्त' 'ज़स्त' (आधुनिक 'दस्त') इसके कुछ सामान्य उदाहरण हैं।

प्राचीन ईरान ने संस्कृति और कला में जो उन्नति की वह अपूर्व थी। सारे मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया—यहां तक कि भारतीय मुगलों ने फारसी भाषा को ही स्वीकार नहीं किया, ईरानी दरबार के अनुकरण पर अपना दरबार और शिष्टाचार भी बनाया। वहां अनेक ललित कलाएं विकसित हुईं। ईरानी चित्र-कला संसार-विख्यात है। ईरानी कालीन आज भी अप्रतिम हैं। साहित्य में मौलना रूमी, हाफिज, शेख सादी, फ़िरदौसी, उमर ख़ैयाम अपने काव्यों के लिए सारे संसार में समादृत हैं। भारत की तरह ही विदेशी आक्रमणकारियों ने प्राचीन ईरान के नगर, भवन, मंदिर, पुस्तकालय नष्ट कर दिये थे, किंतु उनके "खंडहर ये कह रहे हैं कि इमारत (कितनी) अज़ीम थी।"

भारत से इतना निकट होने पर भी यह खेद की बात है कि ईरान के वर्तमान शासकों का रुख भारत के प्रति मैत्री का नहीं है। वे स्पष्ट रूप से भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के समर्थक ही नहीं, उसे हर प्रकार से सहायता देते हैं। पाकिस्तान को उससे प्रत्यक्ष और परोक्ष सैनिक सहायता भी मिली है। और आगे भी मिलते रहने की संभावना है। भारत और ईरान का—जो यदि सगे भाई नहीं तो चचेरे भाई तो अवश्य हैं—यह वर्तमान संबंध दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है।

फिर भी हम साइरस महान् के इस ढाई हज़ारवें वर्ष के उत्सव के अवसर पर ईरान को हार्दिक बधाई देते हैं। ईरानियों की एक बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि वे मुसलमान हो गये तथापि उन्होंने अपने पारसी (अग्निपूजक और सूर्य-पूजक) पूर्व पुरुषों का आदर ही नहीं किया, उनका उन्हें गर्व भी है। फ़िरदौसी के शाहनामे में इन्हीं गैर-मुसलमान ईरानी वीरों की गाथाओं का वर्णन है। अपने

इसी राष्ट्रीय स्वाभिमान के कारण अरबों को उन पर अपनी संस्कृति लादने में कभी सफलता नहीं मिली। ईरानी संस्कृति इतनी उन्नत और इतनी आकर्षक है कि स्वयं वहां बसनेवाले अरब उसी संस्कृति के रंग में रंग गये। काश, भारत के मुसलमान भी अपने इन ईरानी मुसलमान भाइयों से अपने गैर-मुसलमान पूर्वजों का आदर करना और उन पर गर्व करना सीख सकते!
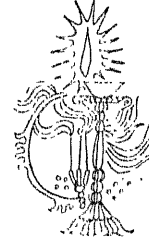
कोचीन के यहूदी उपासनागृह का चौथा शती समारोह

दिसंबर '६८ के आरंभ में कोचीन स्थित सिनागॉग (यहूदियों के उपासनागृह) की स्थापना की चौथी शती का उत्सव मनाया गया। प्रधानमंत्री ने इसका उद्घाटन किया। यह समारोह अपने ढंग का अनोखा था। भारत, हिंदू शासकों और हिंदू जनता की विशालहृदयता और सहिष्णुता का वह स्मारक है।

यहूदी 'सभी' (सेमिटिक वंश) जाति के हैं। उनका धर्म बहुत प्राचीन है। ईसाई और मुस्लिम धर्म उसी की नींव पर बने हैं। तीनों धर्म आरंभिक यहूदी पैगंबरों को मानते हैं। ईसा मसीह का जन्म एक यहूदी परिवार में हुआ था। उन्होंने जो नया संप्रदाय चलाया वह बाद में ईसाई धर्म कहलाया। ईसाइयों की धर्म-पुस्तक बाइबिल है जिसके दो भाग हैं। पहला भाग 'पुरातन बाइबिल' और दूसरा भाग 'नया बाइबिल' कहलाता है। पुरातन बाइबिल यहूदियों और ईसाइयों को समान रूप से मान्य है। नयी बाइबिल में ईसा मसीह का चरित्र और उनके उपदेश संकलित हैं। पुरातन बाइबिल में सृष्टि के आदि से पुराने यहूदी पैगंबरों के चरित्र और उनके उपदेश हैं। यहूदियों का निवासस्थान फिलस्तीन था जो अब इसराइल कहलाता है, और इसकी राजधानी जेरूसलम थी। यहूदियों के एक बड़े राजा (सुलेमान) ने जेरूसलम में एक बहुत बड़ा मंदिर

बनवाया था । ईसा मसीह के जन्म से बहुत पहले रोमन लोगों ने फिलस्तीन पर अधिकार कर लिया था। ईसा मसीह के सूली पर चढ़ाये जाने के कुछ दिनों बाद (७० ईस्वी में) यहूदियों पर बड़े अत्याचार हुए और सुलेमान (सॉलोमन) का बनवाया मंदिर नष्ट कर दिया गया । उस समय कितने ही यहूदी फिलस्तीन से भाग गये । कोचीन के यहूदियों का कहना है उनके पूर्व पुरुष उसी समय इस देश में आये थे । इन यहूदी शरणार्थियों की संख्या दस हजार के लगभग थी । ये लोग जहाजों के द्वारा मलाबार तट पर उतरे जहां के हिंदू राजाओं और जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया और विदेशी तथा अन्य धर्मावलंबी होने के बावजूद उन्हें देश में बसने और स्वतंत्रतापूर्वक अपने धर्म का पालन करने की पूरी सुविधाएं दीं । बाद में भी अरबों की धर्मान्धता के शिकार ईरान के जरतुश्त के अनुयायियों अर्थात् ईरान से आये हुए पारसी शरणार्थियों का भारत ने इसी प्रकार स्वागत किया था । स्वर्गीय प्रोफेसर ऊनवाला ने एक बार काशी में व्याख्यान देते हुए ईरान को पारसियों की माता और भारतभूमि को उनकी मौसी (मां की बहिन) बतलाया था, और कहा था कि मां के मर जाने पर मौसी ने हमें शरण दी । भारतीय तट पर आये हुए इन यहूदियों को अनेक स्थानों पर बसा दिया गया, किंतु उनका सबसे बड़ा उपनिवेश केरल के क्रंगानोर नामक स्थान में था । बाद में उस क्षेत्र के शासक राजा भास्कर रवि वर्मा ने उन्हें क्रंगानोर के आस-पास की बहुत-सी भूमि माफी में दे दी और यहूदियों ने वहां अपना एक छोटा-मोटा राज्य बना लिया जो अंजुवन्नस् के नाम से विख्यात था । स्पेन में जब यहूदियों पर अत्याचार हुए तो वहां से भी कुछ लोग भागकर भारत में आ गये और अंजुवन्नस् में रहने लगे । यहां वे प्राय: एक हज़ार वर्ष रहे । किंतु बाद में अरब समुद्री व्यापारियों से उनका झगड़ा हो गया और उन्होंने अपने आक्रमणों से उनका वहां रहना असंभव कर दिया । तब वे पंद्रहवीं शती में भाग कर कोचीन के राजा की शरण में चले गये । राजा ने बड़ी उदारता से उन्हें शरण दी । अपने महल के पास ही उन्हें रहने को एक विशाल भूखंड दे दिया। यहूदी अपने धर्म का पालन बड़ी निष्ठा से करते हैं । इसलिए उन्होंने इस स्थान पर १५६८ ई० में एक 'सिनागॉग' (उपासनागृह) बनवाया । चार सौ वर्ष पुराना यह सिनागॉग कोचीन के 'ज्यूटाउन' (यहूदी बस्ती) की पतली सड़क पर स्थित है। यह बहुत बड़ा नहीं है, किंतु जिस समय वह बनाया गया था उस समय काफी विशाल समझा जाता था । हमने इसे देखा है । उस समय बनाने वालों ने चीन से मंगाकर फर्श पर जो नीली चित्रकारी के 'टाइल' (Tiles) लगाये थे वे आज भी उसमें लगे हुए हैं । इन चार सौ वर्षों के बाद भी वे नये टाइलों के समान मालूम होते हैं । इसमें उस समय टांगा गया कांच का झाड़ (फानूस) भी मौजूद है। इस सिनागॉग की सबसे मूल्यवान् वस्तु बकरी के चमड़े पर छपी हुई

पुरानी बाइबिल के पांच अध्याय हैं । यह पुस्तक कई सौ वर्ष पुरानी है । आज के विशाल भवनों या दक्षिण के प्राचीन भव्य एवं विशाल मंदिरों की तुलना में यह छोटा-सा सादा भवन बहुत आकर्षक नहीं है, किंतु यह भारत की धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का एवं एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का जीवित स्मारक है । इसकी स्थापना की चौथी शती के उत्सव में सम्मिलित होकर भारत की प्रधानमंत्री ने भारतीय संस्कृति की उदारता की परंपरा का निर्वाह किया है ।

किंतु अब कोचीन में यहूदियों की संख्या मुट्ठी-भर रह गयी है । जब सोलहवीं शती में पुर्तगालियों ने पश्चिमी भारत तट पर आक्रमण किया तो अपनी धर्मान्धता के कारण उन्होंने अपने से भिन्न धर्मावलंबियों पर बड़े अत्याचार किये । आज के ईसाइयों में वह धर्मान्धता नहीं दीख पड़ती जो उन दिनों के रोमन कैथलिक ईसाइयों में थी । उस समय वे धार्मिक मान्यताओं की किसी बात पर मतभेद प्रकट करने को दूसरे ईसाइयों को भी जीवित जला देते थे । उन्होंने दक्षिण अमरीका में गैर-ईसाई आदिम निवासियों पर बर्बरता और निर्दयता से अत्याचार किये थे । दुर्भाग्य से उस समय ईसाइयों को यहूदियों से बड़ी चिढ़ थी । अतएव पुर्तगालियों ने कोचीन के यहूदियों पर काफी अत्याचार किये जिससे उनकी संख्या बहुत घट गयी । बीस-पचीस वर्ष पहले वहां उनकी संख्या दो हजार के लगभग रह गयी थी । जब इजराइल का यहूदी राज्य बना तब अधिकांश यहूदी वहां चले गये । अब कोचीन में सौ-पचास यहूदी ही रह गये होंगे । किंतु यह चार सौ वर्ष पुराना सिनागॉग हमें इतिहास के उस महत्त्वपूर्ण अध्याय की याद दिलाता है जिसमें भारत ने धार्मिक अत्याचार से पीड़ित अन्य धर्म के अनुयायियों को शरण देकर गले लगाया था । संसार के इतिहास में ऐसी उदारता, सहिष्णुता और विशालहृदयता के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं । आजकल के विषाक्त वातावरण में हमें भारत की धार्मिक सहिष्णुता की प्राचीन परंपरा की याद दिलाने में कोचीन का यह सिनागॉग बहुत सहायक होगा ।
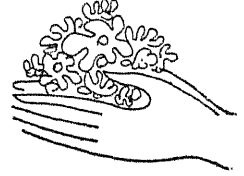
इलाहाबाद हाईकोर्ट का शताब्दी समारोह

नवंबर १९६६ में उसका शताब्दी समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया। राष्ट्रपति ने इस समारोह का उद्घाटन किया। इस अवसर पर एक प्रदर्शनी भी की गयी और भारत के मुख्य न्यायाधीश श्री सुब्बाराव ने उसे खोला। साथ में विधिविदों की एक विचारगोष्ठी हुई तथा कई सांस्कृतिक कार्यक्रम हुए जिनमें कवि सम्मेलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति श्री हरिश्चंद्रपति त्रिपाठी ने की। इसमें राज्य के कितने ही एडवोकेट-कवियों ने भी अपनी कविताएं सुनाकर श्रोताओं को आश्चर्यचकित कर दिया क्योंकि कानून ऐसे शुष्क विषय के व्यवसायियों में सामान्यत: काव्य के लिए जिस सरसता की आवश्यकता होती है, उसका होना दुर्लभ है। इस समारोह की एक बड़ी विशेषता यह थी कि भारत में पहली बार ऐसे उत्सव में विदेशों के कई न्यायाधीशों और विधिविदों ने भाग लिया।

इलाहाबाद हाईकोर्ट भारत का चौथा हाईकोर्ट है। कलकत्ता, मद्रास और बंबई के हाईकोर्ट इसके तीन वर्ष पहले ही बन गये थे। यह हाईकोर्ट आगरे में स्थापित हुआ किंतु दो-तीन वर्ष बाद इलाहाबाद स्थानांतरित कर दिया गया। जब अंग्रेजों ने अवध ले लिया तब वहां एक चीफ कोर्ट स्थापित किया गया। इस प्रकार उत्तर प्रदेश में बहुत दिनों दो उच्च न्यायालय काम करते रहे। कुछ वर्ष पूर्व चीफ कोर्ट इलाहाबाद हाईकोर्ट में मिला दिया गया, और राज्य में एक ही मुख्य न्यायालय हो गया। लखनऊ में उसकी एक शाखा काम करती है। आरंभ में इलाहाबाद में क्वींस रोड पर इसके लिए एक विशाल भवन बनाया गया था और उसके पास ही वकीलों के लिए एक भवन बाद में तैयार किया गया। किंतु कुछ वर्षों बाद यह विशाल भवन हाईकोर्ट के लिए छोटा पड़ गया। तब वर्तमान भवन बनाया गया जिसका उद्घाटन लार्ड चेम्सफोर्ड ने किया। उसके पुराने भवन

में अब इंस्पेक्टर जनरल पुलिस का कार्यालय है तथा वकीलों के भवन में उत्तर प्रदेश का माध्यमिक शिक्षा-परिषद् है।

इलाहाबाद हाईकोर्ट में आरंभ में एक मुख्य न्यायाधीश और पांच जज थे। उत्तर प्रदेश देश का सबसे बड़ा राज्य है और यहां के बहुत से जिलों में मुकद्दमेबाजी का रोग भी भयंकर रूप से है। नित्य नये कानूनों के बनने से मुकद्दमेबाजी वैसे भी इस देश में बढ़ रही है। अतएव उसका काम अप्रत्याशित रूप से बढ़ता गया और जजों में भी वृद्धि होती गयी। इस समय उसमें मुख्य न्यायाधीश को मिलाकर ३९ जज हैं। वह देश का सबसे बड़ा हाईकोर्ट है; किंतु फिर भी काम नहीं निबटता। वादों के निर्णय में वर्षों लग जाते हैं। इस समय उसमें पचास हजार के लगभग अनिर्णीत प्रकरण पड़े हुए हैं।

इलाहाबाद हाईकोर्ट को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसमें पहले भारतीय न्यायाधीश की नियुक्ति हुई। वे थे भी रास महमूद जो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खां के द्वितीय पुत्र थे। इलाहाबाद हाईकोर्ट के पहले भारतीय मुख्य न्यायाधीश सर शाह मुहम्मद सुलेमान थे।

इलाहाबाद हाईकोर्ट के वकीलों ने बड़ा नाम किया। पंडित अयोध्यानाथ, पं० सुंदरलाल, पं० मदनमोहन मालवीय, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, कायस्थ पाठशाला के संस्थापक मुंशी कालीप्रसाद, मुंशी रामप्रसाद बाबू, अविनाशचंद्र बनर्जी, बाबू प्यारेलाल बनर्जी, बाबू दुर्गाचरण बनर्जी आदि केवल विधि-आकाश के ही देदीप्यमान नक्षत्र नहीं थे; किंतु उन्होंने देश की उन्नति तथा स्वतंत्रता-संग्राम में भी अविस्मरणीय योगदान दिया।

स्वतंत्रता के बाद हाईकोर्टों का महत्त्व और भी बढ़ गया है। संविधान की व्याख्या करना उसका अत्यंत महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य हो गया है, और निरंकुश कार्यपालिका (एक्जिक्यूटिव) से संविधान का पालन कराना उसका ऐसा महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य हो गया है कि हमारे जनतंत्र का वह सबसे बड़ा रक्षक और पहरेदार बन गया है। नयी परिस्थिति में वह दो व्यक्तियों के बीच ही न्याय नहीं करता प्रत्युत शासकों और जनता के विवादों को भी वह न्याय की तुला पर तौलता है। वह जनता के अधिकारों का सबसे बड़ा प्रहरी है। इसके लिए न्यायाधीशों का निर्मम रूप से तटस्थ और निष्पक्ष होना परमावश्यक है। हमारे हाईकोर्टों ने अभी तक जिस निर्भीकता से यह कठिन कार्य किया है उससे हमें उस पर गर्व है, और हमें विश्वास है कि निर्भीकता की यह परंपरा अक्षुण्ण रहेगी तथा भारत का जनतंत्र सुरक्षित रहेगा। इसी आशा से और उसके एक सौ वर्ष के गौरवपूर्ण इतिहास के उपलक्ष्य में हम इलाहाबाद हाईकोर्ट को इस ऐतिहासिक अवसर पर हार्दिक बधाई देते हैं।

किंतु इस अवसर पर हमें इस बात की याद उभर आती है कि जिस न्याय

प्रणाली का मंदिर यह हाईकोर्ट है वह हमारी अपनी नहीं है। इस न्याय प्रणाली में अनेक गुण हैं, उसके सिद्धांत भी अच्छे हैं, किंतु उसमें इस देश की मिट्टी की गंध नहीं है। वह योरोप के रोमन और कॉमन लॉ पर आधारित है। वह यहां अंग्रेजों के साथ आयी और इस देश पर लाद दी गयी। आज तो वह हमारे मानस-पटल पर इतनी छा गयी है कि बहुत-से पढ़े-लिखे लोग भी यह समझने लगे हैं कि इस देश में न्याय या दंडविधान नाम की कोई चीज थी ही नहीं—सभी विवादों के निर्णय राजा, सुलतान या सूबेदार की निरंकुश मर्जी से किये जाते थे। उन्हें यह भी भ्रम है कि हमारे यहां न्याय-संबंधी पुस्तकें भी नहीं थीं। किंतु वास्तविकता यह नहीं है। अंग्रेजों के आने तक हिंदुओं के वाद (मुकदमे) हिंदू धर्म-शास्त्रों के आधार पर, और मुसलमानों की हदीस और शरीयत के अनुसार निर्णीत होते थे।

आरंभ में अंग्रेज जज भी पंडितों और मौलवियों की सहायता लेकर भारतीयों के वादों का निर्णय करते थे। महारानी अहिल्याबाई ने अपने समय के विद्वानों से न्यायालयों की सुविधा के लिए प्राचीन स्मृतियों और टीकाओं के आधार पर धर्मशास्त्र-विषयक एक बृहत् ग्रंथ तैयार कराया था जिसका नाम 'अहिल्याबाई कामधेनु' रखा गया था। संवत् १९३९ वि० में काशी के पंडित ढुंढिराज शास्त्री धर्माधिकारी ने उसे पुस्तकमाला के रूप में प्रकाशित करना आरंभ किया। साथ में वे उसका अति संक्षिप्त सारांश भी हिंदी में देते थे। उसके 'प्रसिद्ध पत्र' में शास्त्रीजी ने लिखा था—"बहुधा मनुष्य ऐसे हैं जो धर्म-शास्त्र के नाम से यही समझते हैं कि इसमें केवल ईश्वर की उपासना एवं पूजा-पाठ के विषय में लिखा है। इससे उनकी रुचि उसमें नहीं होती। यह नहीं जानते कि धर्मशास्त्र हमारा इस लोक-परलोक का अर्थ-साधक है। जन्म से मरण तक मनुष्य को किस तरह रहना चाहिए, पढ़ना-लिखना, कमाना, रुपयों का जमा-खर्च करना, ब्याह करना, पुत्र पैदा करना, उसको किस तरह रखना, यह सब बातें और सब संसार के काम विधिपूर्वक जिससे जाना जाय उसका नाम धर्मशास्त्र है।...सरकार ने व्यवहार विषय में अदालत की कार्रवाई में इसे ग्रहण किया है और अत्यंत विचार करके उसी धर्मशास्त्र के अनुसार हमारा न्याय होता है॥" (केवल विराम-चिह्न हमने पाठकों की सुविधा के लिए लगा दिये हैं।) अदालतों में मुकदमों का निर्णय धर्मशास्त्र के प्रमाणों के अनुसार होता था, इसलिए ढुंढिराज शास्त्री ने इसे छपाने की आवश्यकता समझी। यदि हमारे देश में अंग्रेजों ने पाश्चात्य कानून न चला दिया होता तो मुसलमानों के आने के बाद हमारे विधि (कानून) की व्याख्या और उसके विकास का जो क्रम रुक गया था वह ब्रिटिश शांतिकाल में फिर से जारी हो जाता।

'अहिल्या कामधेनु' की तरह विधि-संबंधी अनेक ग्रंथ रचे जाते और भार-

तीय विधि (कानून) का विकास होता। किंतु जब अंग्रेजों ने हाईकोर्ट बनाकर योरोपीय विधि इस देश में प्रचलित कर दी तब भारतीय विधि की आवश्यकता ही न रह गयी। केवल हिंदू उत्तराधिकार आदि के लिए मिताक्षरा आदि का सहारा लिया जाता रहा। देश की पराधीनता के साथ भारतीय विधिशास्त्र भी मृतप्राय हो गया।

इन हाईकोर्टों ने जो दूसरा अपकार किया वह अंग्रेजी भाषा का प्रचार और इस देश में उसकी जड़ को मजबूत करना था। इस देश में अंग्रेजी को जमाने वाला मैकाले इस देश का प्रथम विधि-सचिव था। उसने भारतीय दंड विधान (इंडियन पीनल कोड) अंग्रेजी में बनाया। उसके बाद सभी विधि-संहिताएं और अधिनियम (कानून) अंग्रेजी में बनाये जाने लगे। हाईकोर्टों के जज आरंभ में अंग्रेज ही हुआ करते थे। वे अंग्रेजी ही में बहस सुनते और अपने निर्णय भी अंग्रेजी में लिखते। हाईकोर्टों का सारा काम अंग्रेजी में होता। यहां तक कि नीचे की अदालतों से मुकद्मों के जो कागज भारतीय भाषाओं में आते, जजों की सुविधा के लिए उनका अनुवाद अंग्रेजी में कराया जाता और उन्हें छापकर जजों के सामने रखा जाता। इसका व्यय बेचारे मुकद्मा लड़ने वालों को देना पड़ता! न्याय पाना वैसे ही महंगा था, इस अनुवाद के व्यय के कारण गरीब प्रजा को वह और भी महंगा हो गया। अंग्रेजी में काम होने के कारण वकील अंग्रेजी में निष्णात हो गये। बाद के हिंदुस्तानी जज और वकील भी न्याय विभाग में अंग्रेजी की अनिवार्यता का राग अलापने लगे। हमारे संविधान बनाने वालों में इन्हीं लोगों का प्राधान्य था। अतएव संविधान में सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों में अंग्रेजी दिल्ली की कीली की तरह गहरी और मजबूत ठोंक दी गयी। न्याय में अंग्रेजी का एकाधिकार हो जाने के कारण भारतीय भाषाओं की प्रगति में जो बाधा पहुंची वह प्रत्यक्ष है। अतएव इस अवसर पर जब इलाहाबाद हाईकोर्ट के शताब्दी-समारोह का वर्णन करते समय उसके अच्छे कार्य की प्रशंसा कर रहे हैं तब हमें ये बातें भी याद आ जाती हैं कि हाईकोर्टों ने हमारे न्यायविधान को समाप्त करने और इस देश में दासता की यादगार अंग्रेजी भाषा को दृढ़ करने में बड़ा गहरा योगदान किया है।
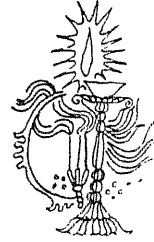
'आज' की स्वर्ण-जयंती

अगस्त १९७० में काशी के दैनिक 'आज' ने अपने महत्त्वपूर्ण जीवन के ५० वर्ष पूरे करके अपनी स्वर्ण-जयंती मनायी। इस समाचार से सारे हिंदी संसार को हार्दिक प्रसन्नता हुई क्योंकि 'आज' केवल समाचारपत्र ही नहीं, वह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक संस्था है। उसका इतिहास १९२० के बाद के भारतीय इतिहास का अंग है। वह हिंदी दैनिक पत्रकारिता का प्रथम सफल और चिरजीवी प्रयास है। वह हिंदी पत्रकारिता की अस्मिता, तेजस्विता, विचार-स्वातंत्र्य और सांस्कृतिक मूल्यों की विवेकशील अभिव्यक्ति का जीता-जागता उदाहरण और स्मारक है। उसने हिंदी भाषा के परिमार्जन में—विशेषकर पत्र-कारिता की शब्दावली के क्षेत्र में—जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन करना कठिन है। अपने उत्तरवर्ती हिंदी दैनिकों के लिए उसने एक अनुकरणीय आदर्श का कार्य किया। उसने राष्ट्रीय आंदोलन को बल दिया तथा यह दिखला दिया कि हिंदी पत्रकारिता कितनी ऊंचाई तक जा सकती है।

वह इतनी महत्त्वपूर्ण सेवाएं क्यों कर सका? इसके मुख्य कारण उसके संस्थापक स्वर्गीय देशरत्न और दानवीर बाबू शिवप्रसाद गुप्त का अगाध राष्ट्र-प्रेम, हिंदी-निष्ठा, विशाल एवं उदार हृदय, दूरदर्शी कल्पना और शिव संकल्प हैं। देश ने इस शती के पूर्वार्द्ध में विभिन्न क्षेत्रों में अनेक महान् पुरुष उत्पन्न किये, किंतु उसने एक ही शिवप्रसाद गुप्त उत्पन्न किया। इस छोटी टिप्पणी में गुप्त जी का गुणानुवाद करने का अवकाश नहीं है। इस समय तो हम केवल उनका स्मरण कर और उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करके अपने कर्त्तव्य का एक अंश ही पूरा कर सकते हैं। काशी विद्यापीठ, भारतमाता का मंदिर, ज्ञानमंडल और 'आज' उनके स्थायी स्मारक हैं। किंतु उन स्मारकों के लिए हमने कुछ नहीं किया। क्या राष्ट्र ने ऐसे महान् और उदार राष्ट्र-सेवक के प्रति अपनी

कृतज्ञता को किसी मूर्त रूप में प्रकट किया ? हिंदी संसार ने उनके समान दृढ़ हिंदीनिष्ठ, महान् हिंदी-प्रचारक और हिंदी-हितैषी की स्मृति में अपनी श्रद्धा के कौन-से फूल चढ़ाये ? आज तक किसी साहित्यकार या राजनीतिज्ञ ने (और उन्होंने असंख्य साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों की सहायता की थी) उनका कोई अच्छा जीवनचरित्र भी नहीं लिखा। और तो और, काशी में भी उनकी मूर्ति तक किसी सार्वजनिक स्थान में स्थापित नहीं की गयी। भारत सरकार प्रतिवर्ष दर्जनों स्मारक टिकट निकालती है, किंतु 'आज' की स्वर्ण-जयंती के अवसर पर भी उसके संस्थापक का स्मारक टिकट निकालने की बात उसे नहीं सूझी। वे इतने निस्पृह, और मान-सम्मान की भावना से इतने ऊपर थे कि ऐसे आदर-सम्मान की बात भी उनके मन में नहीं आ सकती थी। किंतु क्या हमने उनके प्रति अपना कर्त्तव्य किया ? हमें विश्वास है कि यदि उनका जीवनचरित्र उचित ढंग से लिखा जाय तो वह आज के आपाधापी और स्वार्थपरता के तिमिराच्छन्न काल में कितने ही लोगों (और विशेषकर नवयुवकों) को प्रेरणा, मार्गदर्शन, प्रकाश और आदर्श दे सकेगा।

'आज' की सफलता का दूसरा कारण उसका यह सौभाग्य था कि स्वर्गीय पंडित बाबूराव विष्णु पराड़कर उसके संपादक थे। उनके लाने का श्रेय भी गुप्त जी ही को था, इससे भी अधिक श्रेय उन्हें इस बात का था कि उन्होंने पराड़-करजी को 'आज' के संपादन में पूरी और अबाध स्वतंत्रता दे रखी थी। हिंदी में जो पत्र ऐतिहासिक सेवा कर सके (जैसे, आज, हिंदी केसरी, प्रताप, सरस्वती आदि) उसका प्रमुख कारण (यद्यपि एकमात्र कारण नहीं) यह था कि इनमें संपादकों को पूरी स्वतंत्रता थी। यह भी उल्लेखनीय है कि संपादकीय स्वतंत्रता पाने वाले किसी हिंदी पत्र के संपादक ने उस स्वतंत्रता का कभी दुरुपयोग नहीं किया। अतएव गुप्तजी और पराड़करजी का सहयोग 'मणि-काञ्चन' योग था। और इसी कारण हिंदी संसार को 'आज' के समान अमूल्य नगीना प्राप्त हो सका। पराड़करजी ने 'आज' को उसका व्यक्तित्व दिया। उन्होंने हिंदी पत्रकारिता की भाषा के मानक स्थिर किये, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उन्होंने अपने सहयोगियों को अपना 'अधीनस्थ' कर्मचारी न समझ कर अपना 'छोटा भाई' समझा था, और तदनुरूप व्यवहार करके उनका मार्गदर्शन किया था।

'आज' से अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का संबंध रहा। गर्देजी, श्रीप्रकाशजी, डा० सम्पूर्णानंदजी, खाडिलकरजी, बेढबजी, अशोकजी, विद्याभास्करजी, रुद्रजी, बेधड़कजी, भैयाजी आदि अनेक स्वर्गीय और विद्यमान सज्जनों के नामों की शृंखला मानस-पटल पर खुलने लगती है। इन सभी ने अपने-अपने ढंग से 'आज' को उस समय का हिंदी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक बनाने में सहयोग दिया।

इस अवसर पर 'आज' का स्वर्ण-जयंती विशेषांक भी निकाला गया था। वह

सुंदर, उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक था, किंतु हमारी सम्मति में स्वर्ण-जयंती अंक स्थायी महत्त्व के होते हैं—विशेषकर 'आज' के समान पत्र के। उसे पुस्तकाकार रूप में निकलना चाहिए था। जिससे उसे स्थायी रूप से निजी संग्रहों में तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों में सुरक्षित रखा जा सकता। इस अंक में अनेक महत्त्व-पूर्ण लेख हैं और इनसे गुप्तजी तथा 'आज' के इतिहास की बहुत सी बातें मालूम होती हैं। किंतु फिर भी हमारे समान लोगों की तृप्ति नहीं हुई। बहुत कुछ जो कहने योग्य था, वही 'अनकहा' रह गया है। हमारे सुझाव पर १९३७ या १९३८ में 'आज' का एक साप्ताहिक संस्करण निकाला गया था जो बड़ा लोकप्रिय हुआ था, और कई वर्षों तक प्रकाशित होता रहा। 'आज' के इतिहास में उसकी चर्चा पर हमारी दृष्टि नहीं पड़ी।

इस अवसर पर 'आज' को हमारी हार्दिक बधाई! मनुष्यों के लिए 'शतं-जीवी' होने की कामना की जाती है, किंतु 'आज' मनुष्य नहीं, संस्था है। हम उसके 'सहस्र वर्ष जीवी' होने की हार्दिक कामना करते हैं। उसका संचालन इस समय गुप्तजी के उत्तराधिकारी और दौहित्र श्री सत्येन्द्र प्रसन्न गुप्त के कुशल और कर्मठ हाथों में है। वे गुप्तजी की परंपराओं से परिचित ही नहीं, उनसे अनुप्राणित भी हैं। हमें विश्वास है कि उनके कुशल संचालन और प्रबंध में हिंदी के साहित्यिक केंद्र और 'ब्रह्मविद्या की राजधानी' का यह हिंदी दैनिक हिंदी का राष्ट्रीय महत्त्व (नेशनल) का दैनिक हो जायेगा जिसका एकाधिकार इस समय दिल्ली के समाचार-पत्रों को प्राप्त है।
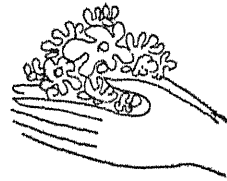
विश्व हिंदी सम्मेलन

हिंदी-जगत की महत्त्वपूर्ण घटना

कुछ लोगों का कहना है कि अब चमत्कारों (मिराकिल्स) का युग नहीं रहा, किंतु जनवरी में नागपुर में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन ने इसे भ्रम

प्रमाणित कर दिया है। वह एक चमत्कार था। उपेक्षिता हिंदी का भी ऐसा विशाल सम्मेलन हो सकता है और प्रबुद्ध जनता उसमें इतना उत्साह दिखलायेगी —इसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी। वास्तव में वह एक सारस्वत महायज्ञ था जिसने हिंदी की नैसर्गिक शक्ति, विस्तार और उसके प्रति भारत तथा विदेशों के लोगों के प्रेम को प्रमाणित कर अश्रद्धालु और संदेहग्रस्त लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। उसके पीछे निष्ठा और प्रभु की प्रेरणा एवं कृपा थी जैसा कि उसके समापन के समय गाये गये संत ज्ञानेश्वर के एक पद के आरंभ में कहा गया था :

आता विश्वात्मके देवे, येणे वाग्-यज्ञे तोषावे
तोषोनि मज द्यावे, पसाय-दान हे,

(हे विश्वव्यापी ईश्वर, तेरी ही कृपा से यह वाणीरूपी यज्ञ करने में सफल हो गया हूं। अतः तेरे ही चरणों में इसे अर्पित कर रहा हूं।)

वास्तव में सत्कर्म की सफलता में भगवान् की सहायता में अटल विश्वास मनुष्य मात्र की मौलिक एकता और उस एकता को स्थापित करने में हिंदी की सामर्थ्य में अनन्य विश्वास ही इस चमत्कार की कुंजी थे। और वह यज्ञ किसी को प्रसन्न करने के लिए नहीं, प्रभु को समर्पित—उनको और हिंदी को—समर्पित था।

इस सम्मेलन की एक बहुत बड़ी और उल्लेखनीय विशेषता थी : यह विश्व हिंदी सम्मेलन अहिंदीभाषी देशवासियों ने एक अहिंदीभाषी क्षेत्र में इतनी शान और सफलता से किया और वे देश के प्रत्येक भाग और प्रत्येक भाषा के मनीषियों का सहयोग प्राप्त करने में सफल हुए। यह महान उत्सव हिंदी का था, पर तथाकथित हिंदीवालों का नहीं था। इससे यह सूर्य के समान प्रकाशित हो गया कि वास्तव में देश के अहिंदीभाषी क्षेत्रों में हिंदी के प्रति कितनी प्रगाढ़ और विस्तृत सुप्त और अप्रकाशित एवं अप्रचारित सद्भावना है। इसने उस अविज्ञापित और कम जानी हुई व्यापक सद्भावना को प्रकाश में लाकर बहुत बड़ा काम ही नहीं किया प्रत्युत हिंदी कार्यकर्त्ताओं को प्रेरणा देकर उनके मन में एक नवीन आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया। अपने ही क्षेत्र में जो वास्तविक हिंदीप्रेमी, एक ओर सरकार की हिंदी के प्रति उदासीनता से, और दूसरी ओर तथाकथित अवसरवादी किंतु चतुर और सरकार की कृपा से हिंदी संस्थाओं की दुर्दशा करने वालों के आपत्तिजनक क्रिया-कलाप से हतोत्साहित हो गये थे और जिनका मनोबल गिर गया था, उनमें आशा की एक किरण उत्पन्न हुई।

इस सम्मेलन की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इतिहास में पहली बार विदेशों में बसे हिंदीभाषियों को निमंत्रित कर उन्हें अपने पूर्वजों की भूमि और उनकी भाषा का दिग्दर्शन कराना तथा उन्हें भारतीय संस्कृति के गौरव,

हिंदी भाषा की शक्ति और उन्नति से परिचित कराना था। यह बृहत् 'भरत-मिलाप' था। उन विदेशी हिंदीभाषियों के पूर्वज अधिकतर कुलियों के रूप में उन देशों में ले जाये गये थे जहां उन्हें एक अजनबी संस्कृति, भाषा और वातावरण में कष्टमय जीवन बिताना पड़ा, किंतु वे अपने साथ तुलसीदास की रामायण, हनुमान-चालीसा और गीता ले गये थे। गीता तो वे अशिक्षित कुलीगीरी करने वाले समझ नहीं सकते थे। उनमें से कोई-कोई धार्मिक दृष्टि से उसका पारायण कर लेते थे, किंतु रामायण ने उनकी भाषा, उनके धर्म, उनकी भारतीय संस्कृति और नैतिकता को जीवित रखा। रामायण की शक्ति, प्रभाव और महत्त्व का इससे बड़ा प्रमाण और कौन-सा मिल सकता है ? सुरीनाम, त्रिनिडाड, गुयाना, फीजी, मारिशस आदि के प्रतिनिधियों ने यह बात बार-बार और बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में कही। कितने ही भारतीय यह नहीं जानते थे कि उनके कितने सहभाषाभाषी विदेशों में रहते हैं और वे कितनी निष्ठा और प्रेम से रामायण के माध्यम से इतनी शतियों से अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपने मनोबल को अक्षुण्ण रखे हुए हैं। उन्होंने बार-बार शिकायत की कि हम भारतवासी उन्हें भूल गये, हमने उन हिंदीभाषियों की कभी सुधि नहीं ली। उनकी शिकायत इतनी सही थी कि हिंदी के ठेकेदारों के पास उसका कोई उत्तर न था। उनमें जो सहृदय, न्यायप्रिय और समझदार थे, वे सिवाय लज्जित होने के क्या कर सकते थे ? किंतु अब जब इस सम्मेलन ने यह स्थिति स्पष्ट कर दी है, तब हिंदी के नेताओं को अपनी कर्त्तव्यहीनता और भूलों का परिहार करने के लिए ठोस और व्यावहारिक कार्य करके इस पाप का प्रायश्चित करना चाहिए। यहां यह कह देना असंगत न होगा कि स्वामी कृष्णानंदजी की तरह दो-चार सहृदय और दूरदर्शी लोगों ने कुछ काम अवश्य किया, किंतु वह सब व्यक्तिगत स्तर पर और छुटपुट था। आवश्यकता इस बात की है कि अब यह काम योजनाबद्ध और स्थायी रूप से किया जाय।

इस सम्मेलन में दो बातें और उभरकर सामने आयीं—एक तो हमारे दूतावासो में हिंदी का प्राय: संपूर्ण बहिष्कार और दूसरा विदेशियों द्वारा भारत में आकर हिंदी की उपेक्षा और अंग्रेजी के वर्चस्व को देखकर आश्चर्य करना और दु:खी होना। पहले का पूर्ण उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है। उसका विदेशी मंत्रालय पूर्णरूप से हिंदी-विरोधी है। राजदूत और राजदूतावासों के कार्यकर्त्ता या तो हिंदी जानते ही नहीं, या कम या अधिक हिंदी जानते हुए भी इसकी जानबूझकर उपेक्षा करते हैं। कई बर्ष हुए हमारे एक मित्र इटली गये थे। उन्होंने बतलाया कि रोम के भारतीय दूतावास के कई दर्जन अधिकारियों में केवल एक व्यक्ति हिंदी जानता था और परम आश्चर्य यह था कि वह भारतवासी नहीं, एक इटालवी था। महायुद्ध में वह भारत में था और चूंकि इटली ब्रिटेन से लड़ रहा था, शत्रु देश.

का नागरिक होने के कारण वह पकड़ कर देवली के विदेशी बंदी-शिविर में कैद कर लिया गया था। समय बिताने के लिए उसने वहां हिंदी सीखी थी । स्वतंत्रता के बाद जब हमारा दूतावास इटली में खुला, तब वह वहां स्थानीय क्लर्क के रूप में ले लिया गया । हिज ऐक्सलेंसी राजदूत महोदय एक भारतीय आई० सी० एस० आफिसर थे जो अपनी अंग्रेजियत के कारण विदेश सेवा में ले लिये गये थे । यद्यपि वे उत्तर भारत के थे तथापि उन्हें आई० सी० एस० सुलभ हिंदी से घृणा थी । एक दूसरा उदाहरण एक अन्य मित्र ने बतलाया । वे अमरीका गये थे और कैलिफोर्निया-स्थित भारतीय कांसलेट में किसी काम से गये । वहां कार्यालय के मुख्य द्वार पर नामपट्ट लगा था जिसके ऊपरी भाग में सिंहवाला भारत का राजचिह्न अंकित था, किंतु उसके नीचे का आदर्श वाक्य 'सत्यमेव जयते' अशुद्ध लिखा था । कांसल महोदय का ध्यान इस भयंकर भूल की ओर आकर्षित किया गया, किंतु उन्होंने 'इट इज नॉट मैटर' (इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं) कहकर टाल दिया । वे एक अहिंदीभाषी क्षेत्र के थे और देवनागरी लिपि से भी अपरिचित थे । जब हमारी सरकार ऐसे अंग्रेजी फ़ैनेटिक्स और हिंदी क्या देवनागरी लिपि से भी अपरिचित व्यक्तियों को उनकी पाश्चात्य वेशभूषा, पाश्चात्य रहन-सहन और अंग्रेजी की नकल के उच्चारण के बल पर चुनती है, तब वे विदेशों में भारतीय संस्कृति या भाषा के संबंध में विदेशियों की क्या धारणा बनायेंगे—यह कल्पना करना कठिन नहीं है । अवश्य ही विदेश विभाग से बाहर भेजे जाने वालों में कुछ अपवाद भी हैं, किंतु एक तो वे बहुत कम हैं, दूसरे विदेश मंत्रालय की अंग्रेजीपरस्ती के कारण उन्हें अपने सांस्कृतिक ज्ञान या राजभाषा की जानकारी का उपयोग करना कठिन हो जाता है। विदेशियों की यह शिकायत भी थी कि उनके हिंदी बोलने के बावजूद हिंदीभाषी उनसे अंग्रेजी में बात करते हैं । इसका एक मजेदार उदाहरण हमने इसी सम्मेलन में स्वयं देखा । हमारे एक वरिष्ठ हिंदी के प्रोफेसर विदेश में कुछ दिनों हिंदी की 'प्रोफेसरी' कर आये थे । संयोग से उनके परिचित उस देश के एक हिंदी प्रोफेसर इस सम्मेलन में प्रतिनिधि होकर आये थे । उनको देखते ही हमारे प्रोफेसर उनकी ओर बढ़े और तपाक से हाथ मिलाने के लिए हाथ बढ़ाकर बोले, "Hello Professor, how do you do ?" उस विदेशी प्रोफेसर ने प्रांजल हिंदी में उत्तर दिया, "आप की कृपा है । आप कैसे हैं ?" इस संभाषण को सुनकर हमारा चेहरा लज्जा से विवर्ण हो गया । जब हिंदी से रोटी-रोजी कमाने वालों का यह हाल है, तब सामान्य तथाकथित शिक्षित लोग यदि हिंदी जाननेवाले विदेशियों के हिंदी में किये प्रश्नों का उत्तर अंग्रेजी में देते हैं तो कौन सी आश्चर्य की बात है ? रहा बाजारों में (जैसे कनाट प्लेस में) दूकानों या निजी मकानों में अंग्रेजी नामपट्टों का बाहुल्य । यह देश में भाषा का वातावरण बनाता है, जिसका अप्रत्यक्ष प्रभाव

लोगों में भाषा-चेतना उत्पन्न और दृढ़ करने और भाषा के लिए वातावरण बनाने के लिए अत्यंत सहायक होता है। जब इस मनोवैज्ञानिक और सहज बुद्धि की सामान्य बात डॉ० लोहिया और सोशलिस्ट दल ने कही और अंग्रेजी साइनबोर्डों पर तारकोल पोतने की योजना बनाई तब अंग्रेजी फैनेटिक्स ही नहीं, कितने ही अन्य दलों के तथा अंग्रेजी से प्रभावित लोगों ने भी इसका विरोध किया। निजी दूकानदार और संस्थान यदि अंग्रेजी की अपनी भक्ति का इतना सार्वजनिक प्रदर्शन करके हिंदी-वातावरण बनने में इतनी बाधा उत्पन्न करते हैं, तो क्या किया जाय? हिंदीभाषी उद्योगपतियों, जैसे बिड़ला, जे० के०, जैपुरिया, मोदी आदि की निजी बहियां चाहे मुड़िया में लिखी जाती हों (जिसका हमें ज्ञान नहीं है) किंतु उनके संस्थाओं के कार्यालयों का सारा काम, पत्राचार, अंग्रेजी में ही होता है। उनके कार्यालयों में जाने से मालूम होता है कि हम इंग्लैंड के किसी कार्यालय में पहुंच गये हैं। एक बड़े उद्योगपति ने तो अपने कार्यालय के अधिकारियों को अंग्रेजी परिधान में आना अनिवार्य कर दिया था। हमने यह कई वर्ष पूर्व देखा था। पता नहीं कि वह अनिवार्यता अब भी चल रही है या नहीं। ये संस्थान अपने अधिकांश विज्ञापन भी अंग्रेजी में देते हैं और यदि कुछ हिंदी में दिये भी तो अधिकतर अपने और अपने मित्र उद्योगपतियों के हिंदी पत्रों में। वह भी इन पत्रों की आय बढ़ाने के लिए। यही नहीं, हमारे विश्वविद्यालयों में भी अधिकांश काम अंग्रेजी में होता है क्योंकि वे अंग्रेजीपरस्तों के गढ़ हैं। उत्तर प्रदेश में केवल माध्यमिक शिक्षा परिषद् ही ऐसी शिक्षा संबंधी संस्था है जिसका काम हिंदी में होता है। यही नहीं, अंग्रेजी का इस देश में इतना दबदबा है कि हमसे हमारे एक मित्र ने बताया कि ज्ञानपीठ के पिछले पुरस्कार-वितरण हमारोह में भी अध्यक्षीय भाषण अंग्रेजी ही में दिया गया। श्री बेंदरे की प्रशस्ति हिंदी में और श्री महंती की अंग्रेजी में पढ़ी गयी, किंतु कृपाकर उसका अनुवाद हिंदी में भी वितरित किया गया। दो अधिकारियों ने समारोह के अंत में धन्यवाद दिया। दोनों ही ने वह केवल अंग्रेजी में दिया। जब ज्ञानपीठ ऐसी संस्था अपना कार्य पूर्णतः राष्ट्रभाषा में न करके अंग्रेजी से इतनी चिपकी हुई है तो सरकारी और अर्द्ध-सरकारी सांस्कृतिक संस्थाओं में हिंदी का प्रयोग न करने के लिए टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है। अतएव विदेशी प्रतिनिधियों ने इस देश में हिंदी की उपेक्षा और अंग्रेजी के प्रचलन की जो शिकायत की वह बहुत ठीक थी।

हिंदी के अवमूल्यन की मुख्य दोषी सरकार है। श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि भारत में १४ राष्ट्रभाषाएं हैं। प्रत्येक विद्यार्थी को तीन भाषाएं पढ़नी चाहिए—मातृभाषा, एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा जो इस देश में अंग्रेजी उपयुक्त है और संपर्क भाषा अर्थात् हिंदी। हिंदी के लिए उनके

'संपर्क भाषा' के प्रयोग से हमें आश्चर्य हुआ। राष्ट्रभाषा, राजभाषा और संपर्क भाषा के अलग-अलग अर्थ हैं। संविधान के अनुसार हिंदी भारत की राजभाषा है। जब सरकार की प्रधान मंत्री हिंदी को 'राजभाषा' न कहकर संपर्क भाषा कहती हैं तब हम इसे हिंदी का अवमूल्यन और संविधान के विरुद्ध समझते हैं। यदि वह 'संपर्क भाषा' मात्र है, उसका उपयोग देश के भीतर के क्षेत्रों में आपसी संपर्क के लिए ही है तो उसके प्रयोग को सरकार, विदेश मंत्रालय और राजदूतावासों में होने का कोई औचित्य नहीं। किंतु यदि वह भारत की 'राजभाषा' है (जिसे हम संविधान के अनुसार राजभाषा मानते हैं) तो राजदूतावासों में उसका उपयोग अनिवार्य है। अब रही संपर्क भाषा। वह तो जहां तक हमारी सरकार और तथाकथित भारतीय शिक्षित वर्ग एवं अधिकारियों का प्रश्न है, आज वास्तविक रूप से अंग्रेजी है। तब हिंदी किनके लिए संपर्क भाषा होगी? जहां तक अशिक्षित जनता का संबंध है, हिंदी शतियों से—बिना सरकार की सहायता, प्रोत्साहन और प्रयास के—देश की संपर्क भाषा बनी हुई है। इसके लिए उसके प्रोत्साहन देने या न देने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हमारी सरकार ने हिंदी का इतना अवमूल्यन कर दिया है कि उसके दल—कांग्रेस—के अधिवेशनों में उसका जितना प्रयोग बीस साल पहले होता था उसका अब मुश्किल से २०-२५ प्रतिशत होता है। हिंदी की वर्तमान अवस्था का मुख्य कारण भारत सरकार है क्योंकि 'राजा कालस्य कारणम्।' यदि वह हिंदीनिष्ठ हो, हिंदी में काम करे और यदि वह हिंदी का 'फैशन' चला दे तो अधिकारी, शिक्षित वर्ग, निजी संस्थान आदि सब उसकी नकल करने लगें। किंतु केवल सरकार को दोष देकर हिंदी-हितैषी और हिंदी-कार्यकर्ता अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकते। उन्हें जनता को जाग्रत कर उसमें हिंदी-चेतना उत्पन्न करके उसके द्वारा इस अंग्रेजीपरस्त सरकार को उसका विधिसम्मत स्थान और अधिकार देने के लिए अथक परिश्रम करना होगा।

इस सम्मेलन से जो एक और बात देशवासियों को मालूम हुई वह यह कि विश्व के ९० से अधिक विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा दी जाती है। विदेशों के हिंदी ज्ञाताओं का स्तर कितना ऊंचा है और उन्हें हमारी भाषा पर कितना अधिकार है यह अमरीकी, पश्चिमी योरोप, सोवियत रूस, अन्य साम्यवादी देशों तथा जापान आदि के प्रतिनिधियों के भाषणों से प्रत्यक्ष हो गया। श्रोताओं को उनकी प्रांजल भाषा और धारा-प्रवाह भाषणों को सुनकर आश्चर्य और हर्ष हुआ। इतने देशों में हिंदी के उच्च शिक्षण से यह स्पष्ट हो गया कि चाहे हम और हमारी सरकार दिये तले अंधेरे के समान हिंदी के महत्त्व को न समझें, किंतु विदेशों ने उसके महत्त्व को भली भांति समझ और मान लिया है।

एक और उल्लेखनीय बात इस सम्मेलन में भारत की चौदह भाषाओं के

प्रतिनिधियों की उपस्थिति और प्रत्येक के एक-एक शीर्षस्थ विद्वान् का सम्मान करना था। इससे स्पष्ट हो गया कि हिंदी सब भारतीय भाषाओं का आदर ही नहीं करती, उनके प्रति उसमें सद्भावना भी है, तथा दूसरी ओर उन भाषाओं में भी हिंदी के प्रति काफी सद्भावना है। कहीं-कहीं निहित स्वार्थ के लोगों में जो हिंदी का विरोध है, उसे हमारे अंग्रेजी समाचारपत्र बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रकाशित करते हैं क्योंकि इन अंग्रेजीपरस्त अंग्रेजी समाचार-पत्रों का अंग्रेजी के प्रचार और हिंदी के दबाने में निहित स्वार्थ है।

एक और महत्त्वपूर्ण बात जिस पर बल दिया गया वह देवनागरी लिपि का प्रचार था। यों तो १९०५-६ में बंगाल के न्यायमूर्ति स्व० श्री शारदाचरण मित्र ने 'देवनागर' नामक मासिक पत्र निकाल कर देवनागरी लिपि में भारतीय भाषाओं को छाप कर इसकी व्यवहारिकता प्रमाणित कर दी थी, तथा बाद में संसदीय हिंदी परिषद् ने भी उसे पुनर्जीवित कर श्री मन्नूलाल द्विवेदी के संपादकत्व में यह काम किया था। आज भी लखनऊ से श्री नन्दकुमार अवस्थी अपने 'वाणी सरोवर' नामक त्रैमासिक में अन्य भारतीय भाषाओं के ही नहीं प्रत्युत अरबी और फारसी के गौरव ग्रंथों को भी देवनगरी लिपि में हिंदी अनुवाद समेत निकालकर बड़ा उपयोगी कार्य कर रहे हैं, किंतु दूसरी भाषाओं को अपनी लिपियों के अतिरिक्त देवनागरी में लिखने का अभियान आचार्य विनोबा भावे ने योजनाबद्ध रूप से चलाया है और उनका सर्वोदय संघ इस महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रचार कर रहा है। योरोप में (रूसी भाषा को छोड़ कर) सभी भाषाएं एक (ही रोमन) लिपि में लिखी जाती हैं। नयी भाषा सीखने वालों को दो कठिनाइयां होती हैं : पहली, उसकी लिपि का सीखना और फिर भाषा का सीखना। योरोप में सर्वत्र एक लिपि होने के कारण पहली कठिनाई नहीं होती, इसलिए दूसरी भाषाओं को सीखना अपेक्षाकृत सरल होता है। इसीलिए वहां अनेक व्यक्ति कई योरोपीय भाषाएं सरलता से सीख लेते हैं। यदि सब भारतीय भाषाओं की पुस्तकें देवनागरी में उपलब्ध होने लगें तो उनका सीखना सरल हो जाय क्योंकि देश का अधिकांश भाग (हिमाचल, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात) उससे भली भांति परिचित है। भारत की एकता के लिए यह परम आवश्यक है। अतएव इस सम्मेलन ने देश की सभी भाषाओं के लिए नागरी लिपि के वैकल्पिक उपयोग पर बल देकर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

केंद्रीय विदेशमंत्री श्री चह्वाण की अध्यक्षता में जो गोष्ठी हुई। उसमें राष्ट्र-संघ में उसके उपयोग की भाषाओं में हिंदी को भी मान्यता दिलाने पर देश और विदेश के प्रतिनिधियों ने बल दिया। फीजी के एक मंत्री ने इस संबंध में प्रस्ताव भी रखा, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया, किंतु विदेशों के—विशेषकर हिंदी-

भाषी विदेशों के—प्रतिनिधियों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि भारत सबसे बड़ा हिंदी-भाषी देश है, और राष्ट्रसंघ में उसे ही इस मामले को उठाना चाहिए। उन्होंने तथा अन्य देशों (जैसे रूस, जर्मनी आदि) के प्रतिनिधियों ने आश्वासन दिया कि उनके देश राष्ट्रसंघ में इस प्रस्ताव का समर्थन करेंगे। अतएव राष्ट्रसंघ में हिंदी को स्थान दिलाने की पहल करने का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है। आज की भारत सरकार भले ही कभी-कभी संविधान में राजभाषा के रूप में स्वीकार होने के कारण हिंदी के संबंध में मीठी-मीठी बातें कर दे, कुछ प्रपत्र, परिपत्र, कुछ साइनबोर्ड, कुछ आदेशों और अध्यादेशों और विधेयकों के अनुवाद हिंदी में निकाल दे तथा सूचना विभाग से पुस्तकें—विशेषकर सरकारी प्रचार संबंधी पुस्तकें—भी हिंदी में निकाल दे, किंतु यह बात गोपनीय नहीं है कि उसका अधिकांश कार्य मुख्य रूप से आज भी अंग्रेजी में होता है। सेवा आयोग में उसकी स्थिति सर्वविदित है। कुछ 'सरकारी साहित्यकारों' को छोड़कर उसकी हिंदी-निष्ठा में सामान्य हिंदी वाले को (चाहे वे हिंदीभाषी या अहिंदीभाषी हों) व्यापक संदेह है। इसलिए हमें यह विश्वास नहीं कि वह इस संबंध में कोई प्रभावी कार्य करेगी, और करे भी तो स्वयं उसके प्रतिनिधियों में (जो राष्ट्र-संघ में जाते हैं) कितने हैं जो हिंदी में भाषण दे सकते हैं और जो दे भी सकते हैं उनमें से कितने हिंदी में भाषण देना पसंद करेंगे ? किंतु यह स्थिति सदैव नहीं बनी रहेगी। शीघ्र या देर में देश का स्वाभिमान जागेगा और वह अपनी सरकार और अपने प्रतिनिधियों को वहां हिंदी बोलने को विवश करेगा। अत-एव राष्ट्रसंघ में हिंदी को मान्यता दिलाना आवश्यक है और इसके लिए सरकार पर दबाव डालना परमावश्यक है।

एक गोष्ठी में कहा गया है कि संसद में हिंदीभाषा सदस्य भी बहुधा अंग्रेजी में बोलते हैं, और हमारे कितने ही नेता और छोटे-बड़े नौकरशाह, बड़े उद्योग-पति अपने बच्चे को पब्लिक या अन्य अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में शिक्षा देते हैं। इससे इस देश में अंग्रेजी की जड़ ही मजबूत नहीं होगी, भविष्य में भी कार्य अंग्रेजी में होता रहेगा क्योंकि इसी वर्ग के लोगों के बच्चे अपने अंग्रेजी ज्ञान के कारण भविष्य में सेवा आयोग द्वारा उच्च सेवा के पदों पर चुने जायेंगे। अतएव अंग्रेजी को बनाये रखने में उनका निहित स्वार्थ होगा। हमारा मत है कि ऐसे लोगों की काली सूचियां (ब्लैक लिस्ट) बनाकर जनता में प्रचारित करके उनकी करतूतों को खोलना चाहिए और इस बात का प्रचार करना चाहिए कि कम-से-कम हिंदीभाषी क्षेत्रों के उन सदस्यों का जो संसद में हिंदी में भाषण नहीं देते, विरोध किया जाय। पब्लिक स्कूलों और अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों को हिंदी माध्यम उपयोग में लाने के लिए भी बाध्य करने का व्यापक और प्रभावी अभियान चलाना आवश्यक है।

इस सम्मेलन के साथ कई गोष्ठियां भी हुईं जिनका विवरण देना इस टिप्पणी में संभव नहीं है, किंतु वे सभी उपयोगी थीं और उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण बातें उभर कर सामने आयीं।

इस सम्मेलन की कल्पना राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, वर्धा ने की थी। इसके लिए उसकी जितनी प्रशंसा की जाय वह कम है। आचार्य विनोबा भावे का भी आशीर्वाद उसे प्राप्त था। किंतु सौभाग्य से उसके वास्तविक कार्यकर्ता कर्मठ, कल्पनाशील, व्यावहारिक और स्वप्नदर्शी एवं आदर्शवादी थे। हिंदी के द्वारा विश्वबंधुत्व और सारे विश्व के कल्याण की भावना इसका मूलमंत्र था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इसका आदर्श था। स्वप्नदर्शी ही संसार को बदलने में समर्थ होते हैं, क्योंकि जिस स्वप्न की वे कल्पना करते हैं वह चाहे उनके जीवन में साकार न हो, पर वह जनता के हृदयों में घर कर लेता है और उसके सामने एक आदर्श और एक लक्ष्य रख देता है, जिसकी ओर वह कभी मंथर गति से, और कभी द्रुत गति से बढ़ती है और कालांतर में उसे प्राप्त कर लेती है। यह सम्मेलन ऐसे कार्यकर्ताओं को प्राप्त करने में बड़ा भाग्यशाली था। यही कारण है कि चार-छः महीनों में ऐसा विराट् और इतना सफल विश्व सम्मेलन हो सका।

एक दूसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि सारा वातावरण भारतीय था। प्रतिनिधि आवासों में पहुंचने पर अतिथियों का स्वागत भारतीय शहनाई से होता था। प्रत्येक दिन कार्यारंभ के पूर्व और अंत में जो गान गाये जाते थे। वे वेदों से लेकर देश की अनेक भाषाओं के संतों के थे और वे समयानुकूल ही नहीं, बड़े मर्मस्पर्शी भी थे। उनको हिंदी और अंग्रेजी अनुवादों सहित छपाकर वितरित भी किया गया था। हमें केवल एक शिकायत रही। तुलसीदासजी का जो अंश (वर्षाऋतु-वर्णन) गाया गया वह उस समारोह के अनुकूल न था। उसके बदले यदि उनके 'रामराज्य' या 'धर्मरथ' का गायन होता तो अधिक उपयुक्त होता। सम्मान-समारोह उपराष्ट्रपति के द्वारा पूरी भारतीय रीति से हुआ।

आयोजकों का अनुमान था कि सम्मेलन में दो हजार प्रतिनिधि आयेंगे, किंतु आये प्रायः साढ़े तीन हजार। हमें भी ऐसे आयोजन करने का कुछ अनुभव है और जब अनुमान से प्रायः दुगने लोग आ जायें तब आवास, भोजन आदि के प्रबंध में जो कठिनाइयां होती हैं उनकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। किंतु धन्य है उन आयोजकों की सूझबूझ और कार्य-तत्परता को कि अधिकांश प्रतिनिधियों को मालूम ही नहीं हो पाया कि आयोजकों के सामने ये अपार कठिनाइयां थीं। उन्होंने जिस सफलता और खूबसूरती से उन्हें सुलझाया उसकी प्रशंसा के लिए हमारे पास शब्द नहीं हैं।

इतने बड़े सम्मेलन में बीस-पचीस विघ्नसंतोषियों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वे सम्मेलन के आदर्श और उद्देश्यों से प्रेरित नहीं थे—वे

'वादों' से पीड़ित थे और हिंदी के उस सार्वदेशिक मंच का उपयोग वे अपने 'वादों' के प्रचार के लिए करना चाहते थे। कुछ हिंदी वाले यह भूल गये कि वे स्वयं आतिथेय हैं क्योंकि वह सम्मेलन हिंदी का है। विदेश से आने वाले हमारे अतिथि हैं। वे अपने को मेहमान समझने के कारण छोटी-मोटी असुविधाओं को शांतिपूर्वक सहन नहीं कर सके। इतने बड़े सम्मेलन में सभी महत्त्वपूर्ण आगत लोगों का बोलने का अवसर नहीं मिल सकता। हिंदी के कितने ही मूर्धन्य विद्वानों को यह अवसर नहीं मिला। इससे उनका खिन्न होना स्वाभाविक था। किंतु हिंदी साहित्यकारों के प्रतिनिधि के रूप में श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रेरक उद्बोधन ने हिंदी साहित्यकारों का प्रतिनिधित्व पूर्णरूप से कर दिया। 'सर्वेपदा हस्तिपदे निमग्ना'।

उस समय महाराष्ट्र सरकार—विशेषकर उसके मुख्यमंत्री श्री नायक—ने अपूर्व सहयोग और सहायता देकर इस सम्मेलन को सफल बनाने में जो योगदान दिया उसके लिए महाराष्ट्र सरकार, श्री नायक और महाराष्ट्र की जनता के प्रति कृतज्ञता-प्रदर्शन के उचित शब्द हमारे पास नहीं हैं। हिंदी-प्रचार और देश की एकता के प्रयास में उनका यह कार्य भारत के सांस्कृतिक इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा।

घड़ी में अनेक पुर्जे होते हैं। सभी मिलकर उसे ठीक तरह से चलाने में सहायक होते हैं। किंतु उसका मुख्य पुर्जा 'बालकमानी' होता है। वह सब पुर्जों को परिचालित करती है। इस सम्मेलनरूपी घड़ी को इतने सुचारु रूप से चलाने की बालकमानी इसके महासचिव श्री अनन्त गोपाल शेवड़े थे। हम उन्हें हिंदी के उपन्यासकार के रूप में जानते थे, किंतु उनमें इतनी उच्च संगठन शक्ति छिपी है, यह हमारे लिए आश्चर्यजनक और हर्षप्रद नवीन ज्ञान था। उसका रहस्य उनका दृढ संकल्प, सहयोगियों से सद्भावनापूर्वक सहयोग लेने की शक्ति, ईश्वर में अटूट विश्वास था जिसने बड़ी-से-बड़ी कठिनाई में भी उन्हें विचलित नहीं किया। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि यद्यपि उसका आरंभ महाराष्ट्र प्रचार समिति ने किया था तथापि उसकी सफलता का सारा श्रेय उन्हीं को है।

हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि की श्री शेवड़ेजी की इस महान् सेवा के लिए राजर्षि टण्डन द्वारा स्थापित उत्तर प्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन ने अम-रोहा (मुरादाबाद) में एक विशेष अधिवेशन कर उनका सम्मान और अभि-नंदन करने करने का निश्चय किया है। वर्तमान अध्यक्ष श्री भगवतीचरण वर्मा ने इस विशेष अधिवेशन की अध्यक्षता करने के लिए सम्मेलन के भूत-पूर्व अध्यक्ष और केंद्रीय रेलमंत्री पंडित कमलापति त्रिपाठी से आग्रह किया है। अमरोहा में स्वागत समिति बन गयी है और उसकी तिथि माननीय पंडित

कमलापति त्रिपाठी और शेवड़ेजी से परामर्श कर उनकी सुविधा का ध्यान कर निश्चित करके प्रकाशित कर दी जायेगी। हमें विश्वास है कि विश्व हिंदी सम्मेलन को इतनी सफलता से संपन्न कर हिंदी की अपूर्व सेवा करने के लिए श्री शेवड़े के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उस विशेष आयोजन में हिंदी के विद्वान, साहित्यकार और हिंदी-प्रेमी बड़ी संख्या में उपस्थित होंगे।

युनेस्को और हिंदी : विश्व हिंदी सम्मेलन में तीस से अधिक देशों के प्रतिनिधि आये थे, जिनकी संख्या तीन सौ से अधिक थी। किंतु इनके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) ने भी प्रतिनिधि के रूप में अपने उपनिदेशक को भेजकर उस सम्मेलन के महत्त्व को स्वीकार किया था। उन्होंने अपने भाषण का आरंभ और अंत हिंदी वाक्यों से किया, यद्यपि उनका भाषण अंग्रेजी में था क्योंकि वे हिंदी नहीं जानते थे। उन्होंने बतलाया कि संसार के अन्य देशों में हिंदी साहित्य का परिचय देने के लिए उस संगठन ने हिंदी साहित्य का परिचय देने के लिए उस संगठन ने हिंदी की पुस्तक का कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद करने का कार्यक्रम बनाया है। इसके अतिरिक्त वह हिंदी में भी पुस्तकें प्रकाशित करता है। अब तक उसने तकनीकी तथा अन्य विषयों में ३८ पुस्तकें प्रकाशित की हैं और १५ अन्य पुस्तकें प्रकाशित कर रहा है। यदि भारत प्रयास करे तो राष्ट्रसंघ में हिंदी को अपने कार्य की पांच भाषाओं में स्थान दिला सकेगा।

परिशिष्ट

श्रद्धांजलियां

१९५५ महाराणा भूपालसिंह
अमरनाथ झा
गांगेय नरोत्तम शास्त्री
श्रीकृष्ण जाजू
१९५६ केशव प्रसाद पाठक
श्रीराम वाजपेयी
मूलचंद अग्रवाल
ललिताप्रसाद शुक्ल
मेघनाद साहा
आचार्य नरेन्द्र देव
श्री अनन्तशयनम् आयंगार
काशी के बलदेव प्रसाद मिश्र
श्री हरि गोविल
महाराज वीरसिंह भूदेव, जून १९७६
१९५७ डा० अंबेडकर
कन्हैयालाल पोद्दार
रविशंकर शुक्ल
क्षितेन्द्र बाबू (माया)
बाला साहब खेर
हितैषीजी
भाई वीरसिंह
ब्रजेशजी
अनुग्रह नारायण सिंह
कुंअर सर जगदीश प्रसाद

[illegible]

भास्कर भालेराव

जानकी प्रसाद पुरोहित

बाबा राघवदास

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

चन्द्रबली पाण्डेय

महाकवि वल्लतोल

सर जदुनाथ सरकार

एन० सी० मेहता

रूपनारायण पाण्डेय

केदारनाथ भट्ट

डॉ० भगवानदास

१९५९ न्यायमूर्ति ब्रजकिशोर चतुर्वेदी

गोकुलचन्द्र शर्मा

द्विजेशजी (बलराम मिश्र)

कृष्णबिहारी मिश्र

गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश

प्रणवेशजी

गोस्वामी गणेशदत्त

प्रभातकुमार तिवारी

नाथूराम माहौर

लोचन प्रसाद पाण्डेय

१९६० देवीप्रसाद शुक्ल

लक्ष्मण नारायण गर्दे

वचनेशजी

इतिहासकार सरदेसाई

नाथूराम प्रेमी

चतुरसेन शास्त्री

आचार्य क्षिति मोहन सेन

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

राजशेखर बाबू, मई १९६०

राष्ट्र-कलाकार आचार्य नन्दलाल बसु

इन्द्र विद्यावाचस्पति

जिगर मुरादाबादी

डा० विश्वेश्वरैया
ठाकुर गोपालशरण सिंह
एयर मार्शल मुकर्जी
१९६१ परशुराम कृष्ण गोडे
मनोवैज्ञानिक युंग
गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'
दुगवेकरजी
नलिन विलोचन शर्मा
अंबिकेशजी
निराला
भोलानाथ शर्मा
तोरणदेवी 'लली'
अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
श्रीकृष्णसिंह
दयाशंकर दुबे
गोविन्द मालवीय
गोविन्दवल्लभ पन्त
दशरथ प्रसाद द्विवेदी
डा० गोरख प्रसाद
१९६२ स्वामी सत्यदेव परिव्राजक
रामनरेश त्रिपाठी
सजनीकान्त दास
डा० विश्वेश्वरैया
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
डा० विधानचन्द्र राय
रांगेय राघव
नरदेव शास्त्री
डा० कर्वे
सुखसंपतिराय भंडारी
१९६३ अन्नपूर्णानन्द
आचार्य शिवपूजन सहाय
देशरत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद
ब्रजमोहन व्यास
सियारामशरण गुप्त

गुलाब राय
गोपालसिंह नेपाली
महापंडित राहुल सांकृत्यायन
डा० रघुवीर
राधेश्याम कथावाचक
राष्ट्रपति कैनेडी

१९६४ असित हालदार
सर लक्ष्मीपति मिश्र
हरिनारायण आप्टे
भैरवनाथ झा
पंडित जवाहरलाल नेहरू
योगेन्द्रनाथ गुप्त
मामा वरेरकर
गजानन माधव मुक्तिबोध
ज़हूर बख़्श

१९६५ राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त
विन्स्टन चर्चिल
गोस्वामी बिन्दुजी
भवानीप्रसाद मिश्र
वेंकटेश नारायण तिवारी
बलवंतराय मेहता
कार्बुसियर
मदनगोपाल सिंघवी

१९६६ लालबहादुर शास्त्री
काका गाडगिल
देवीशंकर अवस्थी
अनूप शर्मा
होमी भाभा
ब्रजरत्नदास
विश्वेश्वरनाथ रेऊ
वीर सावरकर
मार्गरेट सेंगर
लेखनाथ पौआल (नेपाल के राजकवि)
उदयशंकर भट्ट

हरिसाधन बोस
गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
वासुदेवशरण अग्रवाल
सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर
उषादेवी मित्र,
डा० कालीदास नाग
१९६७ डा० पाण्डुरंग सदाशिव खानखोजे
जुगलकिशोर बिड़ला
बाल गंधर्व
नन्द दुलारे वाजपेयी
शान्तिप्रिय द्विवेदी
राममनोहर लोहिया
डा० हेमचन्द जोशी
१९६८ जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल
सुदर्शन
माखनलाल चतुर्वेदी
लोकनायक अणे
उग्रजी
भोलानाथ झा
कैलाशनाथ काटजू
दीनदयालु उपाध्याय
हरिशंकर शर्मा
डा० किंग (अमरीकन नीग्रो नेता)
राबर्ट कैनेडी
श्रीकृष्णदत्त पालीवाल
वेदमूर्ति सातवलेकर
गंगाप्रसाद उपाध्याय
रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी
संत तुकड़ोजी
मनोहरदास चतुर्वेदी
ब्रिजलाल बियाणी
मोहनवल्लभ पंत
ललित कुमार सिंह 'नटवर'
१९६९ डा० सम्पूर्णानन्द

वृन्दावनलाल वर्मा
मगनभाई देसाई
रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'
राष्ट्रपति आइसनहॉवर
आचार्य अत्रे
राष्ट्रपति हो ची मिह्न
रामचंद्र वर्मा
अन्नादुराई
सत्यनारायण शास्त्री (आयुर्वेदाचार्य)
सोमपुरा
दीनदयाल गुप्त
माताप्रसाद गुप्त
१९७० बर्ट्रेण्ड रसल
पनिपल्ली गोविन्द मैनन
महाराज सवाई मानसिंह
राष्ट्रपति सुकर्णो
श्री त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती महाराज
प्रोफेसर चन्द्रहासन
राष्ट्रपति नासिर
ब्रजशंकर वर्मा
हृषिकेश चतुर्वेदी
जनरल दि गॉल
हरिप्रसन्न घोष
सर सी० वी० रामन्
१९७१ शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'
प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त
नारायण गंगोपाध्याय
कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
नवलकिशोर गुप्त
कुंभकोणम् महालिंगम्
हनुमानप्रसाद पोद्दार (भाईजी)
राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह
डा० राजबली पाण्डेय
रामलोचन शरण बिहारी

देवीदत्त शुक्ल
श्रीप्रकाश
ताराशंकर वंद्योपाध्याय
रामचरित पाण्डेय
रामचन्द्र टंडन
डा० राम अवध द्विवेदी
पदुमलाल पुन्नालाल बक्षी
१९७२ मोहनसिंह सेंगर
विक्रम साराभाई
गंगाशंकर मिश्र
भारतरत्न डा० काणे
जामिनी राय
गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'
कश्यप कृष्ण शर्मा
हरिभाऊ उपाध्याय (दा साहब)
उस्ताद अलाउद्दीन ख़ां
हरिभूषण घोष
कान्तानाथ पाण्डेय
मेजर सीताराम जौहरी
चक्रवर्ती राजगोपालाचारी
मोहन राकेश
१९७३ गजाधर सोमानी
सद्गुरुशरण अवस्थी
डा० धीरेन्द्र वर्मा
प्रेमनारायण टंडन
महेन्द्रजी (आगरा)
भगवतीप्रसाद वाजपेयी
मोहनकुमार मंगलम्
गुरु गोलवलकर जी
सज्जाद ज़हीर
१९७४ विश्वंभर सहाय प्रेमी
हरिकृष्ण प्रेमी
पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय
रामधारीसिंह 'दिनकर'

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
सेठ गोविंददास
कृष्णा मेनन
१९७५ डा० मोतीचन्द
क्षितीश कुमार मजूमदार
डा० राधाकृष्णन्
चियांग काई शेक
बालकृष्ण राव
प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री
डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
श्रीमती रमा जैन
दुलारेलाल भार्गव
कन्हैयालाल मिश्र (एडवोकेट)
श्रीगोपाल नेवटिया
रामबालक शास्त्री
कामराज नाडर

जयंतियां

लोकमान्य की प्रथम जन्मशती
कर्वेजी की जन्मशती
रेडियो में लार्ड मैकाले की जन्मशती (१९६०)
आचार्य प्रफुल्लचन्द राय की जन्मशती (१९६१)
महामना मालवीय जी की जन्मशती (१९६१)
पं० मोतीलाल नेहरू की जन्मशती (१९६१)
रवीन्द्र शती जयंती (१९६५)
बहादुरशाह ज़फ़र की जन्मशती (१९६५)
प्रो० गज्जर की जन्मशती (१९६३)
गौरीशंकर हीराचंद ओझा की जन्मशती (१९६३)
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्मशती (१९६४)
शेक्सपियर की चतुर्थ जन्मशती (१९६४)

महारानी दुर्गावती की वीरगति का ४००वां वर्ष (१९६४)
पंजाब केसरी लाला लाजपतराय की जन्मशती (१९६५)
रामानन्द चटर्जी की जन्मशती (१९६५)
इटली के महाकवि दान्ते की ७००वीं जयंती (१९६५)
बालमुकुन्द की जन्मशती (१९६५)
गोपाल कृष्ण गोखले की जन्मशती (१९६६)
इलाहाबाद हाईकोर्ट की शताब्दी (१९६६)
गुरु गोविन्दसिंह की तीसरी जन्मशती (१९६७)
मैक्सिम गोर्की की जन्मशती (१९६८)
महात्मा गांधी की जन्मशती (१९६८)
कोचीन के यहूदी उपासनागृह की चौथी शताब्दी (१९६८)
गुरु नानक के जन्म की ५००वीं जयंती (१९६९)
राष्ट्रसंघ की रजत जयंती (१९७०)
'आज' की स्वर्ण जयंती (१९७०)
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की जयंती (१९७०)
पुरातत्व विभाग की प्रथम जन्मशती (१९७१)
दीनबन्धु ऐण्ड्र्यूज़ की जन्मशती (१९७१)
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्वर्ण जयंती (१९७१)
विष्णु दिगंबर पुलस्कर की जन्मशती (१९७१)
ईरान साम्राज्य के, २५०० वर्ष (१९७१)
राजा राममोहनन राय की द्वितीय जन्मशती (१९७२)
स्वतंत्रता की रजत जयंती (१९७२)
महात्मा अरविंद की जन्मशती (१९७२)
मैक्समूलर की १५०वीं वर्षगांठ (१९७६)
मानस चतुश्शती (१९७४)
छत्रपति शिवाजी के राज्यारोहण का ३००वां वर्ष (१९७४)
भगवान महावीर के निर्वाण का २५००वां वर्ष (१९७४)

●